053

॥ श्रीहरिः ॥

भागवतरत्न प्रह्लाद

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

लेखक—
चतुर्वेदी पं० श्रीद्वारकाप्रसाद शर्मा
साहित्यभूषण, एम्०, आर्० ए० एस्०
पं० श्रीइन्द्रनारायण द्विवेदी

गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०६६ दसवाँ पुनर्मुद्रण   २,०००
कुल मुद्रण   ३९,८५०

❖ मूल्य—१८ रु०
(अठारह रुपये)

ISBN 81-293-0207-1

प्रकाशक एवं मुद्रक—
गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
(गोबिन्दभवन-कार्यालय, कोलकाता का संस्थान)
फोन : (०५५१) २३३४७२१, २३३१२५०; फैक्स : (०५५१) २३३६९९७
e-mail : **booksales@gitapress.org**   website : **www.gitapress.org**

[53] भ० र० प्र० 1 B

ॐ

श्रीहरिः शरणम्

भागवतरत्न प्रह्लाद

प्रथम अध्याय

आविर्भावका समय

स्वजनवचनपुष्ट्यै निर्जराणां सुतुष्ट्यै
दितितनयविरुष्ट्यै दाससङ्क्लिष्टमुष्ट्यै।
झटिति नृहरिवेषं स्तम्भमालम्ब्य भेजे
स भवतु जगदीशः श्रीनिवासो मुदे नः॥

संसारके, विशेषकर भारतवर्षके गौरवस्वरूप, धार्मिक जगत्के सबसे बड़े आदर्श और आस्तिक आकाशके षोडश-कलापूर्ण चन्द्रमाके समान, हमारे चरित्रनायक भागवतरत्न प्रह्लादको कौन नहीं जानता? जिनके चरित्रको पढ़कर सांसारिक बन्धनसे मुक्ति पाना एक सरल काम प्रतीत होने लगता है, कराल कालकी महिमा एक तुच्छ-सी वस्तु प्रतीत होने लगती है और दृढ़ता एवं निश्चयात्मिका बुद्धिका प्रकाश स्पष्ट दिखलायी देने लगता है। आज हमको उन्हीं परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लादके आविर्भावके समयको अन्धकारमय ऐतिहासिक जगत्के बीचसे ढूँढ़ निकालना है। जिनकी भगवद्भक्तिकी महिमा गाँव-गाँव और घर-घरमें गायी जाती है, जिनकी कथाको आस्तिक और नास्तिक दोनों ही प्रेमसे पढ़ते और उनके पथानुगामी बननेकी चेष्टा करते हैं एवं जिनके वृत्तान्त संस्कृत-साहित्यमें, विशेषकर पौराणिक साहित्यकी प्रत्येक पुस्तकमें अनेक बार आते हैं, उन्हीं परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लादके आविर्भावका समय आज ऐतिहासिक जगत्के अन्धकारमें विलीन-सा हो रहा है—यह कैसे आश्चर्यकी बात है।

पश्चिमी सभ्यतासे प्रभावान्वित ऐतिहासिक युगमें, अनुमानके विमानमें बैठ दौड़ लगानेवालोंके विचारोंसे और उन विचारोंसे, जिनके अनुसार इतिहासों और

पुराणोंकी कौन कहे, अनादि, अकृत एवं अपौरुषेय वेदोंतककी रचनाका समय ईसवी सन्‌के आगे-पीछेकी शताब्दियोंमें निश्चय किया जाता है; हमारे चरित्रनायकके आविर्भावके समयका ठीक-ठीक निश्चय करना सहज काम न होनेपर भी असम्भव नहीं है। अत: हम प्रयत्न करेंगे कि भगवद्भक्तोंके हृदयको आह्लादित करनेवाले अपने चरित्रनायक परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लादके आविर्भावका ठीक-ठीक समय प्रामाणिक-रूपसे जहाँतक सम्भव हो ढूँढ़ निकालें। इसमें सन्देह नहीं कि जिसका वृत्तान्त जिस पुस्तकमें मिलेगा उसी पुस्तकके आधारपर निश्चय किया हुआ उसका समय भ्री सबसे अधिक माननीय और सत्यके समीप होगा। हमारे चरित्रनायक परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लादका वृत्तान्त जो अबतक मिलता है, वह पुराणों और महाभारतमें ही मिलता है। ऐसी दशामें हमको उनके आविर्भावका समय भी उन्हीं पुराणों और महाभारतके आधारपर ठीक-ठीक मिल सकता है। अतएव हम अन्यान्य साधनोंकी ओर समयका अपव्यय न करके तथा भारतवर्षके प्राचीन इतिहासकी अन्यान्य सामग्रियोंकी कालकोठरीमें न जाकर महाभारत और पौराणिक साहित्यके आधार-पर ही अपने चरित्रनायकके आविर्भावका समय निश्चय करनेकी चेष्टा करते हैं।

यह प्रसिद्ध बात है कि भगवान् श्रीनृसिंहजी महाराजका अवतार सत्ययुगमें हुआ था। यह भी सत्य है कि हिरण्यकशिपुके वध करने और हमारे चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लादके वचनको सत्य करने एवं देवताओंकी रक्षा करनेके लिये ही भगवान् नृसिंहने अवतार धारण किया था। ऐसी दशामें हमारे चरित्रनायकके आविर्भावका समय भी सत्ययुगका समय ही मानना होगा। अब विचारणीय बात यह है कि वह सत्ययुग था कौन-सा? क्योंकि भारतवासियोंके केवल विश्वास और पौराणिक प्रमाणोंके आधारपर ही नहीं, प्रत्युत समस्त संस्कृत-साहित्यके अनुसार जो कालमान बतलाया गया है, उसका बड़ा विस्तार है। सृष्टिका क्रम अनादि है और प्रत्येक ब्रह्माण्डकी सृष्टियोंका क्रम भी अनादि है। ब्रह्माण्ड भी अनन्त हैं और उनमें सृष्टियोंके करनेवाले ब्रह्मा भी असंख्य हैं। इस ब्रह्माण्डके रचयिता ब्रह्मा अपने एक सौ वर्षोंतक रहते हैं और उनके एक दिनको कल्प कहते हैं। एक कल्पमें एक सहस्र महायुग होते हैं, जिनको चौदह मन्वन्तरोंमें बाँटा जाता है। एक-एक मनुका मान एकहत्तर-एकहत्तर युगका होता है और वह युग चार युगोंका महायुग कहलाता है। प्रत्येक मनुकी सन्ध्या भी होती है जो एक सत्ययुगके मानके बराबर होती है, इसी प्रकार

कल्पके आदिमें भी सन्ध्या होती है और उसका मान भी सत्ययुगके समान ही होता है। एक महायुगमें जो चार युग होते हैं उनके क्रमशः नाम हैं—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग। कलियुगका मान हमारे चार लाख और बत्तीस सहस्त्र वर्षोंका होता है। कलियुगका दूना द्वापर, तिगुना त्रेता और चौगुना सत्ययुग होता है।

वर्तमान ब्रह्माके आयुका पूर्वार्ध अर्थात् उनके पचास वर्ष व्यतीत हो चुके हैं और उत्तरार्धके वर्षका इस समय पहला दिन है। पहले दिनके चौदह मनुओंमें इस समयतक छः मनु भी व्यतीत हो चुके हैं और सातवें वैवस्वत मनुके सत्ताईस चतुर्युग भी गत हो चुके हैं। अट्ठाईसवें चतुर्युगके सत्ययुग, त्रेतायुग और द्वापरयुग भी व्यतीत हो चुके हैं तथा वर्तमान कलियुगके भी ५०३१ वर्ष (संवत् १९८७ विक्रमीयमें) व्यतीत हो चुके हैं। ऐसी दशामें हमारे चरित्रनायकके आविर्भावका सत्ययुग कौन-सा सत्ययुग था—यही विचारणीय विषय है। हमारे चरित्रनायक प्रह्लादके पुत्रका नाम विरोचन था और विरोचनके पुत्रका नाम था बलि। राजा बलिके पुत्रका नाम 'वाण' था जो हमारे चरित्रनायकका प्रपौत्र था। रामायणकी कथासे यह पता चलता है कि वाण और रावण दोनों पराक्रमी योद्धा थे और समकालीन थे। वर्तमान वैवस्वत मनुके चौबीसवें त्रेतामें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अवतार हुआ था। अतएव श्रीमद्वाल्मीकिरामायणके मतानुसार यह सिद्ध होता है कि हमारे चरित्रनायकका आविर्भाव वर्तमान मनुके चौबीसवें सत्ययुगसे पीछे नहीं हुआ। श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्धके दसवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे पता चलता है कि भगवान् नृसिंहने दैत्यर्षि प्रह्लादको जो वर दिया था, उसके अनुसार उन्होंने तत्कालीन मनुके समयपर्यन्त राजभोग किया था और महाभारतसे यह भी विदित होता है कि द्विजवेषधारी इन्द्रके द्वारा शीलदानके पश्चात् हमारे चरित्रनायकके राजभोगका अन्त भी हो चुका है। अतएव यह सिद्ध होता है कि दैत्यर्षि प्रह्लादके आविर्भावका समय कम-से-कम वर्तमान वैवस्वत मनुके प्रथम, किसी दूसरे मन्वन्तरके किसी सत्ययुगका है। पुराणोंके द्वारा देवासुर-संग्रामका समय वर्तमान कल्पके छठे मन्वन्तरमें, जिनका चाक्षुष नाम था, सिद्ध होता है। देवासुर-संग्राम समुद्र-मन्थनके पश्चात् हुआ था और उस समय हमारे चरित्रनायकके पौत्र राजा बलिका शासनकाल था। इस प्रकार दैत्यर्षि प्रह्लादके आविर्भावका समय चाक्षुष मनुके समयमें निष्पन्न

होता है और '**इति षष्ठेऽत्र चत्वारो नृसिंहाद्याः प्रकीर्तिताः**' अर्थात् इस छठे (चाक्षुष) मन्वन्तरमें नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरि और मोहिनी—ये चार अवतार हुए। इस वचनके अनुसार यह निश्चय हो जाता है कि आजसे बहुसंख्यक युगोंके पूर्व चाक्षुष नामके मन्वन्तरमें और समुद्रमन्थनके पूर्व किसी सत्ययुगमें हमारे चरित्रनायक परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लादका पवित्र आविर्भाव और भक्तवत्सल भगवान्‌का नृसिंहावतार हुआ था।

आधुनिक युगके पाश्चात्त्य विद्वान् तथा उनके ही प्रभावसे प्रभावान्वित हमारे इतिहास-प्रेमी भारतीय विद्वान् भी, सम्भव है हमारे निकाले हुए भक्तशिरोमणि प्रह्लादके आविर्भाव-समयको सन्देहकी दृष्टिसे देखें और इसपर विश्वास न करें; किन्तु आस्तिक भारतवासियोंके सामने कोई ऐसा कारण नहीं है कि वे उस कालपर—जो उन्हीं ग्रन्थोंके आधारपर अवलम्बित है, जिनके आधारपर चरित्रनायकका पुनीत चरित्र—सन्देह करें। हम आशा करते हैं कि '**अर्धजरतीयन्याय**' को छोड़, लोग एक दृष्टिसे विचार करेंगे और पौराणिक साहित्यकी कथाओंके समयका निर्णय जबतक उसके विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण न मिले, पौराणिक प्रमाणोंके आधारपर ही मानेंगे।
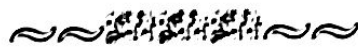
॥ श्रीहरिः॥

निवेदन

भक्त-जगत्‌में प्रह्लाद सर्वशिरोमणि माने जाते हैं। प्रह्लादकी भक्तिमें कहीं भी कामना, भय और मोहको स्थान नहीं है, उनकी भक्ति सर्वथा विशुद्ध, अनन्य और परम आदर्श है। उन्हीं प्रह्लादके चरित्रका दोनों विद्वान् लेखकोंने इस पुस्तकमें चित्रण किया है। आशा है भागवतरत्न प्रह्लादके आदर्श जीवनसे भारतके नर-नारी विशेष लाभ उठावेंगे।

प्रकाशक

'बेटा प्रह्लाद! कहाँ तो तेरा कोमल शरीर और तेरी सुकुमार अवस्था और कहाँ उस उन्मत्तके द्वारा की हुई तुझपर दारुण यातनाएँ। ओह! यह कैसा अभूतपूर्व प्रसंग देखनेमें आया। प्रिय वत्स! मुझे आनेमें यदि देर हो गयी हो तो तू मुझपर क्षमा कर।'

—भगवान् श्रीनृसिंहदेव

॥ श्रीहरिः॥

विषय-सूची

हैं इसमें भी कोई अत्युक्ति नहीं। इसी आधारपर एक विचारशील इतिहासज्ञ विद्वान्‌ने लिखा है कि महर्षि कश्यपका मुख्य स्थान था पंजाबमें। इनके नगरका नाम था 'मूलस्थान'; क्योंकि मूलपुरुषका जो स्थान हो, उसको मूलस्थान कहना उचित ही है*। इस समय इस नगरको लोग कुछ अपभ्रंशके रूपमें 'मुलतान' कहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'मुलतान' नगर पंजाबका एक प्रसिद्ध और प्राचीनतम नगर है और इसके पुराने किलेके भीतर एक छिन्न-भिन्न स्थान है जिसको आज भी 'प्रह्लादपुरी' के नामसे लोग पुकारते हैं। इतना ही नहीं, इसी खँडहरमें एक अति प्राचीन विशाल नृसिंह-मन्दिरका भग्नावशिष्ट चिह्न आज भी विद्यमान है। आधुनिक इतिहासके देखनेसे पता चलता है कि जिस समय सिक्खोंके विरुद्ध 'मुलतान' नगर और उसके किलेपर सन् १८४८-४९ ई० में आक्रमण किया गया था, उसी समय यह पवित्रतम और प्राचीनतम प्रह्लादपुरी एवं नृसिंह-मन्दिर बारूदसे उड़ा दिये गये थे। जिस प्राचीनतम भगवदवतारकी लीलाभूमिको और उसके स्मारकस्वरूप पवित्र प्रह्लादपुरी एवं नृसिंह-मन्दिरको महमूद गजनवी और औरंगजेब-जैसे मन्दिरों और मूर्तियोंके शत्रुओंने भी नहीं तोड़ा था, उसको धार्मिक निरपेक्षिताके उपासक शासकोंकी फौजने बारूदसे उड़ा दिया—यह भी उस भूमिकी एक विशेषता है। इस समय उक्त प्रह्लादपुरी एवं नृसिंह-मन्दिरके भग्नावशिष्ट चिह्न, अंग्रेजी सरकारके अधीन मुलतान-नगरके किलेके भीतर विद्यमान हैं।

प्राचीन इतिहाससे पता चलता है कि, मुलतान-नगर, ईसवी सन्‌के पूर्व ३२७ वर्षतक मालीजातिके शासकोंके अधीन था। जिस समय सिकन्दरने मुलतानपर चढ़ाई की और माली लोगोंसे उसकी फौजका घोर युद्ध हुआ था, उस समय सिकन्दरके शरीरमें एक गहरा घाव लगा था। बस फिर क्या था उसकी आज्ञासे सारे-का-सारा नगर नर-हत्यासे परिपूर्ण कर दिया गया और मालीजातिके आबाल-वृद्धवनिता कत्ल कर दिये गये। मालीजातिका अन्त करके सिकन्दरने ईसवी सन्‌से ३२७ वर्ष पूर्व मुलतानको अपने अधिकारमें कर लिया था। इसके पश्चात् इस नगरपर कुछ दिनोंतक यूनानियोंका और गुप्तवंशीय राजाओंका अधिकार रहा। फिर जिस समय सन् ६४१ ई० में चीनी यात्री ह्वेनसांग भारतमें आया था, उस समय उसने

* पद्मपुराणके अनुसार इस स्थानका नाम था 'मौलिस्थान' (पद्मपुराण खं० ३० अ० ६१)।

मुलतानके किलेके पश्चिमीय फाटकके पासके भगवान् भास्करके प्राचीनतम एवं सुविशाल मन्दिरमें भगवान् सूर्यकी सुवर्णकी एक विशाल मूर्ति देखी थी। उसीको तुड़वाकर मुलतानमें पामर औरगंजेबने जामा मसजिद बनवायी थी और जिस समय सिक्खोंने उसको अपने अधिकारमें किया, उस समय उसको उन्होंने अपनी सेनाकी मेगजीन रखनेका स्थान बना लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं, वह प्राचीन भास्कर-मन्दिर महर्षि कश्यपके उपास्यदेवका स्थान था और वह स्वर्णमयी विशाल मूर्ति उनके उपास्यदेव सूर्यभगवान्की थी।

यद्यपि 'मुलतान' नगर पाश्चात्त्य अत्याचारियोंके आक्रमणका मुख्य स्थान था और कम-से-कम सिकन्दरके समयसे उसपर विधर्मियोंके बराबर आक्रमण होते आये हैं; ऐसी दशामें वहाँ यदि हमारे धार्मिक स्थानोंका नाम व निशान शेष न रहता तो कोई आश्चर्यकी बात न थी; तथापि आजतक किलेके भीतर प्रह्लादपुरीका तथा नृसिंह-मन्दिरका भग्नावशेष चिह्न मौजूद है। सूर्य-मन्दिरके स्थानका ज्ञान आज भी बना है और नगरमें आज भी एक विशाल नृसिंह-मन्दिर है, जिसमें विष्णुद्रोही अत्याचारी दैत्य हिरण्यकशिपुका उदर विदीर्ण करते हुए भगवान् श्रीनृसिंहजी विग्रहके रूपमें विद्यमान हैं। यह विग्रह अत्याचारी दैत्यकी कथाका स्मरण दिलाकर धर्मप्राण भारतवासियोंको धार्मिक दृढ़ता, अनन्य भगवद्भक्ति और कष्टसहिष्णुताकी शिक्षा दे रहा है। आज भी इस नगरमें वैशाख शुक्ला १४ को नृसिंहजयन्तीका महोत्सव मनाया जाता है और उस दिन एक बहुत बड़ा मेला होता है। ये सब बातें कम सन्तोषजनक नहीं है। सन् १००५ ई० में महमूद गजनवीने मुलतानको जब अपने अधिकारमें कर लिया था, तबसे बराबर इसपर मुसलमानोंका अधिकार था; किन्तु सन् १८१८ ई० में जिस समय वीरवर रणजीतसिंहका डंका न केवल पंजाबमें प्रत्युत काबुलतक बजने लगा, तब मुलतानको भी उन्होंने मुसलमानोंके हाथोंसे छीन लिया था! रणबाँकुरे रणजीतसिंहका शरीरान्त हो जानेपर देशके दुर्भाग्यवश सिक्खजातिमें परस्पर कलह उठ खड़े होनेके कारण मुलतान फिर हिन्दुओंके हाथोंसे निकल गया। मुलतानका गवर्नर मूलराज अंग्रेजी सरकारसे बगावत करनेके अपराधमें पकड़ा गया और उसको कालेपानीकी सजा दी गयी। किन्तु वह मार्गमें ही मर गया और उस समयसे

अर्थात् २ जनवरी सन् १८४९ ई० से इस नगर और किलेपर अंग्रेजी सरकारका अधिकार चला आता है। हम आशा करते हैं कि धार्मिक भारतवासी वर्तमान समयकी धार्मिक स्वतन्त्रतासे लाभ उठा अपने इस प्राचीनतम तीर्थ और अपने भगवदवतारकी इस लीलाभूमिका तथा प्रह्लादपुरी, नृसिंह-मन्दिर एवं सूर्य-मन्दिरका पुनः निर्माण कराकर अपने कर्तव्यका पालन करेंगे।

प्राचीनतम समयकी घटना होनेपर भी आज हम प्रह्लादकी कथाको भूले नहीं हैं। देशभरमें गाँव-गाँव और घर-घरमें अत्याचारी दैत्य हिरण्यकशिपु और परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लादकी कथाकी चर्चा हुआ ही करती है। अतएव यदि आज भी हम अपने चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लादकी लीलाभूमिको भी नहीं भूले हैं तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। फिर भी हमको चाहिये कि जान-बूझकर हम उनको भुला देनेकी भूल न करें और उसकी ओर शीघ्रातिशीघ्र ध्यान दें। उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान समयका मुलतान-नगर जो पंजाबका एक प्रसिद्ध नगर है, हमारे महर्षि कश्यपकी प्राचीनकालीन कश्यपपुरी है। इसको प्राचीन कालके लोग 'मूलस्थान'के नामसे पुकारते थे। इसी मूलस्थानको कदाचित् लोग हिरण्यपुर भी कहते थे और इसीके अन्तर्गत किलेके भीतर हमारे चरित्रनायककी लीलाभूमि 'प्रह्लादपुरी' थी, जो इस समय अपने खँडहरोंको दिखलाकर भगवान् श्रीनृसिंहजीका आवाहन कर रही है। सम्भव है, इस सम्बन्धमें समय पाकर कुछ और अधिक बातें प्रकट हों; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हमारे चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लादकी लीलाभूमि आधुनिक मुलतान ही है।
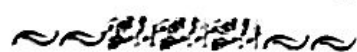
तृतीय अध्याय

वंशपरिचय

भारतवर्षके ही नहीं, सारे संसारके इतिहासमें सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वंश यदि कोई माना जा सकता है, तो वह हमारे चरित्रनायक परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लादका ही वंश है। सृष्टिके आदिसे आजतक न जाने कितने वंशोंका विस्तार पुराणों और इतिहासोंमें वर्णित है; किन्तु जिस वंशमें हमारे चरित्रनायकका आविर्भाव हुआ है, उसकी कुछ और ही बात है। इस वंशके समान महत्त्व रखनेवाला अबतक कोई दूसरा वंश नहीं हुआ और विश्वास है कि भविष्यमें भी ऐसा कोई वंश कदाचित् न हो।

जिस वंशके मूलपुरुष नारायणके नाभि-कमलसे उत्पन्न जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीके पौत्र और महर्षि 'मरीचि' के सुपुत्र स्थावर-जङ्गम सभी प्रकारकी सृष्टियोंके जन्मदाता ऋषिराज 'कश्यप' हों, उस वंशके महत्त्वकी तुलना करनेवाला संसारमें कौन वंश हो सकता है? क्या ऐसे प्रशंसित वंशके परिचयकी भी आवश्यकता है? फिर भी आज हम इस वंशका परिचय देनेके लिये जो प्रयत्न करते हैं, क्या यह अनावश्यक अथवा व्यर्थ है? नहीं; इस वंशका परिचय देना परम आवश्यक और उपादेय है।

जिस प्रात:स्मरणीय वंशमें एक नहीं अनेक भगवत्पार्षदोंके पवित्र अवतार हुए हैं, जिस वंशमें हमारे चरित्रनायक-जैसे परमभागवतोंका आविर्भाव हुआ है और जिस वंशके पुण्यात्माओंके सम्बन्धसे एक-दो बार नहीं, कितनी ही बार भक्तवत्सल भगवान् लक्ष्मीनारायणको अवतार धारण करना पड़ा है, उस वंशका परिचय कराना, उस वंशका परिचय देनेके लिये नहीं, प्रत्युत पतित-पामर नर-नारियोंके उद्धारके लिये, अपनी लेखनीको सफल एवं पवित्र बनानेके लिये और भगवच्चरित्रकी चर्चा करने तथा उसके द्वारा अपने मानव-जीवनको सफल बनानेके लिये ही है।

हमारे चरित्रनायकका आविर्भाव जिस वंशमें हुआ है यद्यपि वह पवित्र ब्राह्मण-वंश है और इसी कारणसे आचार्योंने प्रह्लादको समझाते समय कहा था कि

'आप पवित्र ब्राह्मणकुलमें जन्मे हैं, आपको पिताकी आज्ञाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये' तथापि इस वंशका परिचय संस्कृत-साहित्यमें दैत्यवंशके नामसे दिया गया है। हमारे चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लादका मातृकुल जम्भ-वंशका दानवकुल है और पितृवंश दैत्यवंश*। प्रह्लादजीके पिता परमप्रतापी हिरण्यकशिपुको ही हम आदिदैत्य कह सकते हैं, क्योंकि भगवान् लक्ष्मीनारायणके नाभि-कमलसे ब्रह्मा और ब्रह्माके मानसपुत्र मरीचि आदि महर्षि हुए थे। उन्हीं महर्षि मरीचिके पुत्र कश्यपजी थे, जिनकी १७ स्त्रियोंमें अन्यतम स्त्री 'दिति' थी, जो दक्षप्रजापतिकी कन्या थी। इस 'दिति' के गर्भसे महर्षि कश्यपके परमप्रतापी प्रथम दो पुत्र हुए, जिनका क्रमशः नाम था हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष। 'दिति' के गर्भसे उत्पन्न होनेके कारण इन दोनों भाइयोंको दैत्य कहा गया है और इनका जो वंश-विस्तार हुआ वही दैत्य-वंशके नामसे विख्यात है। वे ही 'हिरण्यकशिपु' हमारे चरित्र-नायक दैत्यर्षि प्रह्लादके जन्मदाता पिता थे और 'जम्भ' नामक दैत्यकी पुत्री महारानी 'कयाधू' माता थीं।

अधिकांश पुराणोंके मतसे परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लादजी चार भाई थे और उनके एक बहिन भी थी। श्रीमद्भागवत (स्क० ६ अ० १८ श्लोक १३) के अनुसार चारों भाइयोंके नाम थे—'संह्लाद, अनुह्लाद, प्रह्लाद और ह्लाद।' बहिनका नाम था 'सिंहिका' जिसका विवाह 'विप्रचित्ति' नामक दैत्यके साथ हुआ था और उसीके गर्भसे 'राहु' नामक दैत्य उत्पन्न हुआ था। यह वही राहु है जिसने अमृत-मन्थनके पश्चात् देवताका बनावटी रूप रख और देवताओंकी पङ्क्तिमें बैठकर अमृतपान कर लिया था एवं जिसका सिर भगवान्ने काट डाला था, किन्तु अमृतके प्रभावसे उसकी मृत्यु नहीं हुई और सिर एवं धड़ दो सजीव भाग हो गये। इन दो भागोंमेंसे एकका नाम राहु और दूसरेका नाम केतु पड़ा। ये दोनों राहु और केतु आज भी ज्योतिषशास्त्रमें उपग्रहके नामसे तथा लोकमें नवग्रहोंके अभ्यन्तर ग्रह माने जाते हैं। किन्तु विष्णुधर्मोत्तरपुराण (प्र० खं० अ० १२१ श्लो० ३) के अनुसार हमारे चरित्रनायकका एक भाई कालनेमि नामक महापराक्रमी दैत्य भी था। यह तारकासुरकी लड़ाईमें भगवान् वासुदेवके हाथोंसे

---

* पद्मपुराण-सृष्टिखण्डके ९३ वें अध्यायके अनुसार प्रह्लादजीकी माता उत्तानपादकी बेटी 'कल्याणी' थी।

मारा गया था। पद्मपुराणमें भी कालनेमिको दैत्यर्षि प्रह्लादका भाई लिखा है।*

बंगालमें अधिकतासे प्रचलित कृत्तिवासी रामायणके अनुसार 'कालनेमि' रावणका मामा था, जो लंकेश्वरके परामर्शसे उस समय जब हनुमान्‌जी विशल्यकरणी बूटी लेनेके लिये 'गन्धमादनपर्वत'को गये थे, कौशलपूर्वक हनुमान्‌जीको मारना चाहता था, किन्तु उसके विपरीत वह स्वयमेव उन्हींके हाथों मारा गया था। इसी प्रकार वाल्मीकिरामायण उत्तरकाण्डमें लिखा है कि विष्णुभगवान्‌के भयसे 'कालनेमि' लंकेश्वर रावणके मातामह सुमालीके साथ लंकासे भागकर पातालको चला गया था और वहीं रहने लगा था। बात कुछ भी हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हमारे चरित्रनायक चार नहीं, पाँच भाई थे और उनका नाम था 'संह्लाद, अनुह्लाद, प्रह्लाद, ह्लाद और कालनेमि' तथा एक बहिन थी, जिसका नाम था 'सिंहिका'। पुराणोंमें इस सम्बन्धमें भी मतभेद है कि प्रह्लाद अपने भाइयोंमें जेठे थे या छोटे थे अथवा मझिले थे। नामके अक्षरमें किसी स्थानपर लकारसहित 'ह्ला'का प्रयोग किया जाता है और किसी स्थानमें रकारसहित 'ह्रा' का। यद्यपि 'प्रह्राद' और 'प्रह्लाद' इन दोनों शब्दोंके अर्थमें सूक्ष्मतया अन्तर है तथापि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि दोनों ही शब्द एक ही व्यक्तिवाची हैं और वह व्यक्ति हैं हमारे चरित्रनायक परमभागवत दैत्यर्षि 'प्रह्लाद'। व्याकरणके अनुसार यदि '**रलयोः सावर्ण्यम्**' मान लें तो दोनों शब्दोंका भेद सर्वथा मिट सकता है। अतएव नामके सम्बन्धके विवादको हम अनावश्यक समझते हैं।

दैत्यर्षि प्रह्लादकी धर्मपत्नीका नाम 'सुवर्णा' था, इसको बंगाली लेखकोंने अपनी रुचिके अनुसार 'सुवर्णलता'के नामसे लिखा है। 'सुवर्णा' हिरण्यकशिपुके वृद्ध मन्त्री वज्रदन्त नामक असुरकी इकलौती लड़की थी, जो बड़ी ही साध्वी और पतिव्रता थी। सुवर्णा ही एकमात्र भार्या थी, जिसके गर्भसे परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लादके पाँच पुत्रोंके होनेकी बात कही जाती है। पुत्रोंके नाम और संख्यामें भी पुराणोंमें मतभेद है। महाभारतके उद्योगपर्वके ३५ वें अध्यायकी कथासे तो एकमात्र विरोचनका होना पाया जाता है। किसी-किसीके मतसे

---

* हरिवंशमें भी पाँच भाईका होना लिखा है, किन्तु नाममें भेद है। सम्भवतः उपनामके कारण भेद हो।

विरोचन और गविष्ठ दो पुत्रोंका होना पाया जाता है और किसीके मतसे गविष्ठको छोड़ दिया गया है और 'विरोचन', 'जम्भ'* एवं 'कुजम्भ' नामक तीन पुत्रोंका वर्णन है। पद्मपुराण-सृष्टिखण्डके छठें अध्यायके अनुसार चार पुत्र थे और उनके नाम थे 'आयुष्मान्', शिबि', 'बाष्कलि' और 'विरोचन'। विष्णुपुराण, हरिवंश, मत्स्यपुराण, पद्मपुराण और शिवपुराणकी कथाओंमें मतभेद है और दैत्यर्षि प्रह्लादके पुत्रोंकी संख्या और उनके नामोंके सम्बन्धमें भी मतभेद है। बात कुछ भी हो, किन्तु हमारे चरित्रनायकके दो पुत्रोंके सम्बन्धकी कथाओंका अधिक प्रमाण मिलता है, एक तो 'विरोचन'का जो अपने-आपको बड़ा ज्ञानी समझता था और बड़ा अभिमानी था। दूसरे गविष्ठ या गवेष्ठका जो बड़ा वीर था और जिसके ऊपर राज्यभार देकर हमारे चरित्रनायकने त्याग ग्रहण किया था। गविष्ठके शुम्भ और निशुम्भ नामके दो पुत्र थे, जो अपने प्रबल पराक्रमसे सारे संसारमें हलचल मचानेवाले थे, जिनकी कथाएँ पुराणोंमें विस्तृतरूपसे मिलती हैं।

विरोचनके एकमात्र पुत्र थे परमप्रतापी दानवीर 'राजा बलि'। जिनके प्रबल पराक्रमसे देवताओंके हृदय कम्पित रहते थे, जिनके यज्ञानुष्ठानसे देवराज इन्द्र घबड़ाया करते थे और जिन्होंने अपनी दानवीरतासे सारे साम्राज्यको भगवान् वामनके चरणोंमें अर्पण कर पातालका निवास स्वीकार कर लिया था। वे ही राजा बलि हमारे चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लादके पौत्र थे। राजा बलिके वाण आदि एक सौ पुत्र थे, जिनमें मुख्य-मुख्यके नाम हैं 'धृतराष्ट्र, 'सूर्य', 'विवस्वान्', 'अंशुतापन', 'निकुम्भ', 'गुर्वक्ष', 'कुली', 'भीम' और 'भीषण'। ज्येष्ठ पुत्र वाणको ही लोग वाणासुरके नामसे पुकारते हैं। उसके आगेके वंशका ठीक-ठीक पता नहीं चलता और न उसकी यहाँपर आवश्यकता ही प्रतीत होती है।

हिरण्याक्षकी भानुमती भार्यासे अन्धक नामक एक पुत्रकी उत्पत्ति लिखी है जो भगवान् शंकरके वरदानसे हुई थी। अन्धकका वंश-विस्तार तथा अन्यान्य दैत्योंके वंश-विस्तारकी कथाका वर्णन यहाँ न करके हम केवल यह अवश्य कहेंगे

---

* जम्भको कदाचित् भ्रमसे पं० श्रीरामगोविन्द त्रिवेदीजीने अपने लिखे राजर्षि प्रह्लादके नोटमें दैत्यर्षि प्रह्लादका पाँचवाँ भाई लिख दिया है।

कि इस दैत्यवंशके पुण्यात्माओंकी पवित्र कथाएँ पुकार-पुकारकर कहती हैं कि संसारमें इस वंशके लोगोंके समान भगवत्पार्षद, परमभागवत एवं न्यायपरायण दानवीर कोई नहीं हुआ और इस वंशके सम्बन्धसे जितने भगवदवतार हुए हैं, न उतने भगवदवतार ही किसी दूसरे वंशके सम्बन्धसे हुए हैं। इस वंशकी पूरी-पूरी कथाओंका उल्लेख करना इस छोटी-सी पुस्तिकामें असम्भव है, अतएव हमने साधारणत: एवं संक्षेपत: अपने चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लादके वंशका परिचय दे दिया है, जिसको स्मरण करके आज भी न जाने कितने भगवद्भक्त और भागवत-भक्त आनन्दके समुद्रमें गोते लगाते हैं और भक्तवत्सल भगवान् लक्ष्मीनारायणकी अहैतुकी कृपाके पात्र हो रहे हैं।

चतुर्थ अध्याय

पूर्वजन्मकी कथा

सृष्टिके आरम्भकालकी कथा है कि ब्रह्माजीके मानसपुत्र योगिराज सनक आदि चारों भाई एक समय भगवद्भक्तिके समुद्रमें गोते लगाते हुए तीनों लोक और चौदहों भुवनमें भ्रमण करते हुए आनन्दकन्द भगवान् लक्ष्मीनारायणकी लीलामयी अपार शोभासमन्विता 'वैकुण्ठपुरी'में जा पहुँचे। यद्यपि वैकुण्ठपुरीकी शोभा और सुषमाका वर्णन पुराणों और पाञ्चरात्र ग्रन्थोंमें विस्तारसे किया गया है, तथापि उसकी शोभा एवं सुषमा वर्णनातीत है। उसकी न तो तुलना हो सकती है और न उसके अलौकिक विषयोंका वर्णन लौकिक शब्दोंमें किया ही जा सकता है। अत: वैकुण्ठपुरीकी शोभा एवं सुषमाका वर्णन न करके, उसके 'नि:श्रेयसवन'की भी प्रशंसा न करके हम अपने चरित्रनायकके चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाली कुछ कथाओंका ही वर्णन करेंगे।

वैकुण्ठपुरीमें भगवान् लक्ष्मीनारायण जिस स्थानमें निवास करते हैं, उस स्थानके द्वारपाल 'जय' और 'विजय' नामके पुण्यश्लोक भगवान्‌के पार्षद हैं। जिस समय सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार चारों भाई भगवान् लक्ष्मीनारायणके निवासस्थानपर उपस्थित हुए उस समय एक विलक्षण घटना घटी। जिस वैकुण्ठपुरीमें स्वयं भगवान् जगन्माता महालक्ष्मीजीके सहित निवास करते हैं, जिस पुरीके सारे चराचर जीव निर्विकार और भगवन्मय हैं और भगवान्‌के जो पार्षद भगवत्स्वरूप गुणातीत हैं, उस पुरीके उस स्थानमें उन्हीं भगवान्‌के पार्षद 'जय' और 'विजय'में सहसा न जाने क्यों मानवी ही नहीं दानवी स्वभावकी छाया प्रतीत होने लगी और जो योगिराज अपने सरल एवं सुन्दर स्वभावके लिये आरम्भसे प्रसिद्ध हैं, जिनमें क्रोधादि विकारोंका अस्तित्व ही नहीं और जो सदैव पाँच वर्षके बालकके वेषमें रह तीनों लोक और चौदहों भुवनमें परिभ्रमण करते हुए न जाने कितने पतित-पामर प्राणियोंको अपने दर्शनोंसे कृतकृत्य किया करते हैं, उनके हृदयमें भी सहसा क्रोधकी ज्वाला धधक उठी, जिससे एक अघटित घटना हो गयी।

जिस समय योगिराज सनकादि महर्षि वैकुण्ठके द्वारपर पहुँचे, उस समय जय और विजयने उनको अभ्यन्तर प्रवेश करनेसे मना किया। इसमें सन्देह नहीं कि भगवत्प्रेरणासे जिस प्रकार महामाया प्रकृति देवी सारी सृष्टिकी रचना कर डालती है, मानव-जीवनके लिये उदाहरणस्वरूप दिव्य लीलाओंको दिखलाने लगती है और—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥

(सप्तशती-स्तोत्र 'मार्कण्डेयपुराण')

अर्थात् ज्ञानियोंके निर्विकार चित्तोंको भी वह महामाया भगवती (प्रकृति) देवी मोहमें डाल देती है। इस वचनके अनुसार ही निर्गुण एवं निर्विकार पुरीमें और भगवत्स्वरूप भगवान्‌के पार्षदोंमें यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि ये परमभागवत बालस्वरूप सनकादि महर्षि ब्रह्मण्यदेव भगवान् लक्ष्मीनारायणके परमप्रिय आराध्यदेव नहीं, साधारण छोकड़े हैं! और मोहवश उन्होंने उन महर्षियोंको अभ्यन्तर-प्रवेशसे रोक दिया। इतना ही नहीं, भगवान्‌की महामायाने, चराचरकी रचना करनेवाली प्रकृति देवीने, उन परमभागवत योगिराज सनकादिकोंको भी नहीं छोड़ा और उनकी योगशक्ति तथा भगवद्भक्तिको भी एक बार पछाड़ ही तो दिया। जय और विजय कोरे द्वारपाल ही न थे, प्रत्युत उनमें परमभागवत होनेके लक्षण भी विद्यमान थे, उन्हीं जय-विजयने योगिराज सनकादि महर्षियोंको भगवत्-मन्दिरमें प्रवेश करनेसे रोका। उस समय उन महर्षियोंके निर्विकार शरीरमें भी विकार उत्पन्न हो गया और परमभागवतोंके सिद्धान्त-वचन—

अहं तु नारायणदासदासदासस्य दासस्य च दासदासः।
अन्येभ्य ईशो जगतो नराणां तस्मादहं चान्यतरोऽस्मि लोके॥

अर्थात्—'मैं नारायणके दासके दासके दासके दासके दासका दास हूँ और भगवद्दासोंके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंका स्वामी हूँ अतएव लौकिक पुरुषोंसे विलक्षण मैं (भागवत) पुरुष हूँ'—का ध्यान नहीं रहा और क्रोधके वश हो महर्षियोंने भगवान्‌के द्वारपालोंको, भगवान्‌के पार्षदोंको शाप देकर महामाया प्रकृति देवीको विजय-माल पहना दी। महर्षियोंने कहा—'हे द्वारपालो! तुमलोग निर्विकार वैकुण्ठपुरीमें निवास

करनेके योग्य नहीं हो। भगवान्‌के चरण-कमलका रज तुमसे दूर है। क्योंकि इस सत्त्वगुणप्रधान धाममें, इस निर्विकार वैकुण्ठपुरीमें और भगवान्‌के सन्निधिवर्ती पार्षदोंमें ऐसा तमोगुण आ गया है कि तुमलोगोंने हमको पहचाना नहीं और साधारण बालकोंके समान हमलोगोंको भगवान्‌के दर्शन करनेसे रोक दिया है। ये बातें इस दिव्य देशकी नहीं और न भगवद्भक्तोंकी हैं। अतएव हे मूर्खो! तुमलोग शीघ्र ही इस वैकुण्ठधामसे भ्रष्ट होकर आसुरी योनियोंको प्राप्त होओ।' महर्षियोंके घोर शापको सुनकर द्वारपालोंके होश-हवास गुम हो गये। इस प्रकार महामायाने जब अपना काम कर डाला तब पुनः सभीके होश दुरुस्त हो गये, द्वारपाल शापको सुनकर थर-थर काँपने लगे और महर्षि भी शाप देकर चित्रलिखे-से हो गये। चारों ओर सन्नाटा छा गया और वैकुण्ठपुरीमें—शान्तिमयी वैकुण्ठपुरीमें अशान्तिमय शब्द सुनायी देने लगे। ज्यों ही शापका समाचार भक्तवत्सल भगवान्‌के कानोंमें पहुँचा त्यों ही भगवान् अपनी ब्रह्मण्यताका परिचय देते हुए महालक्ष्मीसहित पाँव-पियादे उसी स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ योगिराज सनकादि महर्षि खड़े थे।

जगन्माता महालक्ष्मीके सहित भगवान् नारायणको अपने सामने पाँव-पियादे आते देखकर महर्षियोंके हृदय मुग्ध हो गये, वे अतृप्त नयनोंसे एकटक उनके मधुर दर्शन करने लगे। भगवान्‌के वर्णनातीत शोभाधाम स्वरूपको देखकर, उनकी चतुर्भुजी मनोहर मूर्तिकी मन्द मुसकानकी छटाको निरखकर उस समय सभी लोग चित्रलिखे-से हो गये। सब-के-सब उपस्थित प्राणी, अलौकिक एवं अकथनीय आनन्दसागरमें डूबने लगे!

सनकादि महर्षियोंने आरम्भमें तो साष्टाङ्ग प्रणाम किया; किन्तु भगवान्‌के दर्शनोंसे उनकी तृप्ति नहीं हुई और उन्होंने एक साथ ही भगवान्‌के सम्पूर्ण अङ्गोंके दर्शन करनेके लिये समाधि लगा ली और दिव्य दृष्टिद्वारा वे भगवान्‌के विराट् रूपका दर्शन करने लगे। इच्छानुसार दर्शन कर लेनेके पश्चात् महर्षियोंने भगवान्‌की स्तुति आरम्भ की। सनकादि महर्षियोंने कहा—'हे दयामय, जगदाधार, सर्वान्तर्यामी परमात्मन्! आपकी महिमा अपार है। मनुष्य आपकी मायाका पार नहीं पा सकते और न आपके सर्वव्यापी सुन्दर स्वरूपको अपने चर्मचक्षुओंसे देख ही सकते हैं। विरले ही भाग्यवान् प्राणी होंगे, जो आपके इस अपूर्व दर्शनसे अपने-आपको

कृतकृत्य बनानेका अवसर प्राप्त करते हैं; किन्तु आज हमलोगोंपर आपकी अहैतुकी कृपा है, अपार अनुकम्पा है और न जाने हमलोगोंके कौन-से सुकृतका फल प्राप्त हुआ है, जो आपने हमलोगोंको अपने वास्तविक रूपका दर्शन दिया है। भगवन्! इसमें सन्देह नहीं कि आप सारे चराचरके स्वामी, सबके नियन्ता और सबके अन्तर्यामी हैं; फिर भी आपका यह अलौकिक स्वरूप, यह विराट् दर्शन, आपकी **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** की महिमा सहजमें नहीं समझ पड़ती। इसके लिये न जाने कितने ज्ञानीजन जन्म-जन्मान्तरतक तपस्याएँ करते और फिर भी सफल-मनोरथ नहीं होते हैं। नाथ! यद्यपि अद्यावधि हमलोगोंके हृदयमें कभी क्रोधका आविर्भाव नहीं हुआ था और इस महाशत्रुसे हमलोग बचे थे। हमलोगोंके हृदयकमलमें इस पापी क्रोधरूपी काँटेको कभी स्थान नहीं मिला था, किन्तु न जाने क्यों आज यह अघटित घटना हो गयी और हमलोगोंका हृदय सहसा क्रोधसे कलुषित हो गया। हृदयकमलमें क्रोधरूपी काँटे पैदा हो गये, अत: हमलोग बड़े ही चिन्तित हैं कि अपने स्वामीको, अपने आराध्यदेवको हृदयकमलमें कैसे स्थान दें। अपने हृदयकमलको कैसे निष्कण्टक बनावें और उसमें इष्टदेवको कैसे पधरावें। इसमें सन्देह नहीं कि पुष्पपरागका प्रेमी मधुकर काँटोंसे आच्छादित पुष्पोंकी सुगन्धको ग्रहण करता और उसपर बारम्बार मँड़राया करता है। इसी प्रकार आप हमलोगोंके भक्तिभावपूर्ण हृदयकमलमें क्रोधरूपी काँटोंके होते हुए भी निवास करेंगे। यद्यपि ऐसा हमलोगोंका दृढ़ विश्वास है, तथापि हमलोगोंका उत्साह मन्द पड़ रहा है और इस बातके पश्चात्तापसे चित्त चिन्तित हो रहा है कि इस निर्विकार पुरीमें हमलोगोंने क्रोध करके अपने हृदयकमलको क्यों कण्टकाकीर्ण बना लिया। भगवन्! हमलोग अपने-आप अपने कियेपर पछता रहे हैं और इसके लिये आपसे क्षमा माँगते हैं।'

महर्षियोंकी स्तुति सुनकर ब्रह्मण्यदेव, भक्तवत्सल भगवान्ने कहा—'हे तपोधन महर्षियोंके! आज आपलोगोंके आनन्दमय दर्शन पाकर मैं लक्ष्मीके सहित कृतकृत्य हो रहा हूँ। आज समूचे वैकुण्ठसहित हमलोगोंके सौभाग्यका सूर्य उदय हुआ है कि साक्षात् वेदस्वरूप आप चारों महर्षियोंने कृपया यहाँ पधारनेका कष्ट उठाया है। तपोधन! आपने क्रोधके सम्बन्धमें जो ग्लानियुक्त वचन कहे हैं यह आपकी कृपा है, सरलता है और हमलोगोंपर आपकी दया है किन्तु आपने जो कुछ किया है

समुचित किया है और आपका ऐसा करना अत्यावश्यक था। हमलोगोंको अत्यन्त खेद है कि हमारे इन जय और विजय द्वारपालोंने जो इस समय चित्रलिखे-से खड़े हैं, आपलोगोंको द्वारपर रोककर हमारा घोर अपकार किया है। हमारे सेवक होकर जो हमारे आराध्यदेव महर्षियोंको हमारे पास आनेसे रोकें उनसे बढ़कर मूर्ख और दूसरा कौन होगा? शास्त्रोंमें लिखा है कि स्वामीकी कीर्तिको दूषित करनेवाले सेवक सदैव त्यागने योग्य होते हैं। जैसे शरीरको कोढ़ नष्ट कर डालता है वैसे ही स्वामीकी सुकीर्ति-चन्द्रिकामें अविवेकी सेवक कलङ्कसमान और उसको नष्ट करनेवाले होते हैं। मेरे पास रहते इन दोनों द्वारपालोंको न जानें कितना सुदीर्घकाल बीत गया, किन्तु इनके हृदयमें मेरे आराध्यदेव ब्राह्मणोंका महत्त्व नहीं प्रवेश कर सका। इसके लिये मुझे स्वयं लज्जा मालूम होती है और मुझे आन्तरिक दुःख है। मैं ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव मानता हूँ। ब्राह्मणोंने सृष्टिका कितना बड़ा उपकार किया है, कैसे-कैसे ज्ञान फैलाये हैं और उनके द्वारा मेरे वैदिक धर्म और मेरे यश एवं भागवत-सम्प्रदायका कैसा अभ्युदय हुआ है। इसको मैं भलीभाँति जानता हूँ। महर्षिगण! मैं ब्राह्मणोंके हजार कटुवचनोंको सहनेके लिये तैयार रहता हूँ और स्वप्नमें भी उनका अपमान करना घोर पाप समझता हूँ। ब्राह्मणोंके दर्शन करके उनके चरणोंकी धूलिको अपने सिरपर चढ़ानेमें मैं अपना सौभाग्य एवं गौरव समझता हूँ। अतएव जो ब्राह्मणोंका अपमान करते हैं, वे मेरे कभी प्रिय नहीं हो सकते। जो लोग ब्राह्मणोंकी सेवा नहीं करते, उनके कड़ुवे वचनोंको सहन नहीं करते, प्रत्युत उत्तर देनेकी चेष्टा करते हैं, वे महामूर्ख और अपने स्वार्थको लात मारनेवाले प्राणी हैं। मैं तो ब्राह्मणोंको ही अपना गुरु, अपना इष्टदेव और पूज्यतम समझता हूँ। तब उनके अपमान करनेवाले मूर्खकी सेवाओंको मैं कैसे ग्रहण कर सकता हूँ? ब्राह्मणोंकी प्रसन्नतामें ही मेरी प्रसन्नता है और उनकी अप्रसन्नतामें ही मैं अप्रसन्न होता हूँ। अतएव लक्ष्मीसहित मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरे इन द्वारपालोंने आपको रोककर जो अक्षम्य अपराध किया है, उसके लिये इन लोगोंको जो नाममात्रका आपने शापरूपी दण्ड दिया है वह पर्याप्त नहीं; उसके लिये तो आप मुझे समुचित दण्ड दें और दया करके मेरे ऊपर प्रसन्न हों, क्योंकि सेवकोंके अपराधका उत्तरदायित्व स्वामीपर भी होता है, अतएव उनके किये अपराधोंका मैं सर्वथा अपराधी हूँ। आपलोग अपने क्रोधके लिये पछतावा न

करें, क्योंकि आपका वह समुचित क्रोध था। यदि आप ही लोग अपने दण्डके द्वारा हमारा शासन न करेंगे तो कौन करेगा?'

भक्तवत्सल भगवान्‌की सत्य एवं धर्मयुक्त करुणापूर्ण वाणी सुनकर महर्षिगण गद्गद-हृदय हो गये। दयामय दीनबन्धुकी ब्रह्मण्यता देखकर महर्षियोंका हृदय द्रवीभूत हो गया और उन्होंने कहा कि 'हे वैकुण्ठनाथ! आप क्या कह रहे हैं, आपके वचनोंने तो हमलोगोंको स्तम्भित कर दिया है, कुछ करते-धरते ही नहीं बन आता; किन्तु फिर भी हम आपसे यही प्रार्थना करते हैं कि हमने जो चञ्चलतावश क्रोधमें आकर आपके द्वारपालोंको शाप दे दिया है, इसके लिये हम लज्जित हो रहे हैं। एक क्षुद्र भूलके लिये हमलोगोंको इतना क्रोध नहीं करना चाहिये था। अब आपके दर्शनोंसे हमलोगोंका क्रोध शान्त हो गया। इन द्वारपालोंके हितके लिये आप जैसा उचित समझें वैसा करें। हमलोगोंको कोई आपत्ति नहीं, प्रत्युत इनके शापोद्धारसे हमें प्रसन्नता होगी तथा अपने किये हुए अनुचित क्रोधका पछतावा मिटेगा।'

महर्षियोंके इस दयामय भाषणके समाप्त होते ही जय और विजय दोनों साथ ही करुणस्वरसे बोल उठे कि 'हे स्वामिन्! हे महर्षिगण! हम अधम अपराधियोंके उद्धारके लिये हमें शीघ्र कोई उपाय बतलाइये। जिन भगवच्चरणोंके दर्शनके बिना—'**क्षणमपि यामति यामो दिवसति दिवसाश्च कल्पन्ति**' की कहावत चरितार्थ होने लगती है; उन श्रीचरणोंका वियोग हमलोगोंके लिये असहनीय है। श्रीचरणोंकी सेवाको छोड़कर न जाने हमलोग किस घोर नरकमें गिरेंगे और न जाने कबतकके लिये हमलोगोंको घोर नरकवासी होना पड़ेगा।' द्वारपालोंके करुण क्रन्दनको सुन महर्षियोंने अपनी स्वाभाविकी दयालुताके वशीभूत होकर कहा—'हे वैकुण्ठनाथ! इन दीन द्वारपालोंके उद्धारका शीघ्र उपाय कीजिये। हमलोगोंके प्रार्थनानुसार तो आप इनको शाप-मुक्त कर दें तो अधिक उत्तम होगा।'

जय, विजय तथा सनकादि महर्षियोंके वचनोंको सुनकर भगवान् लक्ष्मीनारायणने कहा कि 'हे महर्षिगण! आपलोग यह क्या कहते हैं? क्या ब्रह्मशाप भी कभी अन्यथा हो सकता है? त्रिकालमें भी और त्रिदेवकी इच्छासे भी इस अमिट

द्वितीय अध्याय

लीलाभूमि

जिस समय सन् और संवत्‌की शताब्दियोंमें गिने जानेवाली घटनाओंके स्थानोंका निर्णय करना कष्टसाध्य हो रहा हो उस समय केवल युग-युगान्तरोंकी ही नहीं, दूसरे मन्वन्तरकी घटनाओंके स्थानोंका ठीक-ठीक पता लगाना कितना कठिन कार्य है, इसके बतलानेकी आवश्यकता नहीं। जिस देशमें सहस्त्रों वर्षोंसे लगातार धार्मिक एवं राजनीतिक विप्लव होते चले आ रहे हों और धर्मके मिटानेवाले नर-पिशाचोंके पाशविक अत्याचारोंसे देशके असंख्य मन्दिरों, नगरों और तीर्थोंके अस्तित्व मिटानेके पापमय कार्य बराबर जारी रहे हों; उस देशके किसी पवित्र तीर्थ-स्थानका और किसी भगवदवतारकी लीलाभूमिका एवं उस लीलाभूमिका जिसकी लीलाएँ असंख्यात वर्षोंके प्रथम हुई हों, यथार्थ पता लगाना साधारण कार्य नहीं है। इसी कारणसे जिन परम भागवत दैत्यर्षि प्रह्लादको हम '**प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक**' आदि श्लोकोंके द्वारा नित्य प्रात:काल स्मरण और प्रणाम किया करते हैं, उनकी लीलाभूमिको, उनके आविर्भावके स्थानको न तो हम यथार्थरूपसे जानते हैं और न हम जो कुछ जानते हैं उसपर पूरा-पूरा विश्वास ही करते हैं।

महर्षि कश्यप कहाँ रहते थे, उनकी धर्मपत्नी दितिका निवासस्थान कहाँ था और हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु आदि दैत्योंका जन्म कहाँ हुआ था, उनका राज्य इस धरामण्डलमें कहाँ था, इसका यथार्थ पता लगाना मनुष्य-शक्तिके बाहरकी बात है। पद्मपुराण तथा दूसरे पुराणोंसे भी इतना पता चलता है कि दैत्योंका आदिस्थान हिरण्यपुर था। अवश्य ही हिरण्यपुरका सम्बन्ध आदि दैत्यों (हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु) के नामसे सम्बन्ध रखता है और सम्भवत: हिरण्यपुर उन्हींकी राजधानीके नगरका नाम भी था। महर्षि कश्यप सूर्योपासक थे, यह प्रसिद्ध बात है और सारे संसारके मूलपुरुष महर्षि कश्यप

विजय! तुमने स्वामीके वचनामृतकी ओर ध्यान नहीं दिया, स्वामीने दयामय भावसे तुमको इङ्गित किया है कि तन्मयता शत्रुतामें अधिक होती है; फिर तुम भगवच्चरणोंकी अधिक तन्मयता चाहते हो अथवा कम? प्राणप्रिय विजय! पापमय मानव-जगत्की यातनाएँ असंख्य नरकोंकी भीषण यन्त्रणाओंसे भी अधिक भीषण होती हैं अतएव वहाँसे जितने ही कम समयमें छुटकारा मिले, उतना ही उत्तम होगा। शत्रुता और मित्रताके भ्रममें न पड़ो। विचारकी दृष्टिसे शान्तचित्त होकर सोचो। प्यारे विजय! देखो न, जो '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' के रूपमें सर्वान्तर्यामी विराट् पुरुष है, जो सर्वव्यापी भी है और जिसके एक-एक रोममें न जाने कितने ब्रह्माण्ड विराजमान हैं उसकी कैसी मित्रता और कैसी शत्रुता? हम क्षुद्र जीव उसके लीलामय जगत्में किस गिनतीमें हैं? हममें न तो मित्र-धर्म अथवा भक्ति-भावके निबाहनेकी योग्यता है न शत्रुता करनेकी शक्ति ही है। हम तो जिन चरणोंकी सेवा अबतक करते हैं उनके अब भी सेवक हैं और जितना ही शीघ्र हमलोग फिर अपने सेवा-कार्यपर आ सकें, उतना ही अच्छा होगा। अतएव हमलोग अब चलें और अधिक तन्मयतामय शत्रुभावसे भगवान् लक्ष्मीनारायणकी उपासना करके शीघ्र शापमुक्त हो अपने इस पदपर वापस आवें। 'जयकी बातको विजयने मान लिया। जिस समय दोनों वैकुण्ठपुरीसे गिरने लगे, उस समय बड़ा ही हाहाकर हुआ और उस हाहाकरकी ध्वनिसे समस्त आकाशमण्डल प्रतिध्वनित हो उठा। इधर भगवत्पार्षदोंका पतन हुआ और उधर भगवान् लक्ष्मीनारायणने यथोचित आतिथ्य-सत्कार करनेके पश्चात् महर्षियोंको अपनी वैकुण्ठपुरीकी अनुपम सुषमा और शोभाको दिखलाकर प्रसन्न किया। महर्षिगण प्रसन्नचित्त होकर विदा हुए और शान्त वैकुण्ठपुरीमें पुनः सुशान्ति विराजने लगी।

ब्राह्मणोंके शाप-प्रभावसे जय और विजय नामक जिन भगवत्पार्षदोंका वैकुण्ठपुरीसे पतन हुआ वे ही मर्त्यलोकमें आकर आदिदैत्यके रूपमें प्रकट हुए। महर्षि कश्यपके वीर्य और दक्षदुहिता 'दिति'के गर्भसे उनका जन्म हुआ तथा उनके नाम पड़े हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु। हमारे चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लाद, इन्हीं भगवत्पार्षदोंके अवतार—हिरण्यकशिपुके वीर्य और जम्भदुहिता दानवी 'कयाधू' के गर्भसे प्रादुर्भूत हुए थे। शिवपुराणकी कथा है कि जिन महर्षि

सनकादिने जय और विजयको शाप दिया था, उन्हींमेंसे महर्षि सनकने दूसरे जन्ममें प्रह्लादके रूपमें जन्म लिया था और दूसरे जन्ममें जब हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुने रावण और कुम्भकर्णके रूपमें अवतार लिया था, तब हमारे चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लादने अञ्जनीकुमारके रूपमें जन्म ग्रहण किया था और तीसरी बार जब वे ही भगवत्पार्षद दन्तवक्त्र और शिशुपालके रूपमें प्रकट हुए थे तब हमारे चरित्रनायकने अक्रूरके रूपमें तीसरा जन्म ग्रहण किया था। किन्तु उपर्युक्त कथा वर्तमान कल्पकी नहीं, किसी दूसरे कल्पकी प्रतीत होती है। क्योंकि रावण और प्रह्लादके संवादसे पता चलता है कि रावणके समयमें भी हमारे चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लाद पाताललोकमें विराजमान थे, अतएव उनका अञ्जनीकुमारके रूपमें दूसरा जन्म ग्रहण करना सम्भव नहीं। फिर महाभारतमें भीम और हनुमान्‌जीका संवाद पाया जाता है। अतएव हनुमान्‌जीका दूसरे जन्में अक्रूरके रूपमें अवतीर्ण होना सम्भव नहीं। क्योंकि भीमसेन और अक्रूर समकालीन थे।

पद्मपुराण-सृष्टिखण्डके तीसरे अध्यायमें एक कथा है कि दैत्यर्षि प्रह्लाद पूर्वजन्ममें शिवशर्मा नामक ब्राह्मण थे और पश्चात् जन्मान्तरमें वे क्या हुए, इसकी कोई चर्चा नहीं है। अस्तु, बात कुछ भी हो किंतु हमारे चरित्रनायकका पूर्वजन्म पवित्र ब्राह्मणकुलमें हुआ था और स्वयं ब्राह्मणकुलमें दैत्य नामक शाखासे उत्पन्न हुए, इसमें सन्देह नहीं। पद्मपुराणके उत्तरखण्डान्तर्गत नृसिंहचतुर्दशी-माहात्म्यके प्रसङ्गमें प्रह्लादजीके पूर्वजन्मका बड़ा विलक्षण वर्णन है। उसमें लिखा है कि पूर्वजन्ममें दैत्यर्षि प्रह्लाद वसुदेव नामक एक अशिक्षित ब्राह्मण थे। सारांश यह कि जितने प्रमाण मिलते हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि हमारे चरित्रनायक परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लाद पूर्वजन्ममें भी ब्राह्मण थे, पर जन्ममें वे क्या हुए इसका निर्णय करना कठिन है; किंतु पद्मपुराणकी कथासे उनका पुनर्जन्म होना ही सिद्ध नहीं होता, जो सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है।
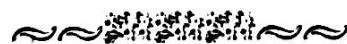
पाँचवाँ अध्याय

हिरण्यकशिपुका वृत्तान्त

गर्भ और जन्म

जिस समय महर्षि कश्यपकी अदिति आदि अन्यान्य सभी धर्मपत्नियोंमें आदित्यादि देवताओंकी उत्पत्ति हो चुकी थी और उनके प्रतापसे सारा जगत् उनका ही अनुचर हो रहा था, उस समय जैसा कि हम पहले कह आये हैं चाक्षुष नामक छठवाँ मन्वन्तर था और उसके अन्तर्गत था सत्ययुग। भगवदिच्छा बड़ी प्रबल है। युग और मन्वन्तर उसके अनुचर हैं। इसलिये सत्ययुगमें और महर्षि कश्यप-जैसे परम तपस्वी महर्षिके आश्रममें भी सत्ययुगके अनुरूप नहीं, कलियुगके अनुरूप घटना घट गयी। भगवान्‌के पार्षदोंको—'जय' और 'विजय' को—ब्रह्मशाप हो चुका था और वे वैकुण्ठपुरीसे पतित हो चुके थे। पूर्वकथित कारणोंके अनुसार असुर-कुलमें उनका अवतीर्ण होना भी आवश्यक था। अतएव भगवदिच्छासे ही पवित्र सत्ययुगमें अपवित्र कलियुगके अनुरूप घटनाका होना आश्चर्यकारक नहीं, स्वाभाविक था।

सन्ध्याका समय था। पतिव्रता 'दिति' ऋतुस्नानसे निवृत्त हो चुकी थी और महर्षि कश्यप अपनी यज्ञशालामें सन्ध्योपासन करनेके लिये प्रस्तुत थे। भगवदिच्छासे पतिव्रता 'दिति' के हृदयमें सन्तति-सुखकी इच्छा उत्पन्न हुई और वह अधीर हो यज्ञशालामें जा पहुँची। यज्ञशालामें आती हुई धर्मपत्नीको देखकर महर्षि कश्यपके मनमें विस्मय उत्पन्न हुआ और मन-ही-मन वे सोचने लगे कि इस समय साध्वी 'दिति'का यहाँ आना अकारण नहीं है। इतनेमें 'दिति' महर्षि कश्यपके सम्मुख जा पहुँची। पतिव्रता दितिको देखकर महर्षि कश्यपने कहा—'हे सुभगे! इस समय तुम इस यज्ञशालामें कैसे आयी और तुम्हारा मुखमण्डल मलिन-सा क्यों हो रहा है?'

दिति—'प्राणनाथ! आप तो त्रिकालदर्शी हैं। क्या आपसे मेरे आनेका कारण छिपा हुआ है? भगवन्! आप चराचरके जन्मदाता और दूसरे प्रजापतिके समान मेरे स्वामी हैं। आपकी कृपासे मेरी समस्त सपत्नियाँ (सौतें), मेरी बहुसंख्यक बहिनें पुत्र-पौत्रादि सन्तति-सुखसे सम्पन्न हो रही हैं, किन्तु मुझ हतभाग्यापर आपने अद्यावधि ऐसी कृपा नहीं की। यद्यपि सपत्नियोंके सन्तति-सुखको देख, मुझे बहुत दिनोंसे दु:ख हो रहा था और उनके अतुल पराक्रम एवं सुखको देखकर मनमें जलन-सी हो रही थी, तथापि लज्जा और भय-वश मैंने अद्यावधि आपसे कुछ भी नहीं कहा था; किन्तु इस समय मैं अधीर हो रही हूँ और मेरी प्रार्थना यही है कि आप मुझपर कृपा करें और मुझे भी सन्तति-सुखका सौभाग्य प्रदान करें।'

कश्यपजी—'प्राणप्रिये! तुमने जो कुछ कहा, उसको मैं प्रथमहीसे जानता था। स्त्रियोंका सपत्निव्यवहार मुझसे छिपा हुआ नहीं। मैं चाहता हूँ कि तुम भी अपनी बहिनों और सपत्नियोंके समान ही पुत्र-पौत्रादि सुखसे सम्पन्न हो जाओ किन्तु समयपर। शीघ्र ही ऐसा समय आनेवाला है कि तुम्हारा यह आन्तरिक खेद मिट जायगा और मनोरथ पूर्ण होगा। इस समय मैं सन्ध्योपासन करने जा रहा हूँ। तुम भी जाकर अपना कार्य करो। भगवान् तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगे।'

दिति— 'जीवनाधार स्वामिन्! आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है, किन्तु आज ही मैं ऋतुस्नानसे निवृत्त हुई हूँ अतएव आपसे प्रार्थना कर रही हूँ।'

कश्यपजी— 'हे सुभगे! धैर्य धारण करो। हम तुम्हारे मनोरथको पूर्ण करेंगे। जिस स्त्रीके द्वारा केवल अर्थ, धर्म और काम ही नहीं, प्रत्युत मोक्ष भी प्राप्त होता है, उस स्त्रीके कार्यको कौन ऐसा अज्ञानी है जो श्रद्धा और प्रेमके साथ न करेगा? गार्हस्थ्य जीवनका मुख्य अङ्ग ही गृहिणी है, उसके बिना गृहस्थाश्रमका पालन करना ही असम्भव है और गृहस्थाश्रमके बिना चारों वर्णों और चारों आश्रमोंका काम नहीं चल सकता। गृहस्थाश्रमके बिना चराचरकी सृष्टि नष्ट-भ्रष्ट हो सकती है और मानव-जीवन व्यर्थ हो जाता है। अतएव कौन ऐसा मूर्ख होगा जो गृहस्थकी मूलभूत अपनी धर्मपत्नीके सन्तानोत्पादन-सम्बन्धी मनोरथको पूर्ण करनेकी चेष्टा न करे? हे मानिनि! समस्त श्रेयस्कामोंके लिये जिसको अर्धाङ्गिनी कहते हैं, जिसपर अपनी गृहस्थीका सारा भार रखकर अपने-आप निश्चिन्त होकर संसारमें विचरण करते हैं उसकी इच्छाको पूर्ण करनेकी कौन चेष्टा न करेगा? किसी भी आश्रममें न जीती जानेवाली

ब्रह्मशापको मिटानेवाला तीनों लोक और चौदहों भुवनमें कोई नहीं है। आपलोगोंने इन लोगोंको जो शाप दिया है, वह इनके अपराधानुरूप ही है। गुरु नहीं, प्रत्युत लघु है और इनको उसका फल भोगना होगा। ये मनुष्यलोकमें जाकर शीघ्र ही आसुरी योनिमें जन्म ग्रहण करेंगे, जिसके योग्य इन लोगोंने अपराध किया है।' इतना कहकर भगवान् लक्ष्मीनारायणने अपने द्वारपालोंको सम्बोधित करके कहा—'हे प्रिय द्वारपालो! तुमलोगोंने बड़ी भूल की है। अब भविष्यमें तुमलोगोंके समान हमारे कोई पार्षद हमारे आराध्यदेव द्विजराजोंका अपमान कभी न करें, इसी अभिप्रायसे इन सदा क्रोध-विजयी महर्षियोंने तुमलोगोंको शाप दिया है। इसके लिये तुमलोगोंको दुःख माननेका कोई कारण नहीं है। अवश्य ही हमारी सेवाका वियोग तुमलोगोंके लिये असहनीय प्रतीत हो रहा है। इसके लिये हम तुमलोगोंका उद्धार करेंगे। तुमलोग असुरवंशमें उत्पन्न होकर भी हमारी ओर जितना ही अधिक चित्त लगाओगे, उतना ही शीघ्र तुमलोगोंका उद्धार होगा। किंतु एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि यदि मित्रभावसे तुमलोग हमारा ध्यान रखोगे तो तुमलोगोंका उद्धार सात जन्ममें होगा और यदि प्रबल शत्रुके रूपमें हमारा ध्यान करोगे तो तीन ही जन्ममें तुमलोग शापसे मुक्त होकर अपने इस पदको पुनः प्राप्त करोगे, क्योंकि जितनी तन्मयता शत्रुभावमें होती है उतनी तन्मयता भक्तिभावमें नहीं हो सकती। यह एक निश्चित सिद्धान्त है। अतएव तुमलोगोंकी जैसी इच्छा हो वैसा करो।' दीनबन्धु दीनानाथके वचनोंको सुनकर महर्षियोंने द्वारपालोंसे कहा कि 'ठीक ही है, मर्यादा-पालनके लिये तुमलोगोंको कुछ कालके लिये भगवच्चरणोंके वियोगजनित असह्य दुःखको भी सहन करना ही उचित है।'

भगवद्वचनोंका समर्थन महर्षियोंके मुखसे सुनकर हाथ जोड़ और कम्पित स्वरसे विजयने कहा—'हे नाथ! हे कृपासिन्धु महर्षिगण! हमलोगोंने जिन चरणोंकी सदा अनन्य भावसे सेवा की है, उन चरणोंके वैरी बनकर अपमान करें और इसलिये अपमान करें कि जिसमें हमारा उद्धार सात जन्ममें न होकर तीन ही जन्ममें हो जाय—सर्वथा अनुचित है तथा हमारे लिये हितकर नहीं है। जिन चरणोंकी सेवाके लिये ही हम अपना शीघ्र उद्धार चाहते हैं, उन्हीं चरणोंका अपमान करें, यह कितना विषम कार्य है।' विजयके भक्तिभावपूर्ण वचनोंके समाप्त होते ही जयने कहा—'भाई

दुर्जेय इन्द्रियोंको, उनके विषयरूपी प्रबल शत्रुओंको जिस धर्मपत्नीकी सहायतासे, जिसके सहारे पुरुष, किलेमें बैठे हुए किलेके स्वामी जैसे अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले दस्युओं, चोरों और डाकुओंको परास्त करनेमें समर्थ होते हैं, वैसे ही पराजित करनेमें सर्वथा समर्थ होते हैं, उसकी कामनाको संसारमें कौन ऐसा अज्ञानी होगा जो पूर्ण न करे? किन्तु जरा ठहरो, दो-एक घड़ीके पश्चात् मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा।'

दिति— 'भगवन्! मेरा अपराध क्षमा कीजिये। मैं आपके शरणमें आयी हूँ। नाथ! शरणागतका पालन करना सभी धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म है। फिर आप-जैसे महापुरुषोंसे अधिक कहना व्यर्थ है, आप तो अन्तर्यामी और त्रिकालदर्शी हैं। स्वामिन्! चाहे त्रैलोक्यके सारे सुख प्राप्त हों, किन्तु जो स्त्री अपने प्राणपतिसे सम्मानित नहीं, उसका संसारमें आदर नहीं होता और उसका यश नहीं फैलता। जबतक स्त्रीके पुत्र नहीं होते, तबतक उसका 'जाया' नाम ही सार्थक नहीं होता है। इसीसे '**तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः**' इस श्रुतिको लोग बड़ी श्रद्धाके साथ उच्चारण करते हैं, अतएव मैं विनीतभावसे आपके चरणोंमें प्रार्थना करती हूँ। आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।'

कश्यपजी— 'हे भामिनि! इस समय तुम सापत्न्यद्वेषसे विवेक-शून्य हो रही हो और सन्ध्याकालकी घोर बेलाकी ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित नहीं होता, किन्तु तुम्हारे समान मैं विवेकशून्य नहीं हुआ हूँ। अतएव कुछ समय ठहरो।'

'हे प्रियतमे! मैं तुम्हारे उपकारों, तुम्हारी सेवाओं और तुम्हारे अधिकारोंको भलीभाँति जानता और मानता हूँ। यद्यपि मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि तुम्हारे उपकारोंका बदला मैं इस जीवनमें चुकानेमें असमर्थ हूँ तथापि इस समय मैं जो तुमको बारम्बार ठहरनेके लिये कहता हूँ इसका विशेष कारण है। हे गृहेश्वरि! यह सन्ध्याका घोरतम समय है। इस कालको शास्त्रकारोंने महाघोरतम कहा है, क्योंकि इस समय भगवान् भूतनाथ शङ्कर अपने भूतगणको साथ ले वृषभपर सवार हो, संसारभरमें विचरण करते हैं। श्मशानके पवनसे विताड़ित धूम्रज्योतिके समान जिनकी बिखरी एवं प्रकाशमान जटाएँ शोभायमान हैं तथा सुवर्णके समान सुन्दर शरीरमें चिताकी भस्मसे जिनकी शोभा द्विगुणित बढ़ रही है, वे ही तुम्हारे देवर देवाधिदेव महादेव अपने चन्द्र, सूर्य एवं अग्निरूपी त्रिनेत्रोंसे सारे चराचरको देख रहे हैं। सुन्दरि! भगवान् भूतभावन शङ्करका संसारमें न कोई स्वजन है, न शत्रु है,

न आदरणीय है और न निन्दनीय है, अतएव इस घोरतम समयमें शास्त्रकारोंने आहार, मैथुन, अध्ययन एवं शयनका निषेध किया है। समस्त ब्राह्मण-समुदाय उनकी चरण-रजकी मायाका ही उपासक है और उनकी मायाके विभूतिरूपी प्रसादको प्राप्त करके वह अपने-आपको कृतकृत्य समझता है, अतएव इस घोरतम समयको बीत जाने दो। मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा।'

भगवदिच्छाकी वशवर्तिनी साध्वी दितिने अपने हठको नहीं छोड़ा और विवश होकर महर्षि कश्यपने भाग्यरूपी सर्वशक्तिमान् परमात्माको प्रणाम करके उसका मनोरथ पूर्ण किया। तदनन्तर महर्षि कश्यपजीने दितिसे कहा कि 'हे कामिनि! तुमने भावीके वशीभूत होकर हठात् इस घोरतम सन्ध्याकालमें गर्भ धारण किया है। इससे तुम्हारे उदरसे दो पुत्र उत्पन्न होंगे, जो बड़े ही भयङ्कर होंगे। हे भामिनि! तुमने हमारी आज्ञा नहीं मानी। क्योंकि तुम्हारा चित्त भी देवद्रोहसे अशुद्ध था। सन्ध्याका घोरतम समय था और सबसे बड़ी भयङ्कर बात तो यह है कि तुमने अपने हठसे देवादिदेव महादेवका अनादर किया है। अतएव तुम्हारे भावी दोनों ही पुत्र देवद्रोही, विष्णुद्रोही, अधम और अमङ्गलरूप होंगे और जब उनका उत्पात बढ़ेगा तब साक्षात् भगवान् लक्ष्मीपति उनको मारेंगे।'

स्वामीके इन वचनोंको सुनकर पतिव्रता दितिने बड़े ही विनीतभावसे कहा कि हे स्वामिन्! मैं अबोध अबला हूँ और काम, क्रोध एवं द्वेषादि दोषोंकी आकर हूँ। अतएव जो कुछ मुझसे अपराध हुआ है, उसे आप क्षमा कीजिये और आशुतोष भगवान् शङ्करको मेरी विनती सुनाइये कि वे मेरे पुत्रोंका कल्याण करें और गर्भको सफल एवं सबल बनावें।

कश्यपजी— प्रियतमे! तुम्हारा कोई अपराध नहीं है। भावी बड़ी प्रबल है। उसीके वशीभूत होकर तुमने प्रबल हठ किया और हमने उस हठको स्वीकार किया। अवश्य ही गर्भाधानके समय तुम्हारा ध्यान अपने सापत्न्य पुत्र देवोंके प्रति द्रोहसे पूरित था और हमारा ध्यान भगवान् शङ्करके घोरतम समयकी ओर था। अतएव जो पुत्र होंगे वे देवताओंके घोर शत्रु होते हुए भी भगवान् शङ्करके अनन्य भक्त होंगे। उनको भगवान् लक्ष्मीनारायण अपने हाथोंसे मारेंगे। यह भी कम प्रसन्नताकी बात नहीं है। इतना ही नहीं, उन पुत्रोंमें ज्येष्ठ पुत्रका उत्तराधिकारी तुम्हारा पौत्र होगा, वह परमभागवत और अपने कुलकी कीर्ति-कौमुदीको तीनों

लोक और चौदहों भुवनमें फैलानेवाला होगा।

अपने स्वामीकी अमृतमयी वाणी सुनकर गर्भवती दिति बड़ी प्रसन्न हुई और उसकी अपने पुत्रोंकी दुष्ट प्रकृतिकी भावी चिन्ता मिट गयी। गर्भाधान होनेके समयसे ही संसारभरमें न जाने कितने अपशकुन होने लगे। देवताओंको भय प्रतीत होने लगा और दितिको भी तरह-तरहके भयावने स्वप्न दिखलायी देने लगे। साधारण समयसे बहुत अधिक दिनोंके पश्चात् दक्षदुहिता सती 'दिति'के दो पुत्र उत्पन्न हुए। पहले हिरण्याक्ष पैदा हुआ। उसके पश्चात् हिरण्यकशिपुका जन्म हुआ। शास्त्रानुसार गर्भकी ज्येष्ठताके कारण हिरण्यकशिपु ही ज्येष्ठ माना गया, किन्तु लौकिक दृष्टिसे लोग हिरण्याक्षको ज्येष्ठ मानने लगे।

जिस समय ये दोनों हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु पृथ्वीपर गिरे, उस समय तीनों लोक और चौदहों भुवन काँप उठे। दिव्य, आन्तरिक्ष और भौतिक अपशकुन होने लगे। स्वर्गमें इन्द्रका सिंहासन हिल गया और देवताओंमें भयङ्कर हलचल मच गयी। तरह-तरहके अमङ्गलसूचक उत्पातों और अपशकुनोंको देखकर लोग 'विश्वविप्लव' का-सा भविष्य अनुमान करने लगे। ऐसी भयङ्कर परिस्थितिको देखकर उनकी माता दितिके हृदयमें बड़ा ही त्रास उत्पन्न हुआ और वह सोचने लगी कि हे भगवन्! क्या अनर्थ होनेवाला है? क्या मेरे गर्भसे उत्पन्न ये पुत्रद्वय, संसारके सचमुच त्रासक, अपने कुलकी मर्यादाके नाशक और देवद्रोही होंगे? दितिको चिन्तित देख महर्षि कश्यपने दोनों पुत्रोंके पूर्वजन्मकी कथाके साथ सारे रहस्यका उद्घाटन किया, तब उसकी चिन्ता दूर हुई। स्नेहमयी माता अपनी स्वाभाविकी दयालुता, वत्सलताके अनुसार पुत्रोंके पालन-पोषणमें लग गयी।

महर्षि कश्यपने पुत्रोंके यथासमय समस्त संस्कार विधिपूर्वक करवाये। नामकरण-संस्कारके समय ज्येष्ठ पुत्रका नाम हिरण्यकशिपु तथा छोटेका नाम हिरण्याक्ष रखा गया। दोनों ही बड़े प्रतापी और पराक्रमी प्रतीत होने लगे। शनैः-शनैः हिमालयके समान दीर्घ एवं कठिनकाय होकर दोनों बढ़ने लगे और इन दोनों ऋषिकुमार दैत्योंके आतङ्कसे सारे मर्त्यलोकवासी आश्चर्यान्वित और देवलोकवासी भयभीत हो गये।
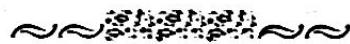
छठाँ अध्याय

भ्रातृ-वध

जिस समय सारे जगत्में तीनों लोक और चौदहों भुवनमें देवताओंकी तूती बोल रही थी, देवराज इन्द्रका आधिपत्य व्याप्त था और असुरोंका आश्रयदाता कोई नहीं था; उसी समय भगवन्मायाकी प्रेरणासे देवराज इन्द्रको अभिमान हुआ और उनका विवेक और उनकी बुद्धि अभिमानके वशीभूत होकर अविवेकिनी बन बैठी। जिस हृदयमें अभिमानका आवेश हो जाता है, उस हृदयमें शील टिक नहीं सकता और जिस हृदयमें शील नहीं होता, उसको सत्य, धर्म, लक्ष्मी आदि सद्गुण-पूर्ण समस्त ऐश्वर्य परित्याग कर देते हैं। इसी कारणसे अभिमानी देवराज इन्द्रको राज-लक्ष्मी उनके हितके लिये, उनके अभिमानको मिटानेके लिये परित्याग करना चाहती थी। उसी समय जब छठें मन्वन्तरका सत्ययुग था, महर्षि कश्यपके घरमें पतिव्रता दितिके गर्भसे असुरोंके आश्रयदाता एवं परमप्रतापी हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु नामक दो यमज पुत्र आदिदैत्यके रूपमें प्रकट हुए थे।

हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुके जन्म ग्रहण करते ही देवताओंमें भय छा गया और ज्यों-ज्यों उनका तेज-प्रताप बढ़ता गया त्यों-त्यों वह भय और भी अधिक बढ़ता गया। यहाँतक कि दोनों भाइयोंने अपने बाहुबलसे तथा असुरोंकी सहायतासे सारे जगत्पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। हिरण्यकशिपु अपना राजकाज देखने लगा और यथासम्भव साधारणतया न्यायानुकूल शासन करने लगा; किन्तु हिरण्याक्षपर राजकाजका भार न था, अतः वह उद्दण्ड होकर चारों ओर घूमता फिरता था। कभी वह दिग्पालोंपर चढ़ाई करता था, कभी इन्द्रासनपर आक्रमण करता था और कभी अन्यान्य देवताओंको सताता था। उसके पराक्रमसे सभी भयभीत थे, उसके आतङ्कसे सभी त्रस्त थे और उसके उत्पातसे मनुष्यों एवं देवताओंको समानरूपसे असह्य दुःख था। देवतागण अपने-अपने

पदोंसे च्युत होकर चारों ओर मारे-मारे फिरते थे और मनुष्योंकी दुर्दशाका तो कोई पार ही न था। सारी प्रकृति उसकी अनुगामिनी थी, अतएव सारे संसारमें हिरण्याक्षकी विजयदुन्दुभी बज रही थी। अवश्य ही यह सब कुछ होता था, परन्तु फिर भी दीनबन्धु, दीनानाथ एवं विश्वम्भर भगवान् लक्ष्मीनारायणका आसन नहीं हिलता था। मानो वे चुपचाप तमाशा देखते थे और इन्द्रादि देवताओंको उनके अभिमानके लिये जान-बूझकर इन असुरोंद्वारा दण्ड दे रहे थे।

जब हिरण्याक्षका अत्याचार बढ़ते-बढ़ते चरम सीमाको पहुँच गया और देवराज इन्द्रका दुरभिमान मिट गया, जब हिरण्याक्षने सारी पृथ्वीको मटियामेट कर रसातलको पहुँचा दिया, तब भगवान् लक्ष्मीनारायणका आसन हिला। देवताओंने पुकार मचायी, ब्रह्मादिने प्रार्थनाएँ कीं और जब भगवत्पार्षदके अवतार दैत्यवर हिरण्याक्षके उद्धारका समय उपस्थित हुआ तब प्रकृति देवीके अधीश्वर, संसारके नियन्ता भगवान् लक्ष्मीनारायणने अवतार धारणकर हिरण्याक्षका संहार किया। जिस समय हिरण्याक्षको मारकर भगवान्‌ने वाराहरूपसे लोगोंको दर्शन दिया, उस समय सारे देवताओंने जाकर स्तुति की और पुष्प-वृष्टि करके विजयदुन्दुभी बजायी। यद्यपि हिरण्याक्षका बध हो गया और देवताओंने विजयकी दुन्दुभी बजा दी, तथापि संसारव्यापी आसुरी साम्राज्यका आतङ्क नहीं मिटा और न देवताओंको अपने अधिकार ही मिले; प्रत्युत उनको और भी अधिक कष्ट होने लगा। जिस समय हिरण्याक्ष मारा गया उस समय पुत्रवत्सला माता दिति विलप-विलपकर रोने लगी और हिरण्याक्षके स्त्री-पुत्रादिके करुणक्रन्दनसे आकाश प्रतिध्वनित होने लगा। उस समय समस्त कुटुम्बियोंकी शोकपूर्ण दशाको देखकर वीरवर हिरण्यकशिपुने माताको सम्बोधित करके कहा—'हे वीर प्रसविनि माता! शोक करना आपको उचित नहीं, आपको उचित है कि स्वयं धैर्य धारणकर अपनी पुत्रवधू और पौत्रादिको धैर्य प्रदान करें। हम आपके पुत्र तथा हमारे भाईके ये पुत्र मौजूद हैं। फिर आप क्यों शोक करती हैं? क्या आपको यह विश्वास है कि इस भ्रातृ-वधका बदला लेनेमें हमलोग समर्थ नहीं हैं। भाई हिरण्याक्षका वध शोक करनेयोग्य नहीं है। उनको वीरगति प्राप्त हुई है। कायरोंके समान उनकी मृत्यु नहीं हुई। ऐसे सुपूतकी माताको आनन्दित होना चाहिये न कि रोना। हम

व्यतीत करना ये दोनों ही साध्वी स्त्रियोंके लिये पति-वियोगके समयके समान कर्तव्य हैं।' किन्तु हिरण्याक्षकी स्त्री 'भानु' अथवा 'भानुमती' ने कहा—'माता! आप क्या कहती हैं? मिथ्या मोहमें पड़कर आप-जैसी वीरप्रसविनी माताके लिये नारी-धर्मको भूल जाना या जान-बूझकर भुला देना उचित नहीं। क्या साध्वी स्त्रियोंके लिये प्राणपतिके अवसानमें अग्निप्रवेशसे बढ़कर भी कोई धर्म है? क्या शास्त्रोंमें '**नाग्निप्रवेशादपरो हि धर्मः**' नहीं लिखा है? आप मुझे अपने प्राणपतिकी पदानुगामिनी बननेसे क्यों रोकती हैं? आप आज्ञा दें कि मैं अपने प्राणपतिकी पदानुगामिनी बन भविष्यकी साध्वी स्त्रियोंके लिये स्त्री-धर्मके उज्ज्वल उदाहरणकी अनुगामिनी बनूँ। अन्यथा सती न होनेपर मेरा हृदय सदैव अपने प्राणपतिके घातक विष्णु तथा उनके अनुयायियोंके प्रति शत्रुता करनेमें लगा रहेगा और उससे मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।'

भ्रातृवधूके विशेष हठका समाचार पाकर दैत्यराज हिरण्यकशिपु स्वयं समझानेके लिये उसके पास गया और उसके समझाने-बुझानेपर भानुमतीने इस शर्तपर सती होनेका हठ छोड़ दिया कि प्रतिदिन एक-न-एक विष्णुभक्तका सिर काटकर उसके सामने लाया जावे और तबतक ऐसा होता रहे जबतक या तो विष्णु मारा न जाय या संसारसे वैष्णवोंका पूर्णतया अभाव न हो जाय। हिरण्यकशिपुने अपने भ्रातृवधूकी ये शर्तें मान लीं और तदनुसार ही अपने असुर अधिकारियोंको आज्ञा दे दी। हिरण्याक्षकी पत्नी भानुमतीने अपना हठ छोड़ दिया और हिरण्यकशिपुने विलखते हुए अपने परिजनोंको सान्त्वना दे अपने भाईका साम्परायिक कर्म विधिपूर्वक सुसम्पन्न किया। साम्परायिक कर्मसे निवृत्त होकर दैत्यराज शासन तो करने लगा; किन्तु उसको रात-दिन इस बातकी चिन्ता सताया करती थी कि भाईका बदला कैसे लिया जाय? उसकी यह चिन्ता तब और भी अधिक बढ़ जाती थी जब वह अपनी भ्रातृवधू भानुमतीको वैधव्य-दशामें दुःखित देखता था।

आपके नामको, दैत्यवंशको चलाने और अपने शत्रु देवताओंको उनके किये अपराधोंका मजा चखानेके लिये तैयार हैं। आप शोकाकुल न हों। शान्त चित्तसे देखें। हम इस भ्रातृ-वधका बदला शीघ्र ही लेंगे। हम जानते हैं कि जिस विष्णुकी आज ये देवता परमेश्वर करके स्तुति कर रहे हैं, जिसने हमारे वीर भ्राताको धोखेसे मारा है, वह कभी ईश्वर कहानेयोग्य नहीं है। जो पक्षपाती हो और सदैव देवताओंका साथ देकर असुरोंका नाश करना चाहे, हम उसको ईश्वर कैसे मानें? ईश्वरमें न पक्षपात है, न क्रोध है, न लोभ है, न मोह है और न उसमें कोई विकार ही है। वह निर्विकार ईश्वर इन विकारयुक्त देवताओंका साथी बनकर हमारे वीरशिरोमणि भाईको क्यों मारता? उससे क्या प्रयोजन? हम दोनों भाई हैं। देवताओं और असुरोंका सौतेले भाईका सम्बन्ध है। अपने-अपने अधिकारोंके लिये हम लड़ते हैं, झगड़ते हैं और कभी हम जीतते हैं तो कभी देवतालोग जीतते हैं। हमारे दोनोंके बीचमें इस तीसरेका क्या काम था और वह बीचमें कूदनेवाला निर्विकार ईश्वर कैसे हो सकता है? ईश्वरकी दृष्टिमें तो हम दोनों समान हैं। वह दोनोंका परम पिता है फिर वह मोहवश कैसे पक्षपात करेगा? यह हमारे समझमें नहीं आता। अतएव हम कहते हैं कि हमारे वीरवर भाईको मारनेवाला ईश्वर नहीं, कोई धोखेबाज व्यक्ति है और उसकी देवतालोग इसलिये ईश्वरके नाम स्तुति कर रहे हैं कि जिससे हमलोग भयभीत हों और यह मान लें कि इन देवताओंके साथी ईश्वर हैं। सारांश यह कि आप शोक न करें। हम देवताओंसे अपने भाईका बदला शीघ्र लेंगे और इस विष्णुको भी हम देखेंगे कि हमारे भाईको मारकर ईश्वरके नामसे त्रिलोकीमें कैसे अपनेको पुजवाता है।

पुत्रके वीरतापूर्ण वचनोंको सुनकर पुत्रशोकसे व्याकुल माताको कुछ धैर्य हुआ और उसने अपनी पुत्रवधू तथा पौत्रादिको सान्त्वना प्रदान की। हिरण्याक्षकी पतिव्रता स्त्री 'भानुमती' अपने पतिके शरीरके वस्त्रको लेकर सती होनेको तैयार हुई। माता दितिने बहुतेरा समझाया। उसने कहा—'बेटी! सती न हो, अभी तो मैं हतभाग्या जीती हूँ। मेरे सामने तू अभी दुधमुँही बालिका है, तेरा सती होना उचित नहीं। देख तो तेरा यह सुपुत्र तेरी ओर करुण-दृष्टिसे देख रहा है। इसको छोड़कर सती होना तुझको उचित नहीं। सती होना और ब्रह्मचर्यसे अपना जीवन

सातवाँ अध्याय

भ्रातृ-वधसे व्याकुलता

तपोभूमिकी यात्रा

जबसे हिरण्याक्षको वाराहभगवान्ने मारा, तबसे हिरण्यकशिपुका चित्त कभी शान्त नहीं रहा। यद्यपि वह राजकाज करता था, खाता-पीता था और यथाशक्ति सभी कार्य करता था, तथापि चिन्तितभावसे—निश्चिन्त होकर नहीं! उसको रात-दिन यही चिन्ता घेरे रहती थी कि हम अपने भाईका बदला कैसे लें और विष्णुभगवान् तथा उनके नाम व निशानको संसारसे कैसे मिटा दें? उसने अपने राज्यमें आज्ञा दे रखी थी कि हमारे राज्यमें कोई विष्णुकी पूजा न करे। उनके मन्दिर न बनवावे और जो मन्दिर कहीं भी हों, उनको नष्ट-भ्रष्ट करके उनके स्थानमें भगवान् शङ्करके मन्दिर बनवाये जायँ। उसके आज्ञानुसार उसके अधिकारी असुर बराबर विष्णुमन्दिरों और वैष्णवोंपर भीषण अत्याचार करने लगे। बेचारे निरीह वैष्णव छिप-लुक कर अपना जीवन, धन और धर्म बचाते और येन-केन प्रकारसे भगवान्के मन्दिरोंकी रक्षा करते थे। हिरण्याक्षके वधसे हिरण्यकशिपुका चित्त जितना ही क्षुब्ध हो रहा था उतना ही भयभीत भी था। वह समझता था कि मुझसे भी अधिक पराक्रमी मेरा भाई जब मार डाला गया, तब मेरे मारे जानेमें क्या कठिनाई है? और सम्भव है कि देवताओंका पक्षपाती विष्णु मुझपर भी किसी अवसरपर आक्रमण करे। इसी भयसे वह राज्यके कार्योंको करता हुआ भी अन्यान्य राजाओं और देवताओंपर आक्रमण नहीं करता था। एक दिन रातका समय था। उसकी पतिव्रता धर्मपत्नी 'कयाधू' उसके समीप गयी, उसने जाकर देखा कि स्वामी न सोते हैं न जागते हैं। समाधिकी-सी दशामें चिन्ता-ग्रसित बैठे हैं। महारानी कयाधूके जानेपर भी जब दैत्यराज सावधान नहीं हुआ, तब महारानीने हाथ जोड़कर कहा—प्राणनाथ! इस समय जब कि दीन-दु:खिया प्रजाजन भी

उनपर पुनः आतङ्क जमा लेना सहज काम नहीं है और यदि वे न दबे तो युद्धकी आयोजना करनेके पश्चात् युद्ध न करना हमारे लिये अपकीर्तिकर होगा, जो मृत्युसे भी अधिक दुःखदायी है। युद्ध करनेमें हमको भय है कि भाईके समान ही विष्णु सम्भव है हमारे ऊपर भी आक्रमण करे। हमको न तो देवताओंका भय है और न हमको युद्धमें मरनेहीका भय है, किन्तु भाईका बदला न लेकर यों ही मरनेसे हमारे मनकी बात मनहीमें रह जायगी। अतएव हमने यह सोच रखा है कि हम शीघ्र ही जाकर एकान्तमें तपस्या करें और अमरत्व प्राप्त करनेके पश्चात् लौटूँ। वर प्राप्त करके जब मैं लौट आऊँ, तब इन देवताओं तथा इनके पक्षपती विष्णुकी खबर लूँ। जबतक मैं तपस्यासे निवृत्त होकर घरको न लौटूँ तबतक तू अपनी अवधानतामें अपने पुत्रों तथा मेरे सुयोग्य मन्त्रियों और सेनापतियोंके द्वारा शासन-सूत्र चला।'

कयाधू— 'स्वामिन्! यद्यपि आपका क्षणभरका वियोग मेरे लिये सर्वथा असहनीय है, तथापि आपके तथा अपने हितके लिये ही नहीं, सारे असुरकुलके लिये, आपका विचार अत्यन्त हितकर है। जब देवताओंने विष्णुका सहारा लिया है, तब आपको भी किसी ईश्वरीय-शक्तिका सहारा लेना आवश्यक है। भगवान् करें आप अपनी तपस्यामें सफल होकर मुझे शीघ्र ही पुनः अपने चरणकी धूलिसे कृतकृत्य करें। भगवन्! आपके आज्ञानुसार मेरे पुत्र शासनभारको सँभाल लेंगे, आप किसी प्रकारकी भी चिन्ता न करें। भगवान् शङ्कर हमारी रक्षा करेंगे ऐसा मेरा पूरा-पूरा विश्वास है।'

महारानी कयाधूकी बातें सुनकर हिरण्यकशिपु बहुत ही प्रसन्न हुआ और वार्ता समाप्त होनेपर उसने निश्चिन्त होकर शयन किया। प्रातःकाल उठकर नित्यनैमित्तिक कृत्योंसे निवृत्त हो हिरण्यकशिपुने अपने पुत्रों तथा मन्त्रियोंको समयसे पहले ही बुलवाया। संह्राद आदि पुत्र तथा राजमन्त्रियोंके आ जाने तथा नियमानुसार प्रणामादिके पश्चात् दैत्यराज हिरण्यकशिपुने अपना अभिप्राय प्रकट किया और मन्त्रियोंपर राजभार सौंपकर अपने पुत्रोंको उनके अधिकारमें दे सुन्दर सर्वार्थसिद्धिकारक मुहूर्त्तमें तपस्या करनेके लिये कैलास पर्वतकी यात्रा की। यात्राके समय यद्यपि अनेक प्रकारके अमङ्गलसूचक अपशकुन पृथिवी और आकाशमें देख पड़े और मन्त्रियोंने तथा विद्वान् ब्राह्मणोंने यात्राको स्थगित करनेकी सम्मति भी दी, किन्तु

दैत्यराज हिरण्यकशिपुने किसीकी बातपर ध्यान नहीं दिया और अपने विचारपर दृढ़ रहकर यात्रा कर दी। हिरण्यकशिपु अपने थोड़े-से अनुचरोंके सहित तप करनेके लिये कैलास पर्वतके शिखरपर जा पहुँचा और घोर तप करने लगा। उसकी तपस्याके समाचारोंको सुनकर देवताओंके प्राण-पखेरू उड़ने लगे। सारे-के-सारे देवता अपने स्वामी इन्द्रके पास पहुँचे, इन्द्रने देवताओंकी बातें सुनीं और यह जानकर कि हिरण्यकशिपु हमलोगोंके साथ युद्ध करनेहीके लिये तपस्या कर रहा है, घबड़ा गये। देवताओंके सहित देवराज इन्द्र ब्रह्माजीके पास पहुँचे और उनसे सारी कथा कह सुनायी। ब्रह्माजीने द्वेषाग्निसे पीड़ित देवताओंकी बातें सुनकर कहा कि 'आपलोग अपने-अपने स्थानको जाइये। हम इस सम्बन्धमें यथोचित विचार और उपचार करेंगे। आपलोग भयभीत होकर नहीं, शान्तचित्तसे भगवान् लक्ष्मीनारायणका स्मरण करें। वे आपलोगोंकी रक्षा करेंगे।'

देवताओंके चले जानेपर जगत्स्रष्टा ब्रह्माजी विचारने लगे कि इस समय हमको क्या करना चाहिये? कौन-सा ऐसा उपाय है जिससे दैत्यराज हिरण्यकशिपु आपने घोर तपसे निवृत्त हो जाय? इस चिन्तामें ब्रह्माजी मग्न ही थे कि इसी बीचमें महर्षि नारदजी जा पहुँचे। नारदजीने कहा—'पूज्यपाद पितृचरण! आप किस चिन्तामें इस समय लीन हैं? क्या आप दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी तपस्याको भङ्ग करना चाहते हैं? यदि आप यही चाहते हैं, तो मुझे आज्ञा दें। मैं जाता हूँ और अनायास ही उसको तपस्यासे विरक्त किये देता हूँ।' ब्रह्माजी नारदजीके इन वचनोंको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और नारदजी भी आज्ञा लेकर वहाँसे विदा हुए। नारदजीने मार्गमें पर्वत मुनिको भी साथमें लिया और दोनों ही महर्षि अपनी सिद्धिके प्रभावसे 'कलविङ्क' नामक पक्षी बनकर कैलासके शिखरकी ओर चल दिये। थोड़े ही समयमें दोनों ही 'कलविङ्क' पक्षी वहाँपर जा पहुँचे, जहाँ दैत्यराज हिरण्यकशिपु घोर तपमें संलग्न था। पक्षियोंने दैत्यराजके समीपमें जाकर उच्च स्वरसे कहा—'**ॐ नमो नारायणाय।**' ध्यानावस्थित दैत्यराजके कर्णमें यह मन्त्र वज्रपातके समान हुआ और विष्णुनामसे उसका ध्यान भंग हो गया, किन्तु फिर भी उसने चित्तको शान्त कर लिया और तपस्या छोड़ी नहीं। कुछ ही समय बाद दोनों ही पक्षियोंने पुनः उच्च स्वरसे कहा—'**ॐ नमो नारायणाय।**' इस बार दैत्यराज हिरण्यकशिपुसे क्रोध सँभारा नहीं गया और उसने तपस्या छोड़ अपना धनुष उठाया और

गये, किन्तु जब बारम्बार उन दोनों पक्षियोंने हमारे घोर शत्रुके स्तुतिरूपी '**ॐ नमो नारायणाय**' मन्त्रका उच्चारण किया, तब तो हमारा क्रोध सीमासे बाहर हो गया और हमने तपस्या करना छोड़ उन पक्षियोंको मारनेके लिये धनुष-बाण उठाया, किन्तु हमारे सावधान होनेसे पहले ही वे दोनों ही पक्षी न जाने किस दिशाकी ओर उड़ गये। हमारा क्रोध इतना बढ़ गया था कि फिर शान्त नहीं हो सका और हमने तपस्या छोड़ घरके लिये प्रस्थान कर दिया। यही कारण है हमारे शीघ्र एवं बिना मनोरथ-सिद्धिके वापस आनेका।'

जिस समय दैत्यराज हिरण्यकशिपुने '**ॐ नमो नारायणाय**' इस मन्त्रको उच्चारण किया, उसी समय महारानी कयाधूको गर्भाधान हो गया। मन्त्रके प्रभावसे ही उस दैत्यराजके वीर्य और दानवी महारानी कयाधूके गर्भमें एक ऐसा परमभागवत जीव जा पहुँचा जिसकी महिमा आजतक सारा संसार गा रहा है। परमभागवतोंकी कथाएँ भागवतलोग गाते हैं, किन्तु वह ऐसा परमभागवत था, जिसके यशको आस्तिक एवं नास्तिक सभी लोग गाते हैं और उसीके पदानुगामी बनने तथा अपनी सन्तानोंको उसका पदानुगामी बनानेमें अपने-आपको कृतकृत्य समझते हैं।

पाठकगण! 'दानवी कयाधू'के गर्भमें वह कौन महापुरुष था? कौन-सा परमभागवत था? कदाचित् आपलोग समझ गये होंगे; किन्तु हम भी स्पष्ट बतला देना चाहते हैं कि वह महापुरुष था हमारा चरित्रनायक परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लाद। अवश्य ही पूर्वजन्मके सुकृतोंके फलसे वे दैत्यकुलमें उत्पन्न होकर भी, सारे आस्तिक संसारके प्रातःस्मरणीय हुए हैं, किन्तु वस्तुतः उनके गर्भाधानका संस्कार, उनकी परमभागवतताके बढ़ाने एवं प्रसिद्ध करनेमें अधिक सहायक हुआ होगा, इसमें भी सन्देह नहीं। इसीको कहते हैं कि ***'जैसी हो भवितव्यता, वैसी उपजे बुद्धि।'*** हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपुके गर्भाधानके समयकी घोर सन्ध्या-वेलाका फल तदनुरूप तथा परमभागवत प्रह्लादके गर्भाधानके समयका 'नारायण' मन्त्रका उच्चारण और उसका फल देखकर क्या भारतवासी अपने महर्षियोंके प्रतिपादित गर्भाधानकी शुद्धता और महत्ताका अनुमान करेंगे तथा इन उदाहरणोंसे अपने तथा अपनी सन्तानोंके लिये कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे?

आठवाँ अध्याय

प्रह्लाद गर्भमें

पुनः तपस्या और देवताओंमें हलचल

महारानी कयाधू गर्भवती हैं, इस समाचारको सुनकर दैत्यराजने अपने आचार्यचरण शुक्राचार्यजीसे प्रार्थना की कि आप इस बालकके यथोचित पुंसवनादि संस्कार यथासमय करावें और मेरे लिये कोई ऐसा यात्राका सुन्दर मुहूर्त बतलावें कि जिससे मैं सफलताके साथ लौटकर आ सकूँ। दैत्यराजकी प्रार्थना सुनकर दैत्याचार्य चुप रह गये। आचार्यचरणके मौनावलम्बनको देखकर दैत्यराजने कहा कि 'भगवन्! आप मौन क्यों हो रहे हैं? मैंने जो प्रार्थना की है उसके सम्बन्धमें आपने कुछ आज्ञा नहीं दी?'

शुक्राचार्य— 'दैत्यराज! अभी हम चुप इस कारण हो गये कि आपने न तो यही बतलाया कि आपकी यात्रा किस दिशाकी ओर होगी और न यही बतलाया कि किस कार्यके लिये होगी? और जबतक आप यह विवरण नहीं बतलाते, तबतक ठीक-ठीक मुहूर्त बतलाना सम्भव नहीं।'

हिरण्यकशिपु— 'भगवन्! मेरी यात्रा तपोभूमिकी ओर उत्तर दिशाको होगी और मेरी यात्राका उद्देश्य तपस्याद्वारा अपूर्व वर प्राप्त करना होगा।'

शुक्राचार्य— 'हे कश्यपपुत्र! आपके समान इस समय कोई भी भाग्यवान् नहीं। आपको ईश्वरने दूध-पूतसे भरा-पूरा कर रखा है। आपका प्रताप सारे जगत्में फैला हुआ है। हमको तो आपमें किसी बातकी कमी नहीं प्रतीत होती। फिर आप किस अभिप्रायसे राजपाटके इस दुर्लभ सुखको छोड़कर तपस्या करनेके लिये जाना चाहते हैं? हम तो आपसे यही कहेंगे कि आप राजकाज देखें और तपस्याका विचार त्याग दें।'

हिरण्यकशिपु— 'आचार्यचरण! आपने मेरे हितके विचारसे जो उपदेश मुझे दिया है वह यथार्थमें मेरे लिये हितकारक नहीं है। आप जानते हैं कि मेरे सौतेले

बन्धुगण मेरे विरुद्ध कैसे-कैसे षड्यन्त्र रचा करते हैं। *'एक तो तितलौकी दूसरे नीम चढ़ी'* की कहावतके अनुसार उनको विष्णु सहायक मिल गये हैं। ऐसी दशामें मैं, अपनी वर्तमान शक्तियोंसे उनका सामना करनेमें अपने-आपको पूर्णतया समर्थ नहीं पाता। अतएव यदि तपस्याद्वारा देवताओंसे अभय हो जाऊँ तो मैं अपने असुरसमुदायको अधिक लाभ पहुँचा सकूँगा तथा अपने प्राणप्रिय भाईके वधका समुचित बदला ले सकूँगा। भगवन्! आप सत्य मानिये, जबसे प्यारे भाई हिरण्याक्षको इन धूर्तोंने धोखेमें डाल पातालमें ले जाकर वाराह-रूपधारी विष्णुद्वारा मरवा डाला है, तबसे मुझे रात-दिन निद्रा नहीं आती और ईर्षा, द्वेष एवं क्रोधसे मेरा शरीर जल रहा है। जबतक मैं अपने शत्रुओंको—उनकी गतिको नहीं पहुँचा देता और अपने भाईका बदला नहीं ले लेता तबतक मुझे शान्ति नहीं मिल सकती। अतएव आप अब मुझे रोकें नहीं प्रत्युत आज्ञा दें और शुभमुहूर्त बतलाकर आशीर्वाद दें कि जिससे मैं अपने मनोरथको प्राप्तकर दैत्यकुलका उद्धार करूँ।

शुक्राचार्यजी महाराज हिरण्यकशिपुका समुचित हठ देख उसको आशीर्वादपूर्वक तपोभूमिकी यात्राका उत्तम मुहूर्त बतलाकर अपने आश्रमको गये और इधर दैत्यराजने पुनः तपोभूमिके लिये यात्राकी तैयारी की। यात्रा करनेके पहले दैत्यराज हिरण्यकशिपु अपनी महारानी कयाधूसे मिलनेके लिये अन्तःपुरमें गये। महारानी कयाधू भी प्राणपतिके शुभागमनका समाचार पाकर बड़ी प्रसन्न हुई और ज्यों ही दैत्यराजने अन्तःपुरमें प्रवेश किया, त्यों ही उसने आगे जाकर सादर एवं सप्रेम सविनय करवद्ध प्रणाम किया और ले जाकर महाराजको सुन्दर आसनपर आसीन कराया।

हिरण्यकशिपु— 'हे देवि! आज हम तुम्हारे पास अधिक समयतक प्रेमालाप करनेके लिये नहीं आये हैं। प्रत्युत तपोभूमिकी दीर्घ-यात्राके लिये विदा माँगने आये हैं। तुम हमारी गृहेश्वरी तो हो ही, किन्तु साथ ही प्राणेश्वरी भी हो। हम जानते हैं कि तुम जिस दानवकुलकी दुहिता हो, उस कुलके अनुरूप ही तुममें सारे सद्गुण विद्यमान हैं। अतएव अब तुम हमारी दीर्घकालीन अनुपस्थितिमें अपने पुत्रोंके द्वारा शासन करना और अपने दोनों कुलोंकी मर्यादाका पालन करना।'

महारानी कयाधूने यात्राके समय रोकना अशुभ समझकर साश्रुनयनोंसे प्राणपतिकी ओर करुणपूर्ण दृष्टिसे देखा और कहा—'नाथ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है; किन्तु इस समय ये देवतागण बड़े ही ढीठ हो रहे हैं और

आपकी उपस्थितिमें भी जब ये उत्पात करनेसे नहीं बाज आते और समय-समयपर आक्रमण करनेकी तैयारियाँ किया करते हैं, तब आपकी दीर्घकालीन यात्राका समाचार पाकर सम्भव है ये घोर उपद्रव करें। उस दशामें मैं अबला क्या कर सकूँगी।'

हिरण्यकशिपु—'प्राणप्रिये! तुम ठीक कहती हो; किन्तु यथासम्भव हमारी दीर्घ-यात्राका समाचार गुप्त रखना और अपने पिताजीको भी सावधान कर देना। यदि हमारी अनुपस्थितिमें देवतागण कायरों और चोर-डाकुओंकी तरह आक्रमण करेंगे तो भगवान् तुम्हारी रक्षा करेंगे और मैं लौटकर उनको उसका मजा चखाऊँगा।'

महारानी कयाधूसे विदा हो दैत्यराज हिरण्यकशिपु दरबारमें आये और मन्त्रियों तथा पुत्रोंको राजभार सौंपा। यात्राके समय आचार्यगण उपस्थित थे और सभी विद्वान् ब्राह्मण यात्राकी मङ्गलकामना करते थे। इस बार दैत्यराज हिरण्यकशिपुने मन्दराचलकी कन्दराकी ओर यात्रा की। वहाँ जाकर दैत्यराजने ऐसा भीषण तप करना आरम्भ किया कि जैसा कभी किसी देव, दानव अथवा दैत्यने नहीं किया था। उसकी तपस्याका समाचार धीरे-धीरे फैलते-फैलते सर्वत्र फैल गया और देवताओंमें बड़ी खलबली मच गयी। सुर हों, चाहे असुर, जबतक भोगोंसे वैराग्य नहीं होता, तबतक स्वार्थी जगत्की चिन्ताएँ कभी दूर नहीं हो सकतीं और उनके रहते कभी कोई सुखी एवं शान्त नहीं हो सकता। यही देवताओंकी दशा थी। उनको चिन्ता थी कि ऐसा न हो कि कोई ऐसी तपस्या करे, जिससे हमारे ऊपर विपत्ति आ पड़े। इसी कारणसे अपने प्रबल शत्रु दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी तपस्याके समाचारसे देवताओंमें हाहाकार मच गया और उनको नींदका आना दुर्लभ हो गया, उनके लिये शान्तिकी प्राप्ति असम्भव हो गयी और उन्हें चारों ओर भय दिखलायी देने लगा। इधर हिरण्यकशिपुकी तपस्या भी अद्‌भुत थी। वह बिना अन्न-जलके आकाशमण्डलकी ओर टकटकी लगाये हुए अपने बाहुओंको ऊपरकी ओर उठाकर केवल एक अँगूठेपर ही खड़ा रहता था। इस प्रकारके कठिन तपके प्रभावसे सारे संसारमें हलचल मच गयी, देवसमाजमें भय और चिन्ता छा गयी, नद और नदियोंके जल सूख गये, भूकम्प एवं ज्वालामुखीके प्रकोप बारम्बार होने लगे, जिससे बड़े-बड़े अचल पर्वत भी

हिलने, डोलने तथा उड़-उड़कर दूर गिरने लगे, समुद्र मानो खौलने लगे, उल्कापात ही नहीं, बड़े-बड़े तारे भी बहुतायतसे गिरने लगे और दिग्दाहसे मानो दसों दिशाएँ जलने लगीं।

इन उत्पातोंको अपने लिये अशुभ समझकर भयभीत हो देवतालोग जगत्पिता ब्रह्माजीके शरणमें गये। ब्रह्माजीने देवताओंको सत्कारपूर्वक बिठाया। देवताओंने जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीको सादर एवं सविनय प्रणाम करनेके पश्चात् अपनी कथा सुनानी आरम्भ की। देवराज इन्द्रने कहा—'हे सर्वजगत्के पितामह! हमलोगोंको आजकल दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी तपस्यासे बड़ा ही कष्ट और भविष्यके लिये भय हो रहा है। हमलोगोंको पता चला है कि वह इस बार तपस्याद्वारा अमरत्व प्राप्त करना चाहता है और हमलोगोंने यह भी सुना है कि वह अमरत्व प्राप्त करनेके पश्चात् हमलोगोंके रक्षक भगवान् विष्णुहीको मार डालनेका विचार किये हुए है। भगवन्! यदि ऐसा हुआ तो हमलोगोंको तो फिर कहीं ठिकाना न रहेगा। तीनों लोक और चौदहों भुवनमें तो हमलोगोंको फिर कोई दूसरा आश्रयदाता न मिलेगा।'

देवताओंको आश्वासन देते हुए ब्रह्माजीने कहा—'आपलोग भयभीत न हों। भगवान् विष्णुको मारनेवाला कोई नहीं है और ऐसा विचार करना नितान्त मूर्खता है। आपलोग शान्तचित्तसे अपने-अपने स्थानोंको जायँ। हम तथा भगवान् विष्णु आपकी रक्षा करेंगे, आपलोग घबड़ाइये नहीं।' देवतालोग अपने-अपने स्थानको गये, किन्तु देवराज इन्द्रको धैर्य नहीं हुआ और उन्होंने जाकर मन्दराचलमें दैत्यराजको तपस्या करते हुए स्वयं देखा। उन्होंने देखा कि वह कठिन तपस्याके कारण मृतप्राय हो रहा है। उसके शरीरमें न रक्त है, न माँस। वह सूखकर ठठरी हो गया, शरीरमें केवल हड्डियाँ रह गयी हैं। हड्डियोंपर भी चीटियोंने अपने घर बना लिये हैं। दीमकोंने चारों ओर अपना आधिपत्य जमा रखा है और कहींपर कोई चेतनताके चिह्न दिखलायी नहीं पड़ते। ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी काठके खम्भेमें दीमक लग गयी है और वह निकम्मा हो गया है। दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी यह दशा देखकर, देवराज इन्द्र मन-ही-मन बड़े ही प्रसन्न हुए और कुछ और ही सोचते हुए अपने स्थानको लौट गये।
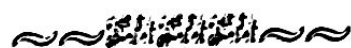
नवाँ अध्याय

देवताओंका हिरण्यपुरपर आक्रमण

महारानी कयाधूका हरण

देवराज इन्द्र, हिरण्यकशिपुकी दशा देखकर जब अपने स्थानपर पहुँचे तब उन्होंने अपने मन्त्रिवर्गको बुलाया और उनसे परामर्श किया। सभीलोग एकमत हुए कि इस समय जब कि हिरण्यकशिपु तपस्याके कारण निर्जीव-सा हो रहा है, हमलोग यदि उसकी राजधानी 'हिरण्यपुर'पर आक्रमण करें, तो अपने नैसर्गिक शत्रु असुर-समुदायको सदाके लिये नष्ट-भ्रष्टकर सारे संसारमें अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं। पहले तो उस मृतप्राय हिरण्यकशिपुके लौटनेकी आशा नहीं, फिर यदि वह लौटेगा भी, तो निःसहाय होनेके कारण उससे हमलोगोंको कोई भय न होगा। ऐसी मन्त्रणाकर देवराज इन्द्रने शीघ्र ही अपने दलबलके साथ सहसा हिरण्यपुरपर घोर आक्रमण किया।

हिरण्यकशिपुकी अनुपस्थितिमें उसकी राजधानीपर सहसा आक्रमण होनेसे असुरोंको बड़ी चिन्ता हुई। एक तो जबसे हिरण्याक्षका वध हुआ था तभीसे असुरोंके हृदयमें देवताओंकी ओरसे भय बना रहता था, दूसरे जो एकमात्र सहारा था वह दैत्यराज हिरण्यकशिपु भी तपस्या कर रहा है। इस कारण असुरोंकी सेनामें उत्साह नहीं था। महारानी कयाधूके उत्साहित करनेपर देवताओंकी सेनाके सामने ये लोग गये अवश्य; किंतु हतोत्साह होनेके कारण उनका सामना करनेमें असमर्थ रहे। थोड़े ही दिनोंकी लड़ाईमें राजकुमारोंने आत्मसमर्पण कर दिया और असुर-सेनापति भी बाँध लिये गये। न जाने कितने असुर लड़ाईमें मारे गये और कितनेहीके अङ्ग-भङ्ग हुए। अधिकांश असुर भाग-भागकर घोर वनों तथा गिरिकन्दराओंमें जा छिपे।

अनायास प्राप्त अपने इस अपूर्व विजयसे देवराज इन्द्र तथा उनके सहायकोंका

मन बढ़ गया और वे मदान्ध एवं क्रोधके वशीभूत होकर दैत्यराज हिरण्यकशिपुके अन्तःपुरमें घुसनेको उद्यत हुए। कुछ चतुर एवं न्यायप्रिय मन्त्रियोंने उनको इस अनुचित कार्य करनेसे रोका भी, किंतु देवराज, विजयके मदसे मतवाले हो रहे थे, अतः उन्होंने किसीकी कुछ नहीं सुनी। अन्तःपुरमें जा, देवराज इन्द्रने वह काम किया कि जो देवताओंके लिये सर्वथा निन्दनीय था। उन्होंने दैत्यराजके अन्तःपुरको जलाकर भस्म कर दिया और उनके सारे ऐश्वर्यको लूट लिया। इतना ही नहीं, परमसती गर्भवती महारानी कयाधूको भी वे बरजोरी पकड़ ले चले। महारानी कयाधूने करुण-क्रन्दनकर अपने छुटकारेकी प्रार्थना की और गर्भवती होनेके कारण अपनेको पाँवपियादे चलनेमें असमर्थ बतलाया; किंतु देवराज तो मदान्ध हो रहे थे, उनको तो अपने अपूर्व एवं अनायास विजयका नशा चढ़ा था, अतएव उन्होंने महारानी कयाधूकी करुणापूर्ण समुचित प्रार्थनाओंकी भी अवहेलना की और चलते बने। मार्गमें महारानी कयाधूके करुण-क्रन्दनसे सभी सहृदय प्राणी दुःखित होते थे, किंतु मदान्ध देवराजके सामने जाकर कुछ कहनेकी कोई हिम्मत न करता था।

संयोगवश, मार्गमें महर्षि नारदजी मिल गये। महारानी कयाधूकी करुण-वाणी, उनका विलाप और उनकी दशाने महर्षि नारदजीको बीचमें पड़नेके लिये वाध्य किया। महर्षि नारदको किसका भय था? वे तुरन्त खड़े हो गये और देवराज इन्द्रसे कहा—'हे विजयी सुरराज! सावधान! विजयके मदमें तुम-जैसे वीरोंको मदान्ध हो जाना उचित नहीं। यही समय है, जब तुम्हें अपनी क्षमाशीलताका परिचय देना चाहिये। असुर तुम्हारे शत्रु हैं। तुमने उनपर इस समय कायरोंके समान आक्रमण किया है, जिस समय उनका अगुवा तपस्यामें लीन है। ऐसी दशामें विजयकी महत्ता कितनी है, इसको तुम्हारा हृदय स्वयं स्वीकार करता होगा, फिर भी तुम इतने मदान्ध क्यों हो गये हो कि इस परम साध्वी गर्भवती महारानी कयाधूको पकड़कर ले जा रहे हो और पाँवपियादे ले जा रहे हो। तुमको स्मरण रखना चाहिये कि अपने ही पापको लोग दुःखके रूपमें भोगते हैं और अभिमान तो भगवान्का आहार है। तुमको ऐसा दुष्कार्य नहीं करना चाहिये कि जिसे कल जब हिरण्यकशिपु तपस्याद्वारा अमोघ वरदानप्राप्त कर लौटे और तुमको पराजित करे, तब लोग कहें कि तुमको तुम्हारे ही पापोंका फल मिल रहा है। हे देवराज! इस साध्वीको तुरन्त छोड़ दो और सावधान होकर सीधे अपने स्थानको चले जाओ।'

देवराज इन्द्र— 'भगवन्! आपकी आज्ञाका पालन करना मेरा परमधर्म है और आपकी आज्ञाएँ मेरे लिये सदैव कल्याणप्रद होती हैं, किन्तु आज जो आप इस दानवपुत्री कयाधूपर दयार्द्र हो रहे हैं और इसको छुड़ानेकी आज्ञा दे रहे हैं इसमें कुछ मुझे कहना है। महर्षिवर! दानव और दैत्यकुल हमलोगोंके कैसे शत्रु हैं, यह आपसे छिपा हुआ नहीं है। इस युद्धमें मैंने सारे असुरकुलका संहार कर दिया है, जो बचे हैं वे बन्दीके रूपमें हैं अथवा कायरोंके समान लुक-छिपकर अपनी जान बचा सके हैं। कायरोंसे भय नहीं और जो बन्दी हैं उनसे भी भय नहीं; किंतु इस दानवतनया कयाधूके उदरमें गर्भ है और इसलिये मैं इसको ले जा रहा हूँ कि जिसमें इसके गर्भसे उत्पन्न दैत्यराजकुमार हमलोगोंके लिये आगे बाधक न हो। नीतिमें लिखा है कि शत्रुको निःशेष ही करके शान्त होना चाहिये। शत्रुपर दया करना, दया नहीं—कायरता है।'

महर्षि नारद— 'हे सुरपते! तुम भूलते हो, इस साध्वीके गर्भमें जो बालक है, उसकी महिमा तुम नहीं जानते। इसके गर्भमें परमभागवत बालक है और उसके द्वारा न केवल देवताओंका, प्रत्युत सारे जगत्‌का कल्याण होगा और अधर्ममूलक असुरोंका संहार होगा, तुम इस साध्वीको तुरन्त छोड़ दो और अपने अपराधके लिये इस साध्वीसे तुरन्त क्षमाकी याचना करो। इसीमें तुम्हारा कल्याण है।'

महर्षि नारदके आज्ञानुसार देवराज इन्द्रने महारानी कयाधूको छोड़ दिया और उनसे अपने अपराधके लिये क्षमाप्रार्थना की। महारानी कयाधूने सजल-नयन तथास्तु कहकर अपना पिण्ड छुड़ाया। महारानी असहाय और अत्यन्त भयभीत थीं। महर्षि नारदके बारम्बार सान्त्वना देनेपर भी वह घबड़ायी हुई थरथर काँप रही थीं। उनकी यह दशा देख महर्षि नारदजीने कहा—'बेटी! घबड़ानेका कोई कारण नहीं, वीरपत्नियोंको न जाने कैसे-कैसे सङ्कटमय समय काटने पड़ते हैं और अन्तमें सुखसम्पत्तिका उपभोग प्राप्त होता है। तुम धैर्य धारण करो, शीघ्र ही तुम्हारे प्राणपति दैत्यराज मनोवाञ्छित वर प्राप्त करके आवेंगे और तुम्हारे सौभाग्यको सुशोभित करेंगे। वे अपने वरदानके प्रभावसे संसारभरका साम्राज्य पुनः प्राप्त करेंगे। देव, दानव ही नहीं, सारे दिग्पाल भी आशाभरी दृष्टियोंसे उनकी सेवा करेंगे और तीनों लोक तथा चौदहों भुवनमें उनके विजयका डंका बजेगा। इतना ही नहीं, तुम्हारे इस गर्भसे

दसवाँ अध्याय

महारानी कयाधूको महर्षि नारदका महोपदेश

गर्भस्थ प्रह्लादको ज्ञानप्राप्ति

एक दिन जब कि गर्भस्थ प्रह्लाद अधिक चैतन्य हो चुके थे और पूर्वजन्मके प्रभावसे उनको श्रवणादि विषयोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो चुका था, तब महर्षि नारदजीने एकान्तमें महारानी कयाधूको सम्बोधित करके, बहानेसे गर्भस्थ बालक प्रह्लादको ज्ञानका मर्म सुनाया था। महर्षि नारदजीने जो महोपदेश दिया था वह संक्षेपमें इस प्रकार था—

महर्षि नारद— 'बेटी कयाधू! मानवजीवन क्षणभङ्गुर है। अतएव इस शरीरको स्थायी समझ किसी धार्मिक कार्यको टालते हुए व्यर्थ कालक्षेप करना भूल है। बालकपनसे ही जो भगवान् लक्ष्मीनारायणकी अनन्य भक्ति अथवा प्रपत्ति (शरणागति)में लग जाता है वही बड़ा पण्डित और ज्ञानी है। यह मनुष्यजन्म महा दुर्लभ होनेपर भी अस्थायी है। अतएव इसका सदुपयोग करना ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता है। इस असार संसारमें मानवजीवनके लिये सबसे श्रेष्ठ भगवच्चरणारविन्दकी शरणागति है। शास्त्रोंमें भगवान् विष्णुकी छः प्रकारकी शरणागति कही गयी है। परब्रह्म परमात्मा भगवान् विष्णु सर्वव्यापी, समस्त आत्माओंके प्रिय और सुहृद् हैं। उनके यहाँ किसी जाति, किसी अवस्था और किसी लिङ्गका भेद-भाव नहीं है। भगवान्‌की प्रपत्ति-साधनामें मनुष्यमात्र अधिकारी हैं*। अर्थात् इस भागवत-धर्ममें, इस प्रपत्ति-

---

* प्राप्तुमिच्छन्परां सिद्धिं जनः सर्वोऽप्यकिञ्चनः।
श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत्॥
न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः।
न देशकालौ नावस्थां योगो ह्ययमपेक्षते॥

(नारदपञ्चरात्र-भारद्वाज सं०)

योगमें ब्राह्मण आदि वर्ण एवं जातिकी उत्तमता अपेक्षित नहीं है, स्त्री, पुरुष आदिकी विशेषता नहीं है और ब्रह्मचर्यादि व्रत, उदारता आदि गुण, पुण्यदेश-पुण्यतीर्थ-स्थानादि, पुण्यकालके पर्व, यज्ञादि उत्तम कार्य तथा अवस्थाविशेष भी अपेक्षित नहीं हैं। अर्थात् प्रपत्तियोगमें, भागवत-धर्ममें एवं भगवान् विष्णुकी शरणागतिमें; सभी जाति, सभी आश्रम और सभी अवस्थाके मनुष्य अधिकारी हैं। किसी देश, स्थान, समय एवं गुणविशेषकी नाममात्रके लिये भी आवश्यकता नहीं है। केवल दृढ़ विश्वासपूर्वक शरणागत होनेकी आवश्यकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज आदि सभी जातिके लोग तथा स्त्री एवं बालक भी परमपिता परमेश्वरकी प्रपत्ति करते हैं। इसी कारण साधुजन सभी प्राणियोंको प्रपत्तिका उपदेश देते हैं और यथासम्भव सभी प्राणियोंको प्रपन्न बनानेकी चेष्टा करते हैं। यदि बीचमें कोई अपाय (विघ्न) न आ पड़े तो प्रपत्तिका फल मानव-जीवनको सबसे अधिक शीघ्र फलदायी होता है और विघ्न आ जानेपर भी वह निष्फल नहीं जाता। फलमें समयका विलम्ब भले ही हो जाय, किन्तु प्रपत्तिका फल अक्षय है। वह नष्ट नहीं होता और प्रपन्न (शरणागत) को एक-न-एक दिन अवश्य ही मिलता है।'

महारानी कयाधू— 'भगवन्! मेरा दानवकुलमें जन्म हुआ और मैं दैत्यराज-की राजमहिषी हूँ। अतएव मैं इस विषयमें सर्वथा अनभिज्ञ हूँ। आपने मुझे भगवत्प्रपत्ति अथवा भगवान् विष्णुकी शरणागतिके जो छः भेद बतलाये हैं वे कौन-कौन-से हैं और उनका पालन कैसे होता है? इसको बतलानेकी भी आप कृपा करें।'

महर्षि नारद— 'बेटी! दानवपुत्रि! तुमने शरणागतिके छः भेदोंको ठीक ही पूछा है। जबतक श्रोता वक्ताके कथनको आद्योपान्त यथार्थरूपसे समझ नहीं लेता तबतक वक्ताका परिश्रम सफल नहीं होता। अतएव तुमने हमारे कथनको सर्वांशमें समझनेकी चेष्टा की है। यह प्रसन्नताकी बात है। बेटी कयाधू! शरणागतिके छः भेद नहीं, छः अङ्ग हैं।

प्रपत्तिरानुकूल्यस्य सङ्कल्पोऽप्रतिकूलता।
विश्वासो वरणं न्यासः कार्पण्यमिति षड्विधा॥

(भारद्वाजसंहिता)

अर्थात् अष्टाङ्गयोगके अनुसार प्रपत्तिके छः अङ्गोंको छः वेदके नामसे पुकारा

जो बालक उत्पन्न होगा, वह तुम्हारे आगे और पीछेकी न जाने कितनी पीढ़ियोंको तारनेवाला होगा एवं उस पुत्रके द्वारा तुम्हारा दैत्यकुल संसारमें अनन्त कालतक प्रसिद्ध और प्रशंसित रहेगा। यदि तुम भयभीत हो और इस समय राज-पाट छिन जाने तथा घर-द्वार नष्ट-भ्रष्ट हो जानेसे तथा देवताओंके आतङ्कसे तुमको कष्ट और भय हो तो भी तुमको घबड़ानेका कोई कारण नहीं। तुम हमारे साथ हमारे आश्रममें चलो और सुख-शान्तिके साथ रहो। हे बेटी दानवसुता! तुम अधीर मत होओ। जब तुम्हारे पतिदेव तपस्यासे लौटकर आवेंगे, तब हम तुमको उनकी सेवामें सुखपूर्वक पहुँचा देंगे।

महर्षि नारदके आज्ञानुसार महारानी कयाधू उनके आश्रमको गयीं और उनकी पर्णकुटीरमें रहने लगीं। यद्यपि प्रसव-समय धीरे-धीरे समीप आने लगा तथापि महारानी कयाधूको प्रसवकी चिन्ता न थी। क्योंकि महर्षि नारदकी कृपासे उनको 'इच्छा-प्रसव'की शक्ति प्राप्त हो चुकी थी और वे निश्चिन्त थीं; किन्तु दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी पटरानी और दानवराज जम्भकी दुलारी पुत्री, जो सदा राजभवनोंमें निवास करती थीं, सैकड़ों दासियाँ जिनकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रहती थीं और संसारका कोई ऐश्वर्य ऐसा न था, जो उनके पैरोंपर लोटता न रहा हो, वही आज जङ्गलकी एक कुटीमें महर्षि नारदकी कृपासे अकेली कालक्षेप कर रही हैं। यह कुटिल कालकी गति और संसारके विचित्र विधाताकी विचित्र मतिके अतिरिक्त और क्या है? महर्षि नारदके वचनोंसे महारानी कयाधू बड़ी ही धीरताके साथ अपना कालक्षेप कर रही थीं। फिर भी समय नहीं कटता था और कभी-कभी एकान्तमें वह बहुत ही उदास और चिन्तित दीख पड़ती थीं। उनको चिन्तित देखकर एक दिन महर्षि नारदजीने कहा—'हे बेटी! तुम चिन्ता मत करो। तुम्हारे दिन शीघ्र ही लौटनेवाले हैं।' महर्षि नारदके वचनोंको सुनकर महारानी कयाधूने कहा कि 'भगवन्! मैं अपने शारीरिक सुखके लिये चिन्तित नहीं, मेरे पुत्रोंको देवराज इन्द्रने बन्दी बना लिया था, मेरे न जाने कितने पितृकुलके सगे सम्बन्धी बन्दी बन गये थे, उनकी क्या दशा होगी? मुझे इसी बातकी चिन्ता रहती है। मुझे आपके वचनोंपर और आपके आशीर्वादपर पूरा विश्वास है, अतएव मुझे प्राणपति दैत्यराजकी चिन्ता नहीं।' इस प्रकार समय-समयपर महर्षि नारद और महारानी कयाधूके बीच बातें हुआ करती थीं और समय भी अपनी अप्रतिहत गतिसे आगे बढ़ता चला जाता था।

पक्षियोंको मारनेके लिये बाण चढ़ाया। ज्यों ही दैत्यराज धनुष उठाने लगा त्यों ही महर्षि नारद और पर्वत मुनि दोनों ही जो पक्षीके रूपमें थे वहाँसे उड़ गये। पक्षी तो उड़ गये किन्तु हरिण्यकशिपुका क्रोध शान्त नहीं हुआ और वह उसी क्रोधके वशीभूत हो तपस्याको परित्यागकर अपने स्थानको चला आया।

यद्यपि दैत्यराज असफल मनोरथ होनेके कारण उदासीन था, तथापि उसके आगमनसे राजधानीमें आनन्द मनाया जाने लगा। लोग प्रसन्न चित्तसे दैत्यराजके दर्शनोंको पहुँचने लगे। दैत्यराजने भी दरबारमें अपना अभिप्राय प्रकट नहीं किया और शान्तचित्तसे किन्तु उदासीनताके साथ वह राजकाजकी देखभाल करने लगा।

किसी प्रकार दिन बीत गया और रात्रिका समय आया। दैत्यराज भी अपने कार्योंसे निवृत्त होकर शयनागारमें जा विराजा और महारानी कयाधू भी धीरे-धीरे वहाँ जा पहुँची। महारानी कयाधू उसी दिन ऋतुस्नानसे निवृत्त हुई थी और अपने प्राणपतिकी सेवाके लिये लालायित थी। महारानी कयाधूने जाकर पतिको प्रणाम किया और आज्ञा पानेपर बैठ गयी। दोनोंमें बातें होने लगीं। और दोनों ही दाम्पत्यप्रेममें संलग्न हो गये; किन्तु समय पाकर महारानी कयाधूने कहा—'प्राणनाथ! आपने चिरकालीन तपस्याके लिये प्रस्थान किया था, किन्तु आप तो शीघ्र ही लौट आये हैं, इसका कारण क्या है? क्या वह कारण मेरे जाननेयोग्य है?'

हिरण्यकशिपु— 'हे कामिनि! हमने अपने मन्त्रियों तथा विद्वान् ब्राह्मणोंके वचनोंको नहीं माना और भाँति-भाँतिके अपशकुनोंके होते हुए भी यात्रा की थी; उसका जो फल होना चाहिये था वही हुआ। यही तुम कुशल समझो कि केवल यात्रा ही असफल हुई और कोई विघ्न नहीं हुआ।'

कयाधू— 'स्वामिन्! क्या तपस्याके योग्य समुचित स्थान नहीं मिला? अथवा तपस्यामें कोई विघ्न उत्पन्न हो गया?

हिरण्यकशिपु— 'प्राणप्रिये! तपस्याके लिये स्थान तो बड़ा ही सुन्दर और एकान्त कैलास पर्वतका शिखर था और हमने तपस्या आरम्भ भी कर दी थी। किन्तु जहाँपर हम तपस्या कर रहे थे वहींपर दो 'कलविङ्क' पक्षी पहुँच गये और वे जोर-जोरसे कहने लगे '**ॐ नमो नारायणाय, ॐ नमो नारायणाय।**' एक बार तो हमने अपना क्रोध सँभाला और ध्यान टूटनेपर भी हम पुनः ध्यानावस्थित हो

गया है। भगवान्‌की अनुकूलताका संकल्प करना, भगवान्‌की प्रतिकूलताका वर्जन करना, भगवान् अवश्य ही हमारी रक्षा करेंगे, यह दृढ़ विश्वास रखना, रक्षकके रूपमें भगवान्‌का वरण करना, भगवच्चरणारविन्दमें आत्मसमर्पण करना और अपने-आपको सर्वथा असमर्थ जानना, इन्हीं छः अङ्गोंके सहित प्रपत्तिके अर्थात् शरणागति-धर्मके अनेक भेद माने गये हैं, जो कर्ताके स्वभावादिके भेदसे सम्बन्ध रखते हैं।

कायिकी, वाचिकी एवं मानसी रूपमें शरणागति तीन प्रकारकी मानी गयी है और उन तीनोंमें भी एक-एकके गुणभेदसे तीन-तीन प्रकार माने गये हैं। जैसे सात्त्विक-कायिकी, राजसिक-कायिकी, तामसिक-कायिकी—ये तीन भेद कायिकी शरणागतिके हैं। सात्त्विक-वाचिकी, राजसिक-वाचिकी, तामसिक-वाचिकी—ये तीन भेद वाचिकी शरणागतिके हैं और सात्त्विक-मानसी, राजसिक-मानसी, तामसिक-मानसी—ये तीन भेद मानसी शरणागतिके हैं। हे बेटी! इन प्रपत्तियोंके लक्षणका वर्णन शास्त्रोंमें बड़े विस्तारसे किया गया है, किन्तु संक्षेपतः उनका सारांश हम तुमको सुनाते हैं, ध्यान देकर सुनो। भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणामादि करना, भगवान्‌के शङ्ख, चक्र आदिके चिह्नको धारण करना और ऊर्ध्वपुण्ड्र आदिसे शरीरको प्रपत्तिचिह्नोंसे चिह्नित करना-कराना कायिकी-प्रपत्ति है। जो चिह्न स्वयं धारण करनेके हैं* उनको स्वयं धारण करना और जो आचार्यचरणोंद्वारा धारण करनेयोग्य हैं† उनको आचार्यचरणोंद्वारा धारण करना चाहिये। जो भगवत्प्रपन्न आचार्यचरणोंके उपदेशानुसार उनके अधीन होकर मन्त्रार्थको भलीभाँति न जानकर भी भगवन्मन्त्रोंका मूलमन्त्र उच्चारण करते हैं उनकी प्रपत्ति वाचिकी-प्रपत्तिके नामसे कही जाती है और भगवान्‌के आयुधादि चिह्नोंसे युक्त जो प्रपन्न अपने आचार्यचरणोंके द्वारा मूलमन्त्रके अर्थको प्राप्त करते हैं और उस मन्त्रार्थका अनुसन्धानपूर्वक आचार्यके आज्ञानुसार आनुकूल्य आदि प्रपत्तिके छहों अङ्गोंको धारण करते हैं उन प्रपन्नोंकी शरणागति मानसी शरणागति कहलाती है।

बेटी कयाधू! इन प्रपत्तियोंमें जो सात्त्विकी, राजसी और तामसीके रूपमें भेद

---

* तिलकादि। †शङ्खचक्रादि।

होना सम्भव है। अतएव भगवद्भक्तिकी ओर जो ध्यान न देकर सुखकी इच्छासे प्रयत्नशील देखे जाते हैं वे ज्ञानी नहीं कहे जा सकते। क्षण-क्षणमें मानवजीवन बड़ी तेजीसे क्षीण हो रहा है। इसको व्यर्थ न जाने देना चाहिये और शीघ्रातिशीघ्र भगवान्की शरणागतिद्वारा मोक्ष-प्राप्तिका उपाय करना चाहिये। जबतक शरीरमें शक्ति है, जबतक कोई विपत्ति न आ पड़े, तबतक कालकी कुटिल गतिसे डरकर शीघ्रताके साथ मोक्षके अर्थ प्रयत्नशील होना चाहिये। वेदोंमें पुरुषकी एक शत वर्षकी आयु कही गयी है। अपने-अपने युग और योनिके अनुसार इसमें भले ही अन्तर होता रहे, किन्तु माध्यम मानसे पुरुषको '**शतायुर्वै पुरुषः**' कहा गया है। यदि हम शत वर्ष आयु मान लें तो आधे आयुका भाग रात्रिमें शयनादिमें व्यर्थ व्यतीत होता है। बालपनेके बीस वर्ष भी मोहवश खेल-तमाशे और अज्ञानदशामें बीतते हैं। वृद्धावस्थाके अन्तिम बीस वर्ष भी जराग्रसित असमर्थ-दशामें व्यतीत होते हैं और शेष आयुका भाग भी युवावस्थाके कामादि शत्रुओंके द्वारा निरर्थक और चिन्तित दशाहीमें व्यतीत हो जाता है। कभी ऐसा समय नहीं आता कि पुरुष, धीर-गम्भीर होकर अपने-आपको मानवजीवनके झंझटोंसे छूटा हुआ पावे। अतएव गृहकार्योंमें आसक्त रहकर कोई भी पुरुष जितेन्द्रिय हो मायामोहरूपी फाँसीसे अपने आत्माको छुड़ा सके, यह कभी सम्भव नहीं। प्राणोंसे भी अधिक प्यारी मनुष्योंकी धनतृष्णा कभी त्यागी नहीं जा सकती और धनोपार्जनद्वारा यदि कोई धनतृष्णाको शान्त करना चाहे तो सर्वथा भूल है। जैसे साहूकार यदि चोरोंको अपना पहरुआ बनाकर अपने धनकी रक्षा कराना चाहे तो भूल है, वैसे ही जो प्राणी धन प्राप्त करके धनतृष्णाको शान्त करना चाहते हैं, वे भूलते हैं। दयालु एवं प्यारी स्त्रियोंका रहस्यमय भाषण, सुन्दर परामर्श और दाम्पत्य-सुख तथा बालकोंकी मनोहर वाणियाँ और सुहृदोंके वियोगादिजनित दुःख जिसके चित्तको फँसा रखते हैं वे कभी शरणागतिके द्वारा त्याग प्राप्त नहीं कर सकते। मानवजन, मायामोहमें पड़कर भगवत्प्रपत्तिके बिना पुत्रोंके स्मरण, बेटियोंकी चिन्ता, भाई-बहिन, दीन माँ-बाप और मनोहर घरबारकी ममता तथा पशुगण एवं परम्परासे चले आये परिकरोंका स्नेह कभी छोड़ा नहीं जा सकता। मनुष्यगण, रेशमके कीड़ेके समान लोभवश चेष्टा किया करते हैं। जिनका अन्त नहीं ऐसे

जिह्वा और शिश्नके विषयोंका वे सेवन करते हैं। वे न कभी तृप्त हो सकते हैं और न उनको उन विषयवासनाओंसे कभी छुटकारा मिल सकता है। जो प्राणी अपने कुटुम्बपालन, परिकर-परिपोषण तथा अपने परिवारमें माया-मोह-वश रमण करते तीनों तापोंसे परितप्त हैं वे कभी भी सांसारिक बन्धनोंसे छुटकारा नहीं पा सकते हैं। इस प्रकार तरह-तरहके मायामोहमें पड़कर वैकुण्ठ जानेकी चेष्टा न कर, न जाने कितने प्राणी अपने जाने-अनजाने पापोंके कारण घोर नरकमें गिरते हैं। जो नर कभी दीन नहीं रहते वे भी न जाने किस कर्म-विपाकसे अपनी शरीर-रक्षामें असमर्थ होकर भी कामिनियोंके विहारमें पड़ते हैं और बेड़ीके समान उस नारीबन्धनसे छुटकारा नहीं पाते। अतएव अपने आत्माके उद्धारके लिये अपने शरीरको सफल एवं जीवनको जीवन बनानेके लिये प्रत्येक प्राणीको चाहिये कि वह आसुरी मायामोहको त्याग कमलपत्रके समान गार्हस्थ्य जीवनमें भी विरक्त भावसे रहकर देवादिदेव जगत्पिता लक्ष्मीनारायणके चरणारविन्दकी शरणागतिके द्वारा मोक्षपदको प्राप्त करे।

बेटी कयाधू! हमारे विस्तृत वर्णनसे तुम घबड़ा-सी गयी हो, पर तुमको घबड़ाना नहीं चाहिये। भगवान् अच्युतके प्रसन्न करनेमें न कोई परिश्रम है, न कुछ भी कठिनाई है और न कोई बाधा है। वे तो जीवमात्रमें व्यापक परमात्मा हैं और सब तरहसे सिद्ध हैं। पर-अपर जीवोंमें ब्रह्मासे लेकर स्थावर-जङ्गम सभीमें तथा पाञ्चभौतिक विकारोंमें समानरूपसे परमात्माको देखो। सबके प्रति प्रीति करना ही उसकी वास्तविक उपासना है। सभी गुणोंमें, गुणोंकी बराबरीमें, गुणोंके उलट-पलटमें एकमात्र वही परमात्मा है, अविनाशी ईश्वर है। उसीकी शरणागति और उसीका भजन करना ईश्वरकी परम उपासना है। सबके आत्मस्वरूप, देखनेके योग्य स्वरूपसे वे कभी व्याप्यव्यापक निर्देश योग्य कभी दिखलायी नहीं पड़ते। क्योंकि वे तो सङ्कल्प-विकल्पहीन ब्रह्म हैं न? अतएव वे केवल मायासे अपने सभी ऐश्वर्योंको छिपा रखते हैं और अनुभवसे आनन्दस्वरूप परमेश्वर, गुणोंके रचनेवाली मायासे ही जाने जाते हैं, इसलिये जीवमात्रमें दया करना, सुहृदता करना और सर्वत्र ईश्वरको सर्वव्यापीरूपसे देखना ही ईश्वरकी परम उपासना है। अनन्त आदिदेव भगवान् लक्ष्मीनारायण यदि प्रसन्न हो जायँ तो सभी वस्तु प्राप्त हो सकती

हैं। धर्म, अर्थ और काम जो अपने-आप सिद्ध हैं उनको या उनके सहायक गुणोंको जो निर्गुणकी चाहना करनेवाले भगवत्प्रपन्न हैं कभी भी सेवन नहीं करते और न उनके प्राप्तिकी इच्छा करते हैं। धर्म, अर्थ, कामको त्रिवर्ग कहते हैं। आत्मा, विद्या, वेदत्रयी, नीतिदण्ड और प्रकारकी वार्ताओंसे युक्त जो ज्ञान हैं सो वेदके सार हैं; परन्तु इनसे भी सारातिसार सर्वश्रेष्ठ है भगवच्चरणारविन्दकी शरणागतिको प्राप्त करना, अतएव सभी सांसारिक बन्धनोंको मिथ्या मानते हुए भगवान्‌को सर्वव्यापी मानकर उनकी शरणागति प्राप्त करना और असुरोंकी तामसी प्रकृतिका परित्याग करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।'

महर्षि नारदजीके महोपदेशको सुनकर गर्भस्थ प्रह्लाद पूरे ज्ञानी तथा परम भागवतका पद पानेवाले हुए और महारानी कयाधूने भी सारी सांसारिक चिन्ताओंकी ज्वालासे मुक्त प्रसन्नमना हो महर्षिके चरणोंमें प्रणाम किया तथा महर्षि नारदजी अपने सन्ध्योपासनके लिये सरोवरकी ओर पधारे। सन्ध्योपासनसे निवृत्त होकर महर्षि नारद पुनः अपने आश्रममें आये और महारानी कयाधूने आकर पुनः प्रार्थना की कि 'हे ऋषिराज! आपने जिन सर्वव्यापी ईश्वरकी शरणागतिका वर्णन किया है, उनके जाननेका सरलतर मार्ग कौन-सा है? यह मैं जानना चाहती हूँ।

महर्षि नारद—'हे दैत्यराज-महिषी! तुमने ठीक ही प्रश्न किया है। धर्मके दो मूल हैं—ज्ञान और शरणागति। पहले ज्ञान प्राप्त होता है तब उसकी शरणागति सुलभ होती है। अवश्य ही ज्ञानमार्ग रूखा और परिश्रमसाध्य है, अतएव साधारण प्राणी उससे घबड़ाते हैं, किन्तु वह शरणागतिकी पहली कक्षाके समान ही है। उसे जो नहीं जानते उनकी शरणागतिमें दृढ़ता नहीं आती। अच्छा सुनो, अब हम तुमसे उस ज्ञानयोगकी चर्चा करते हैं, जिसको शास्त्रकारोंने बड़े विस्तारसे कहा है। हे बेटी कयाधू! जन्म होना, शरीरका बढ़ना, उसकी स्थिति, उसमें परिवर्तन, उसका धीरे-धीरे क्षय और अन्तमें नाश होना—ये छः दशाएँ शरीररूपी दृश्यकी होती हैं। शरीरके स्वामी 'आत्मा' की नहीं। जैसे वृक्षके कच्चे, अधपके और पके फल नष्ट होते हैं, वैसे ही इस मनुष्य-शरीरकी भी गति होती रहती है, किन्तु 'आत्मा' अविनाशी एवं नित्य है। अनेक श्रुतियाँ इसके प्रमाण-रूपमें कही

जाती हैं। उनका भाव है कि 'आत्मा' अव्यय है, क्योंकि वह किसी भी योनिमें जानेपर निर्विकार रहता है। वह शुद्ध है, एक है, क्षेत्रज्ञ है, आश्रय है, अविक्रिय है, व्यापक है, असङ्गी है, अनावृत है, स्वदृक है, सबका हेतु है और नित्य है। ये बारह उसके विशेषण हैं और इन्हीं विशेषणोंसे युक्त 'आत्मा' बृहत्त्वादि गुणोंके सहित चैतन्य ब्रह्म है। यह हमारा है, और हम अमुक हैं—ये असद्भाव अर्थात् झूठे भाव हैं। इनको देह, घर, सम्पत्ति आदिमें जो लगा रखते हैं वे भूलते हैं। ज्ञानियोंको इन असद्भावोंको त्यागकर आत्माके वास्तविक रूपको पहचानना चाहिये। जिस प्रकार चतुर सुनार रासी सोने—मिश्रित सोनेको कसौटीपर परीक्षा करके उसमें मिश्रित धातुओंको गलाकर जला डालते हैं और असली सोनेको उसमेंसे निकाल लेते हैं, वैसे ही अध्यात्मज्ञानको जाननेवाले विद्वान् शरीरमध्यवर्ती जीव होकर आत्माको ज्ञानयोगद्वारा ब्रह्मके रूपमें पहचानते हैं। मूलप्रकृति, महत्, अहङ्कार और पाँच तन्मात्रा—ये आठ प्रकृति हैं। तीन गुण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँचों महाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश—इन विकारोंको कहकर आचार्योंने जीव और ब्रह्ममें एकता दिखलायी है। देह तो सबका सहकारी है, स्थावर-जङ्गम इन दो भेदोंसे मनुष्यके देहमें ही जीवद्वारा पुरुष, परब्रह्मकी परीक्षा करता है। श्रुतियाँ भी जिन परब्रह्मके ज्ञानके सम्बन्धमें ये भी नहीं, ये भी नहीं, नेति-नेति कहकर चुप हो जाती हैं, ज्ञानयोगके सहारे विद्वान् लोग उस परब्रह्मको जानते हैं। मणिकी मालाको देखिये। सभी मणियोंमें सूत प्रविष्ट है—पिरोया हुआ है; इसीको 'अन्वय' कहते हैं और सूत तथा मणि पृथक्-पृथक् वस्तु हैं, इस ज्ञानको 'व्यतिरेक' कहते हैं। इसी प्रकार जगत्की उत्पत्ति, पालन एवं नाशकी वस्तु-स्थितिके जाननेवाले ज्ञानयोगी धीरे-धीरे परब्रह्मको जानते हैं। जगृति, स्वप्न एवं सुषुप्ति ये तीन बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं, जो इन तीनोंका अनुभव नहीं करता है वही सारे जगत्का साक्षीभूत ईश्वर है। इन तीनों बुद्धि-वृत्तियोंसे बुद्धिमें भेद होता है जो आत्मासे सम्बन्ध नहीं रखता। जैसे पुष्पके गन्धको वायु ले जाता है किन्तु वायुमें गन्ध नहीं है, वैसे ही आत्माको भी जानना चाहिये। गुण और कर्म इन्हीं दोनोंसे जीवका बन्धन होता है, ये ही

संसारके द्वार हैं, अज्ञानके फल हैं और वस्तुत: मिथ्या हैं जो मनुष्योंको स्वप्नके समान सत्य मालूम पड़ते हैं। अतएव त्रिगुणात्मक कर्मोंके बीजको नाश करनेवाले ज्ञानयोगको तुम धारण करो, जिससे संसारका धारावाहिक सम्बन्ध दूर होकर परमपद अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो। वही सबसे श्रेष्ठ उपाय है।

हे बेटी दानवदुहिता! जिस प्रकारसे सम्भव हो सहस्र-सहस्र उपायोंसे मनुष्यको चाहिये कि सर्वदु:खहारी जगद्विहारी भगवान्‌को जाने और उनपर प्रीति करे। गुरुकी शुश्रूषाद्वारा भगवद्भक्तिको प्राप्त करना ही परम श्रेयस्कर है। गुरुकी शुश्रूषा, उनकी भक्ति, सत्संग, भागवत-भक्ति और इन सबके द्वारा ईश्वराराधन करनेसे ही ईश्वर प्रसन्न होते हैं। भगवान्‌की कथामें श्रद्धा करे, ईश्वरके गुणकर्मोंका कीर्तन करे, उनके चरण-कमलोंका ध्यान करे, भगवान्‌की प्रतिमाकी पूजा करे, उन्हींका स्मरण करे। उनके ही चरण-कमलोंमें सिर झुकावे। उनको ही संसार-यात्राका सबसे बड़ा साथी—सखा माने, उन्हींकी दासताको स्वीकार करे और उन्हींके चरणकमलोंमें सम्पूर्णतया आत्मसमर्पण कर दे। इस प्रकारसे जो पुरुष भगवान्‌की नवधा भक्ति करते हैं वे इस असार संसारके बन्धनसे मुक्त होकर परमपद मोक्षको प्राप्त होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये शरीरधारियोंके छ: प्रबल शत्रु हैं, जो इन छहों शत्रुओंको जीतकर भगवान् लक्ष्मीनारायणमें प्रीति करते हैं वे ही अपने जीवनको सफल बनाते हैं। जो पुरुष भगवान्‌के अतुल गुण, कर्म, वीर्य आदिको, जिनको वे लीलातनु धारण करके—समय-समयपर अवतीर्ण होकर प्रकट किया करते हैं उनको सुने और जाने, वही मनुष्य सफल-जीवन है। जो पुरुष भगवान्‌के गुणानुवादको सुनकर हर्षविह्वल हो अश्रूपात करने लगते हैं, उनके गुणानुवादको उच्च स्वरसे गाते और नाचते हैं, उन्मत्तके समान भगवान्‌की भक्तिमें लीन होकर चारों ओर उन्हींको पुकारते, हँसते, रोते, ध्यान करते, बारम्बार उसाँसें लेते और उनको सर्वव्यापी समझकर सभी जीवोंको प्रणाम करते तथा प्रतिक्षण हे हरे! हे जगत्पते! हे नारायण! इस प्रकार कहते फिरते हैं एवं जिनकी मिथ्या लोकलाज जाती रहती है वही जीवन्मुक्त जन संसारके बन्धनको तोड़ भगवान्‌के चरणोंको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌के द्वारा ही संसार-बन्धन छूट सकता है।

किये गये हैं, उनको अब हम कहेंगे; तुम ध्यान देकर सुनना। छहों अङ्गोंसे युक्त उन कायिकी, वाचिकी और मानसी प्रपत्तियोंके तीन-तीन भेद इस प्रकार माने गये हैं कि जो प्रपत्ति मोक्ष-प्राप्तिकी विरोधिनी तामसी होती है, उसके कर्ताके हार्दिक भाव, भूतद्रोहात्मक भूतहिंसादिकी इच्छासे प्रेरित होकर सर्वभूतानुकम्पी, सर्वजीव-दयापर भगवान् विष्णुके प्रपन्न होते हैं। जो प्रपत्ति राजसीके नामसे कही गयी है, उसके कर्ताके हार्दिक भाव, ऐहिक और आमुष्मिक—इहलोक और परलोकके नाना प्रकारके भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे अकामैकवत्सल, निष्कामके एकमात्र प्रिय, इन्द्रियगणके नियन्ता भगवान् हृषीकेशके प्रपन्न होते हैं और जो प्रपत्ति सात्त्विकी नामसे कही गयी है, उसके कर्ताके हार्दिक भाव, समस्त त्रैवर्गिक—आर्थिक, कामिक, धार्मिक कामनाओंसे परे शुद्ध दास्यभाव भगवत्कैङ्कर्यरूपी फलकी इच्छावाले होते हैं। इन तीनों शरणागतियोंमें तामसी-शरणागति निन्दनीय, राजसी साधारण और सात्त्विकी उत्तम मानी गयी है। इसलिये प्रत्येक व्यक्तिको चाहे वह किसी जातिका हो, किसी धर्मका हो, किसी अवस्थाका हो और चाहे किसी भी देशका हो भगवच्चरणारविन्दकी अनन्यभक्ति, भगवच्चरणारविन्दकी शरणागति—सात्त्विकी शरणागति कायिक, वाचिक और मानसिक रूपोंसे अवश्य ही करनी चाहिये। मानवजीवनके लिये संसारमें भगवच्छरणागतिसे बढ़कर कोई दूसरा श्रेयस्कर कार्य त्रिकालमें भी नहीं हो सकता।

महारानी कयाधू—'भगवन्! आपके ज्ञानामृत उपदेशसे मेरी तृप्ति नहीं होती और पुनः-पुनः अधिकाधिक उपदेश सुननेकी इच्छा बढ़ रही है, आपने जो शरणागति-धर्मका वर्णन किया, इसमें सन्देह नहीं कि आपके कथनानुसार उससे बढ़कर कोई उपाय नहीं, जो मानवजीवनको सार्थक बनावे, किन्तु उसकी साधनाके लिये हम-जैसी अबला, दानव-दुहिता एवं दैत्य-जायाके लिये क्या कर्तव्य है? यह अभीतक मेरी समझमें नहीं आया, कृपया बतलाइये।'

महर्षि नारद— 'हे दैत्यराजमहिषी! इन्द्रियोंके जो सुख हैं सो शरीरके सम्बन्धसे देहधारीमात्रको सभी योनियोंमें भाग्यानुसार प्राप्त होते हैं, किन्तु भगवान्‌की भक्ति एवं प्रपत्ति, आचार्यद्वारा इसी मानवशरीरको प्राप्त होती है, अन्य योनियोंको नहीं। सुखका तो दुःखकी तरह ही अपनी अनिच्छासे भी प्राप्त

अतएव सबको उन्हींकी भक्ति, उन्हींका भजन और उन्हींका ध्यान करना चाहिये। ईश्वर जो अपने अन्तरात्मामें सदा विराजमान हैं उनकी उपासनामें कौन-सा परिश्रम है? जो ईश्वर सर्वव्यापी है, उसकी उपासनामें कौन-सी कठिनाई है? जो ईश्वर माता, पिता, भ्राता, सखा, सुहृद् आदि सभी भावनाओंसे पूजा जा सकता है उसकी उपासनामें क्या अड़चन है? अर्थात् कुछ भी नहीं। अतएव मानव-जीवनको पाकर परब्रह्म परमात्माकी ही उपासना करके संसारसे मुक्त होना सर्वश्रेष्ठ धर्म है। हरिस्मरण ही परम मन्त्र है और हरि-पूजन ही परम श्रेयस्कर कार्य है।

हे बेटी कयाधू! विषयवासनाओंमें पड़कर सांसारिक बन्धनोंमें फँसना मानवधर्म नहीं है। स्त्री, धन, पुत्र, पशु, घर, भूमि, हाथी, खजाने, विभूति—ये सब-के-सब मानव-आयुके समान ही क्षणभङ्गुर हैं और ये सभी चलायमान हैं, ये कभी मानवशरीरसे कोई प्रेम नहीं रखते। अतएव इनपर ममता रखना भूल है। सभी सांसारिक ऐश्वर्य जो यज्ञ आदि पुरुषार्थोंसे प्राप्त हैं वे नाशवान् हैं। पुण्यकी न्यूनाधिकताके अनुसार ही इनकी अवधि होती है, किन्तु मोक्षमें ये बातें नहीं हैं, अतएव एकमात्र भगवान्की भक्तिसे प्राप्त मोक्ष ही अक्षय और सबसे श्रेष्ठ है। अतएव सभी मनुष्योंको भगवद्भक्तिमें लग जाना चाहिये। जो अपनेको विद्वान् मानते हैं और कामनाके वशीभूत कर्म करते हैं, वे भूलते हैं। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि लोग सुखके लिये प्रयत्न करते हैं, किन्तु उनको दुःख प्राप्त होता है; किन्तु जो मनुष्य निष्काम हो भगवत्कैङ्कर्य करते हैं, उनको अनायास ही सांसारिक सुख एवं परमपद मोक्षकी प्राप्ति होती है। कुटुम्ब, परिवार, राजपाट, सुख-समृद्धि ये सब मानवशरीरसे सम्बन्ध रखते हैं और शरीर अनित्य है, क्षणभङ्गुर है, पराया है, अतएव इन कुटुम्बादिके सम्बन्धसे जो सकाम उपासना आदि कार्य किये जाते हैं वे भी परायेके अर्थ, नाशवान् और व्यर्थ हैं। परमानन्दरूपी भगवत्प्राप्तिके सम्मुख ये स्त्री-पुत्रादि सुख तुच्छातितुच्छ हैं। देहधारी मानवजनोंको संसारमें कौन-सा स्वार्थ है? देखो न, जन्मसे मरणपर्यन्त अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ये किस प्रकार भाँति-भाँतिसे पीड़ित रहते हैं। अपने आत्माके अनुसार यह जीव देहके द्वारा कर्मोंको आरम्भ करता है, कर्मोंके अनुसार ही देह प्राप्त होता है, किन्तु ये दोनों ही अज्ञानमय हैं। अतएव अर्थ, धर्म

एवं कामकी इच्छाओंको त्यागकर निष्काम भावसे ईश्वरको भजनेसे ज्ञानयोगद्वारा मोक्ष प्राप्त करना सबसे श्रेष्ठ है। समस्त जीवोंके आत्मा और प्रियतम एकमात्र श्रीहरि हैं, जिनको योगिजन परब्रह्म परमात्माके नामसे ध्यान करते हैं। पञ्च महाभूतोंसे बने हुए इन शरीरोंमें अपने किये हुए कर्मानुसार इन जीवोंको अन्तर्यामीरूपसे उन्हींको समझना चाहिये। उन्हीं परमात्मा मुकुन्दके चरणारविन्दको भजते हुए न जाने कितने देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व आदि सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त होकर परमानन्दरूपी मोक्षको प्राप्त हुए हैं। हे बेटी! जाति, वर्ण, अवस्था, ज्ञान आदि कुछ भी भगवान्‌के प्रसन्न करनेके लिये साधन नहीं हैं। दान, तप, शौच, व्रत आदि पुण्याकर्मोंसे बहुत अधिक कालमें अन्तरात्माको पवित्रता प्राप्त होती है, किन्तु भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये और शीघ्रातिशीघ्र प्रसन्नताके लिये एकमात्र निर्मल भक्तिकी आवश्यकता है। अतएव कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको हरिभक्ति करनी चाहिये और सर्वत्र समदर्शी बनकर सबको प्रेमकी दृष्टिसे देखना चाहिये। ऐसा करनेसे ही परमलाभ और अक्षय सुख प्राप्त होता है।'

ग्यारहवाँ अध्याय

हिरण्यकशिपुको वर-प्राप्ति

प्रह्लादका आविर्भाव देवताओंमें खलबली

धीरे-धीरे दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी तपस्या पूरी हुई और उसके समीपमें दक्ष, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु आदि अपने मानसपुत्रोंके सहित जगत्स्रष्टा ब्रह्माजी जा पहुँचे*। हिरण्यकशिपुका शरीर हड्डियोंकी ठठरीमात्र रह गया था और उसके ऊपर भी दीमक लग गये थे। ब्रह्माजीने कहा, हे 'कश्यपनन्दन! तुम्हारी तपस्या पूरी हो गयी, अब उठो और मनोवाञ्छित वर माँगो। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। तुम्हारे समान अद्यावधि किसीने कठिन तप नहीं किया। एकाग्रचित्त होकर धैर्यशाली तप करनेवाला आजतक मैंने तुम्हारे समान तुम्हींको पाया है। भला, जलतक परित्याग करके किसने इतने दिनोंका कठिन तप किया है? और यदि कोई ऐसा करता भी तो वह जीता ही कैसे रह सकता था? हे दैत्यराज! उठो, जो चाहो वर माँगो।' परन्तु ब्रह्माजीके इन वचनोंको सुननेवाला था कौन? दैत्यराज तो तपस्यामें लीन था और उसका शरीर हड्डियोंकी ठठरीमात्र रह गया था। उत्तर देता तो कौन देता? कुछ समयतक ठहरकर ब्रह्माजीने अपने कमण्डलुसे जल निकाल और उसे मन्त्रपूत करके ज्यों ही दैत्यराजके ऊपर छिड़का त्यों ही उस अस्थिमात्र अवशिष्ट दैत्यराजके शरीरमें अमोघ बल उत्पन्न हो गया। उसका शरीर पूर्ववत् सुन्दरतायुक्त

---

* पद्मपुराण उत्तरखण्ड अध्याय ९३ के अनुसार हिरण्यकशिपुने शिवजीके पञ्चाक्षर-मन्त्रका जप किया था और शिवजीने ही वर प्रदान किया था, किन्तु अधिकांश पुराणोंमें ब्रह्माजीके द्वारा वरप्राप्तिकी कथा है। सम्भवत: शिवजीके वरदानकी कथा कल्पान्तरकी कथा है।

पचीस वर्षकी युवा अवस्थाका और असीम साहससे पूर्ण हो गया।

जब मन्त्रपूत जलके प्रभावसे दैत्यराज हिरण्यकशिपुको चेत हुआ और उसने अपनी आँखें खोलीं तब उसने अपने सामने मानसपुत्र महर्षियोंके सहित हंसवाहन जगत्स्रष्टा ब्रह्माको मुसकुराते हुए देखा। देखते ही उसने साष्टाङ्ग प्रणाम कर रोमाञ्चित करनेवाले भावसे कहा, 'नाथ! आपने असीम कृपा की है कि मुझ निर्जीव व्यक्तिको जीव, निर्बलको बल और निराधारको आधार देनेका अनुग्रह किया है। भगवन्! मुझमें ऐसी शक्ति नहीं कि मैं आपकी स्तुति कर सकूँ और आपकी इस असीम अहैतुकी कृपाके लिये आपके प्रति शब्दोंद्वारा कृतज्ञता प्रकट कर सकूँ।' इतना कहते-कहते दैत्यराजके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी और उसका शरीर पुलकित हो उठा।

ब्रह्माजी—'हे पुत्र! अबतक तुमने जो कठिन तप किया है उसका फल आज तुम्हारे सामने उपस्थित है। जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा तुम अब 'वर' माँगो। हम तुमको सब कुछ देनेके लिये तैयार हैं।'

हिरण्यकशिपु —'भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और वर देनेके लिये तैयार हैं तो आप मुझको 'अमरत्व' प्रदान करें। मैंने देवताओंके अत्याचारोंसे बचनेके लिये ही यह तपस्या की है। मेरा एकमात्र अभीष्ट है 'अमरत्व प्राप्त करना।'

'*ब्रह्माजी* —'हे दैत्यराज! यह सारा जगत् प्रकृतिके अधीन है। मैं और शिवजी भी उसीके आज्ञानुसार काम करते हैं। इस जगत्में अमर कोई नहीं है। यहाँतक कि मैं भी अपने एक सौ वर्षकी आयुतक ही रह सकता हूँ। अतएव तुम्हारे माँगे हुए 'वर' को देनेमें मैं असमर्थ हूँ। मैं स्वयं ही जब अमर नहीं हूँ, तब तुमको अमर बनानेमें कैसे समर्थ हो सकता हूँ? हाँ, 'अमरत्व' के अतिरिक्त अन्य जो कुछ तुम माँगना चाहो, माँग लो। मैं तुम्हारे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ और जो कुछ मेरी शक्तिमें है, उसको देनेके लिये तैयार हूँ।'

हिरण्यकशिपु— 'हे जगत्के सिरजनहारे नाथ! आपने ठीक ही कहा है, किन्तु मैं अब भी अधीर नहीं। आप 'अमरत्व' नहीं दे सकते तो न दें, मैं

दूसरा वर माँगता हूँ। आप मुझे यह वर दें कि 'आपने जो कुछ बनाया या सिरजा है, चाहे वह देव, दानव, दैत्य आदि देवयोनिके प्राणी हों और चाहे मानवादि योनिके प्राणी अथवा कोई भी आपका सिरजा हुआ प्राणी हो, उसके द्वारा मेरी मृत्यु न हो। मेरी मृत्यु न घरके भीतर हो न घरके बाहर। न रातमें हो न दिनमें। मेरी मृत्यु न पृथिवीमें हो और न आकाशमें। न मुझे प्राणी मार सकें न अप्राणी। इतना ही नहीं, मैं इसी शरीरसे आपके समान ही समस्त लोकपालोंका अधिपति बनकर रहूँ।'

दैत्यराजके अद्भुत वरको स्वीकार कर ब्रह्माजीने तथास्तु कह अपने लोकके लिये प्रस्थान किया और महर्षिगण भी अपने-अपने आश्रमको पधारे। हिरण्यकशिपु भी मन-ही-मन बड़ा ही प्रसन्न हुआ और उसने सोचा कि 'मैंने ब्रह्माजीको भी भुला दिया और प्रकारान्तरसे अमरत्वहीका 'वर' प्राप्त कर लिया है। अब देखता हूँ मेरे शत्रु देवतागण और उनका पक्षपाती विष्णु जो मेरे भाईका घातक है, किस कन्दरामें छिपकर अपनी-अपनी जान बचाते हैं और मेरे विरुद्ध कैसा षड्यन्त्र रचते और किसकी दुहाई देते हैं? इधर दैत्यराजने वर प्राप्तकर अपने घरके लिये प्रस्थान किया और उधर देवताओंमें वरदानका समाचार सुन ऐसी खलबली मच गयी कि जिसकी कोई सीमा नहीं। देवताओंने दैत्यराजके परिवारके साथ उसकी अनुपस्थितिमें जो सुलूक किया था उसका बदला लेनेको दैत्यराज आ गया। अतएव देवतागण-विशेषकर देवराज इन्द्र, **'कृतापराधः स्वयमेव शङ्कते'** के अनुसार अधीर हो उठे। देवराजने जिन दैत्य सेनापतियोंको बन्दी बना रखा था, जिन दैत्यराजकुमारोंको अपने जेलखानोंमें ठूँस रखा था, उनसे क्षमा माँग-माँगकर उन सबको छोड़ दिया और समस्त देवता तथा दिग्पालगण अपनी-अपनी रक्षाके लिये उपाय ढूँढ़ने लगे।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु अपूर्व वर प्राप्त करके अपनी राजधानी 'हिरण्यपुर'में जो आज मुल्तान नामसे प्रसिद्ध पंजाबप्रान्तका एक नगर है, जा पहुँचा। राजधानीको देवराज इन्द्रने पहलेहीसे तहस-नहसकर डाला था, किन्तु उसका भग्नावशिष्ट खँड़हर मौजूद था। दैत्यराज हिरण्यकशिपुने देवराजकी सारी काली करतूतें सुनीं और यद्यपि उसको इतना क्रोध आया कि उसकी

आँखें लाल हो गयीं और वह दाँत कटकटाने लगा, तथापि उसने उस समय युद्ध न छेड़ धैर्य धारणकर अपनी राजधानीको पुनः सजाने और अपने समस्त सैनिक-सामन्तोंको सँभालनेका कार्य आरम्भ किया। थोड़े ही समयमें बड़े-बड़े शिल्पियोंद्वारा 'हिरण्यपुर' पुनः 'हिरण्यपुर' हो गया। उसकी शोभा देखकर देवराज इन्द्रकी अमरावतीको भी लज्जा जान पड़ने लगी। इसी बीचमें दैत्यराजके राजकुमार जो देवराज इन्द्रके यहाँ बन्दी थे तथा सारे-के-सारे सेनापति भी आ गये और दैत्यराजके आगमनका समाचार सुनकर महर्षि नारदजीने गर्भवती महारानी कयाधूको भी लाकर उसके प्राणपति दैत्यराजको सौंप दिया। प्राणप्रिय पुत्रों तथा प्राणप्रिया भार्याके मुखसे भी दैत्यराज हिरण्यकशिपुने देवराज इन्द्रके क्रूरतापूर्ण अमानुषिक अत्याचारोंको सुना। अपनी अनुपस्थितिमें अपने अन्तःपुरके ऊपर देवराजके आक्रमणका वृत्तान्त सुनकर दैत्यराजके मुखसे सहसा निकल पड़ा कि ये काम कायरों, चोरों और डाकुओंके हैं, वीरोंके नहीं। हम इन अत्याचारोंका उत्तर लम्पट इन्द्रके कार्योंके रूपमें नहीं, वीरताके साथ देंगे। आप लोग धैर्य धारण करें।

एक तो पहलेसे ही देवताओंके प्रति शत्रुताके भाव दैत्यराजके हृदयमें थे, दूसरे उनकी अनुपस्थितिमें उनकी राजधानी एवं उनके अन्तःपुरमें देवताओंने जो अत्याचार किये थे वे घीकी आहुतिके समान अग्निको—क्रोधाग्निको प्रज्वलित करनेवाले हुए। दैत्यराजने वर प्राप्तकर लौटनेपर जब राजधानी एवं राजप्रासादकी रचना पूर्ववत् करा दी और पुनः स्वस्थ होकर शासन करने लगे, तब उन्होंने अपने राज्यमें ढिंढोरा पिटवा दिया कि "यदि कोई भी स्त्री, पुरुष अथवा बालक किसी भी देवताकी पूजा करेगा अथवा देवताओंका पक्ष लेनेवाले विष्णुकी पूजा-अर्चा करेगा तो उसको कठिन-से-कठिन दण्ड दिया जायगा। इतना ही नहीं, यदि कोई विष्णुका नाम उच्चारण करेगा तो उसको भी कारागारमें बन्दकर कठोर दण्ड दिया जायगा।' इस प्रकारका ढिंढोरा पिटते ही सारे साम्राज्यमें हलचल मच गयी और बेचारे विष्णु-भक्तोंको जिस कठिनाईका सामना करना पड़ा, उसका तो अनुमान करना भी इस स्वतन्त्र विचारके जमानेमें असम्भव है। न जाने कितने भगवद्भक्त कारागारवासी हुए और न जाने कितनोंको तरह-तरहकी यातनाएँ भोगनी पड़ीं तथा कितने ही तलवारके घाट उतारे गये। राज्यभरमें अवैष्णवताका अन्धकारमय

जड़वाद फैल गया और कहीं ढूँढ़नेपर भी देखनेको विष्णुभगवान्‌का मन्दिर और वैष्णव न मिलने लगे।

दैत्यराज हिरण्यकशिपुको ब्रह्माका वरदान मानो अमोघ ब्रह्मास्त्र मिल गया और वह अपना वैरभाव देवताओंसे चुकाने लगा। कितने ही देवताओंको उसने अपने कारागारोंमें बन्दकर उनके सारे-के-सारे अधिकार छीन लिये और शक्तिशाली लोकपालोंको अपने अधिकारमें रख दासताकी बेड़ीमें 'जकड़ दिया। न जाने कितने ही देवता दैत्यराजके भयसे भयभीत हो अपने लोकहीसे चल दिये और मर्त्यलोकमें मनुष्योंके वेशमें रहने तथा येन-केन-प्रकारेण अपना-अपना जीवन-यापन करने लगे। उसके साम्राज्यमें देव-ब्राह्मणोंकी पूजा, भाँति-भाँतिके यज्ञ और अनुष्ठानोंका अन्त हो गया तथा तामसी विद्याओंका खासा प्रचार होने लगा। वैदिक ब्राह्मणोंतकमें मारण, मोहन, उच्चाटन आदिकी ही शिक्षाएँ अधिकतासे प्रचलित हो गयीं और सात्त्विकी विद्याओंका लोप-सा हो गया। दैत्यराज तथा उसके सभी अधिकारी सारे संसारकी ऋद्धि, सिद्धि और अक्षुण्ण अधिकारोंको पाकर मदान्ध हो गये और सारी चिन्ताएँ छोड़ उन सबके अन्तःकरणमें एकमात्र विष्णुका वैर-ही-वैर रह गया। दैत्यराजको रात-दिन यही चिन्ता रहती कि किस प्रकारसे कहाँ विष्णु मिलें कि उनसे भाईका बदला चुकाऊँ और उनको मारकर देवताओंका आश्रय मिटा दूँ।

उधर दैत्यराजके तामसी शासनसे सारा संसार कम्पायमान हो रहा था और तामसी असुरोंकी पाँचों अँगुलियाँ घीमें थीं और इधर महारानी कयाधू प्रसवकाल समीप आनेसे बड़े ही विस्मयमें थीं। जिस समयसे प्रह्लाद माताके गर्भमें आये थे उसी समयसे यद्यपि उनको तरह-तरहके विलक्षण स्वप्न होते थे, तथापि जैसे-तैसे प्रसवकाल समीप आने लगा वैसे-ही-वैसे स्वप्न भी अधिकाधिक होने लगे। महारानी कयाधू स्वप्नमें कभी भाँति-भाँतिके देव-देवियोंके आगमन देखती थीं, कभी भक्तिमें मग्न होकर उनको नाचते-गाते देखतीं और सुनती थीं और कभी विष्णुभगवान्‌का पूजन और उनका महोत्सव मनाते हुए देववृन्दको देखती थीं। कभी-कभी तो जग जानेपर भी वह कुछ ही दूरीपर हरि-नाम-कीर्तनकी मधुर ध्वनि और विष्णुभगवान्‌के

जयजयकारका शब्द सुनती थीं। इतना ही नहीं, कभी-कभी वह प्रत्यक्षमें भी वायुरूप देवोंको भगवद्भक्तका जयजयकार करते हुए भी देखती थीं और यह सब कुछ देख-सुनकर वह बड़े विस्मयमें समय बितातीं थीं।

महारानी कयाधू विस्मयमें इस कारण पड़ी थीं कि इन दैवी घटनाओंको देख और सुनकर उनको महर्षि नारदके वचन स्मरण आते और वह विश्वास करती थीं कि हमारे गर्भसे संसारमें कीर्ति फैलानेवाला एक महापुरुष उत्पन्न होगा, किन्तु उसके साथ उनको यह भय भी सताता था कि यदि प्राणपति दैत्यराजको यह समाचार मिल गया तो सम्भवतः वे गर्भहीको नष्ट करा डालेंगे। इसी कारणसे वे अपने स्वप्नकी देखी और सुनी बातोंको किसीके आगे प्रकट करना नहीं चाहती थीं और बिना प्रकट किये हुए उनका हृदय एक अपूर्व अवस्थाको प्राप्त हो गया था। अन्तमें कोमल रमणीका हृदय इन बातोंको छिपा न सका और एक दिन जब पुरोहितजी उनके अन्तःपुरमें आये, तब उनसे एकान्तमें रानीने अपने स्वप्नकी सारी बातें कह सुनायीं। पुरोहितजी यद्यपि राजाकी आज्ञाके भयसे प्रत्यक्षतः विष्णुभक्त न थे, तथापि वस्तुतः वे थे परम वैष्णव और द्विज-देवताओंके शुभचिन्तक। पुरोहितजीने महारानी कयाधूकी सारी बातें सुनकर कहा कि 'हे दैत्यराजमहिषी! हमने आपके सभी लक्षणोंको देखा और स्वप्नकी सारी बातें सुनीं। आप चिन्ता दूर करें। आपके गर्भसे जो बालक होगा उसके द्वारा आपके दोनों हीं कुल—पितृकुल तथा श्वशुरकुल संसारमें प्रसिद्ध होंगे। वह बड़ा यशस्वी होगा एवं धन्य-धन्य होगा। वह बालक संसारभरका हितकारी और महापुरुष होगा। बस, इतना ही इस समय हम आपसे कहते हैं। किंतु इसीके साथ इस बातका अनुरोध भी करते हैं कि यदि अपना तथा अपने दोनों कुलोंका कल्याण आपको इष्ट है तो इस बातकी चर्चा अब किसीके भी आगे न करना।' महारानी कयाधूने पुरोहितकी हितभरी बातोंको सुनकर स्वप्नचर्चाको गुप्त रखनेकी प्रतिज्ञा की और प्रतिज्ञाको अन्ततक निबाहा भी। उस दिनके पश्चात् किसीको कानोंकान स्वप्नका समाचार नहीं मिला।

इस घटनाके पश्चात् थोड़े ही दिनों पीछे परमपुनीत समयमें परमभागवत प्रातःस्मरणीय भक्तशिरोमणि प्रह्लादका पवित्र एवं कल्याणप्रद आविर्भाव हुआ।

बालकके भूमिष्ठ होते ही चारों ओर मङ्गलमय वाद्यध्वनि होने लगी, नगाड़े बजने लगे और सारे राजमहलमें ही नहीं, सारे नगरमें मङ्गलाचार होने लगे। नवजात शिशुके अपूर्व रूप-लावण्य, सुन्दर शारीरिक गठन एवं सारे मन्दिरको प्रभान्वित कर देनेवाली उसकी प्रभाको देखकर, माता अपनी प्रसववेदनाको भूलकी आनन्दमग्न हो गयी। माता सोचने लगी कि 'यह बालक साधारण राजकुमार नहीं है, यह अद्भुत रूपधारी परमपावन ईश्वर-दूत अथवा कोई ईश्वरीय शक्तिसम्पन्न देवताका अवतार है और ईश्वरके किसी विशेष कार्यको सम्पन्न करनेके लिये इसका आविर्भाव हुआ है।' एक तो माताका पुत्र-वात्सल्य-रस यों ही प्रेमके रूपमें सहस्रधार होकर प्रवाहित होता रहता है, दूसरे अपने पुत्रके अलौकिक तेजस्वी स्वरूप एवं चैतन्य शक्तिको देख तथा महर्षि नारद एवं पुरोहितके वचनोंको स्मरण कर महारानी कयाधू पुत्र-स्नेहमें निमग्न हो गयीं और बारम्बार नवजात शिशुको चूमने लगीं। इतना ही नहीं, दैत्यराज हिरण्यकशिपु तो जो कुछ कर रहे थे करते ही थे, महारानीने अपने अन्तःपुरके लिये यह आदेश दे दिया कि उस समयतक मुक्तहस्तसे दान-पुण्य बराबर होता रहे जबतक कि अशौच नहीं लगता।

बात-की-बातमें सारी राजधानीमें, हिरण्यपुरके मुहल्ले-मुहल्ले और घर-घरमें राजकुमारके जन्मके आनन्दमें महोत्सव मनानेका समारोह होने लगा। चारों ओर नवीन नगरमें नवीन उत्साहके साथ मङ्गलमय उपकरणोंसे सुसज्जित नवयुवतियोंके झुण्ड-के-झुण्ड बधावा लेकर राजप्रासादकी ओर जाते दिखलायी देने लगे। गुण-गरिमा-गर्वित गवैये अपनी राग-रागिनियाँ अलापते हुए माङ्गलिक गाने गाने लगे। राजधानीमें चारों ओर ऐसी चहल-पहल मच गयी कि कोई किसीकी बात भी नहीं सुनता था। '**दीयताम्, दीयताम्**'के शब्दकी प्रतिध्वनिके समान ही '**गृह्यताम्**' '**गृह्यताम्**' की प्रतिध्वनिसे आकाश प्रतिध्वनित होने लगा। महाराज शुक्राचार्यके सुपुत्रकी सम्मतिसे बालकके सविधि जात-संस्कार किये गये।

बालक अपूर्व था, उसकी प्रभा विलक्षण थी और वह धीरे-धीरे नहीं, बड़ी शीघ्रताके साथ शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान नित्य ही कुछ-न-कुछ उन्नति

करने लगा। समयानुसार उसके निष्क्रमण एवं नामकरण आदि संस्कार भी सविधि कराये गये और आचार्यने उसका नाम 'प्रह्लाद' रखा। यद्यपि यह राजकुमार प्रथम राजकुमार नहीं था फिर भी इसकी सुन्दरता, इसके भविष्य-चरित्रका प्रभाव तथा इसके तेजपुञ्ज मुख-कमलको देखकर, माताका तो कहना ही क्या था दैत्यराज हिरण्यकशिपु भी अपने-आपको आनन्दके अगाध सागरमें निमग्न देखने लगा। इस नवजात शिशुके सामने मानो पूर्वोत्पन्न पुत्रोंका स्नेह-स्मरण ही जाता रहा।

इधर असुर-समुदायमें चारों ओर आनन्द-बधाई बजती थी और सब लोग राजकुमारके जन्मोत्सवका आनन्द मना रहे थे, उधर देवताओंमें परमभागवत प्रह्लादके आविर्भावका समाचार पहुँचते ही, अपनी सारी विपत्तियोंको भुलाकर, दासताकी बेड़ियाँ बजा-बजाकर आनन्द मनाया जाने लगा। भविष्यकी आशापर, जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीके आश्वासनके भरोसेपर प्रह्लादके जन्मकालमें असुरोंकी अपेक्षा देवताओंमें कम नहीं, प्रत्युत अधिक आनन्द मनाया जाने लगा, किन्तु असुरोंका आनन्द प्रकटरूपमें था और देवताओंका आनन्द हृदयगत और गुप्त था। सारांश यह कि प्रह्लादके आविर्भावसे सारा संसार आनन्दित हो गया। देव, दनुज, मनुज आदि सभी जातियोंके घर आनन्दका समुद्र उमड़ने लगा।

बारहवाँ अध्याय

प्रह्लादका बालचरित्र

भक्तिका भाव

प्रह्लादके शारीरिक सौन्दर्य, अपूर्व तेज और विचित्र बालचरित्रकी महिमा धीरे-धीरे सारे नगरहीमें नहीं, प्रत्युत सारे साम्राज्यमें कही और सुनी जाने लगी। उनकी शैशवकालीन मधुर हँसी, उनका मचलना और उनकी तोतली बोलीके अस्फुट शब्दों एवं भावोंको देखने और सुननेके लिये केवल दास-दासी, पुरजन-परिजन, सगे-सम्बन्धी ही नहीं, प्रत्युत अगणित प्रजाजन भी लालायित रहते और अपने आनन्दका सर्वोत्तम साधन समझते थे। दैत्य, दानव, असुर-वृन्द तथा उनकी प्रजाओंके न जाने कितने लोग यहाँतक कि देवतागण भी वेष बदलकर उन परमभागवतके अपूर्व दर्शनके लिये जाते और दर्शन पाकर अपने-आपको कृतकृत्य समझते थे।

बालक प्रह्लादमें आदर्श बालकोंके सारे उत्तम गुण थे। मुखपर अव्यक्त हँसी, शान्ति, सुन्दरता और विकसित पद्मपुष्पके समान प्रभा छायी रहती थी। रोना, क्रोध करना, जडतापूर्ण चञ्चलता आदि बालकोंके दुर्गुण तो छूतक नहीं गये थे। इन्हीं गुणोंके कारण, बालक प्रह्लादने अपनी अबोध बाल-अवस्थाहीमें आस्तिक-नास्तिक सारी प्रजाके, अपने असुर एवं सुरकुलके लोगोंके हृदयोंपर इतना प्रभाव जमा लिया था कि न जाने कितने लोग दिन-रातमें दो-एक बार बिना उन बालक प्रह्लादके मुखारविन्दको देखे, अधीर-से हो जाते थे। इसी प्रकार उनका अबोध बालकाल बड़ी ही विलक्षण रीतिसे व्यतीत हुआ।

लोग समझते थे कि बालक होनहार है, सीधा है, शान्त है और गम्भीर है। बालक राजकुमार है, अतएव उसमें इन गुणोंका होना अचरजकी बात नहीं, किन्तु वास्तवमें वहाँ कुछ और ही बात थी और उसके जाननेवाले विरले ही थे।

बालक प्रह्लाद अबोध अवस्थामें भी वस्तुत: अबोध न थे। उनको महर्षि नारदके उपदेशने उस अवस्थामें भी हरि-भक्तिमें लीन और संसार-बन्धनसे विहीन कर दिया था। उनका मन शान्त था और ज्ञानीके समान वे सदा गम्भीर रहते थे। इसी कारण उनमें अपने-परायेका भाव नहीं था। वे सारे संसारको अपना और अपने स्वामी सर्वव्यापी भगवान् विष्णुका स्वरूप समझते थे तथा सबके प्रति समान प्रेम-भाव रखते थे। एक दिन भी किसी-न-किसी मानुषी अथवा आसुरी प्रकृतिके अधीन उनको नहीं देखा। जड-चेतन सभी चराचर उनके प्रेमकी वस्तुएँ थीं। समस्त फूल-पत्तों, पशुओं एवं पक्षियोंकी हँसीके साथ वे हँसते और उनके गानेके साथ गाते थे और अपनी नन्हीं-नन्हीं-सी तालियाँ बजाते थे। साधारण बालकोंके समान उनकी चेष्टा कभी देखी नहीं जाती थी। वे न कभी किसी चीजको अपने हाथों पकड़नेकी चेष्टा करते थे और न कभी चिन्ता एवं कष्टका अनुभव करते थे। वे सदा प्रसन्न रहते थे। हाँ, उनको एक चिन्ता—नहीं-नहीं, एक अभिलाषा अवश्य थी, वह थी अपने नाथको जानने, उनको पहचानने और उनको पानेकी।

जिस समय उनके संगी-साथी बालक चारों ओर खेलकूद मचाते और दौड़-धूप करते थे। उस समय भी वे शान्तचित्तसे एकान्तमें बैठकर न जाने क्या सोचते और मन-ही-मन क्या मुसकुराया करते थे। जिस समय प्रह्लादके साथी बालक जोर-जोरसे शोर मचाते, नाचते, कूदते और आपसमें मारपिटौवल कर रोते-चिल्लाते थे। उस समय भी बालक प्रह्लादकी शान्ति भङ्ग नहीं होती थी और वे अपने मानसिक गूढ़ आनन्दमें मग्न रहते थे। वे कभी स्वयं शोर-गुल मचानेमें सम्मिलित नहीं होते थे और ऐसे चुप बैठे रहते थे, मानो उनको न तो वह शोरगुल ही सुनायी पड़ता है और न बालकोंके खेल-तमाशे ही दीख पड़ते हैं। अवश्य ही उनके हृदयमें महर्षि नारदके उपदेशोंके द्वारा भगवद्भक्तिकी तरंगें हिलोरें मार रही थीं और वे सारे संसारको ही उस परमात्माका रचा हुआ एक विचित्र खेल समझते तथा स्वयं उसी खेलमें लीन रहते थे, इसलिये उनको अपने साथी बालकोंके नकली खेल-तमाशे और शोर-गुल दिखायी और सुनायी नहीं पड़ते थे। उनकी ओर उनका खयाल ही नहीं था।

कभी-कभी प्रह्लादके भाई-बन्धु और सगे-सम्बन्धियोंके लड़के जो उनके साथ खेलने-कूदनेके लिये रहते थे, बलात् उनको अपने साथ खेलनेके लिये पकड़ ले जाते थे। उस समय वे उन बालकोंसे अपनेको छुड़ानेकी चेष्टा न कर ऐसी मधुरी हँसी हँसते थे कि उनको पकड़ ले जानेवाले वे सभी बालक मोहित होकर हँस पड़ते और प्रह्लादको छोड़ अपने अन्यान्य साथियोंके साथ खेलने-कूदने लगते थे। बालक प्रह्लादकी इन सब अद्भुत लीलाओंको देख-देख और सुन-सुनकर उनके ऊपर प्रतिक्षण दृष्टि रखनेवाली उनकी जननी महारानी कयाधूको बारम्बार महर्षि नारदजीके तथा पुरोहितके वचन स्मरण हो आते थे, इससे वे जिस अपूर्व आनन्दका अनुभव करती थीं, उसको पुत्रवात्सल्य-रसकी जाननेवाली माताएँ ही अनुभव कर सकती हैं, दूसरे तो उसका अनुमान भी नहीं कर सकते।

एक दिन प्रातःकालका समय था, भगवान् भास्करकी स्वर्णमयी किरणें चारों ओर फैल रही थीं, कमलिनी अपने मुखारविन्दको सम्पुटित करने लगी थीं और कमलदल विकसित होने लगे थे। चारों ओर प्राकृतिक तथा राजनिर्मित सांसारिक सुषमाएँ दिखलायी दे रही थीं। उस समय बालक प्रह्लाद अपने पितृनिर्मित नन्दनवनसे भी अधिक शोभायमान राजकीय उद्यानमें जा पहुँचे। राजोद्यानमें सुखद शीतल, मन्द एवं सुगन्धयुक्त समीर बह रहा था। तरह-तरहके मनोहर कलरव करते हुए पक्षिगण उड़ रहे थे और न जाने कितने प्रकारके आकारवाले मुखमन्दिरोंसे निकल-निकलकर निर्झरिणियोंकी तरल तरङ्गें अपनी छटा दिखला रही थीं। छोटे-छोटे सरोवरोंमें रङ्ग-विरङ्गें कमलपुष्पोंपर तथा प्रातःकालीन पुष्पित नवीन पुष्पराजोंपर चारों ओर भ्रमरवृन्द गूँजते हुए मँडरा रहे थे, मानो वे सारे-के-सारे मधुकर शनैः-शनैः परमभागवत प्रह्लादके गुणगान करते हुए अपने जीवनको सफल बना रहे थे। उसी आनन्दमय समयमें, उसी आनन्दवनके स्थानमें बालक प्रह्लाद, प्रसन्नमन चारों ओर देख रहे थे तथा मन्द-मन्द हँस रहे थे। मानो राजोद्यानकी सारी प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक शोभाओंमें पुष्पों और पुष्पपरागों, सरोवरों और निर्झरिणियोंमें तथा पक्षिवृन्द एवं मधुकरवृन्दमें वे अपने आराध्यदेव, अपने सर्वस्व, अपने हृदयधन भगवान् माधवकी महिमा और

उनकी अपूर्व लीलाको देख-देखकर आनन्दको हँसी हँसते हुए उनकी मानसिक आराधना कर रहे थे। उसी समय बालक प्रह्लादको खोजती हुई उनकी माता-कयाधू भी वहाँ जा पहुँचीं और अपने बालक पुत्रकी उस अद्भुत हँसीको देखकर, मन्द स्वरसे और स्नेहभरे शब्दोंमें कहने लगीं—

'बेटा प्रह्लाद! यह क्या हो रहा है? यहाँ अकेले किससे हँस रहे हो?'

प्रह्लाद— 'माँ! मैं अपने प्राणधन और सारे संसारके सिरजनहार हरिकी महिमा देख रहा हूँ एवं उन्हींसे हँस रहा हूँ। उनकी लीलाओंकी मानसी पूजा कर अपने अबोध-जीवनके उद्धारके लिये उनकी सारी लीलाओंको और उनके प्रत्येक नामको स्मरण कर रहा हूँ।'

माता— 'मेरे जीवनाधार पुत्र प्रह्लाद! तुम जो कुछ कह रहे हो और कर रहे हो, यदि ठीक भी हो तो भी, तुम्हारे लिये यह उचित नहीं। बेटा! तुम अभी बालक हो, तुमको अभी अर्चा-पूजाकी क्या आवश्यकता है। तुमको तो खेलना-कूदना और आनन्दमें समय बिताना चाहिये, जिससे तुम्हारे पिताजी भी आनन्दित हों और मैं भी आनन्दका अनुभव करूँ।'

प्रह्लाद— 'माताजी! तुम कैसी बातें कह रही हो। क्या हरिकी भक्तिमें भी कोई अवस्थाकी अपेक्षा है? यह तो बालपनहीसे होनी चाहिये। माताजी, तुम तो अनजान-सी बन रही हो, भला, इससे बढ़कर अच्छा खेल संसारमें और कौन-सा है और इससे अधिक सुख और किस काममें मिल सकता है? परम पिता परमात्माकी भक्तिमें जो परमानन्द है वह किसी भी सांसारिक काममें नहीं है। यदि मेरे पिताजी मेरे आनन्दसे सचमुच आनन्दित होते हैं; तो मेरी इस हरिभक्तिसे और मेरे इस परमानन्दसे उनको निश्चय ही अपार आनन्द प्राप्त होगा।'

माता— 'बेटा प्रह्लाद! तुम नहीं जानते। तुम्हारे पिताजी यदि यह जानेंगे कि तुम हरिकी भक्ति करते हो तो वे तुम्हारे ऊपर अप्रसन्न होंगे। क्योंकि वे हरिसे शत्रुता रखते हैं। वे कहते हैं कि 'भगवान् हरिने ही देवताओंका पक्ष लेकर और वाराहरूपधर पातालमें हमारे भाईको मार डाला है।' इसलिये हे बेटा! मैं तुमसे विनती करती हूँ, तुम अपने पूज्यपाद पिताजीको प्रसन्न रखनेके

लिये केवल हरिकी उपासना ही नहीं, बल्कि उनका नाम लेना भी छोड़ दो।'

प्रह्लाद— 'माँ! आज तो तुमने मुझे यह बड़े अचरजकी बात सुनायी। क्या सचमुच पिताजी परमपिता परमेश्वरके साथ शत्रुता रखते हैं? भगवान् विष्णु कभी पक्षपाती नहीं हो सकते। भला! जो देव, दानव, दैत्य, राक्षस आदि सभीके उत्पादक और सभीके परमपिता हैं, वे देवताओंका पक्ष लेकर हमारे चचाको अकारण मारें, क्या ऐसा होना कभी सम्भव है? माताजी! तुम्हीं बतलाओ कि तुम कभी हम और हमारे भाइयोंके बीच पक्षपात कर किसी एकको जानसे मार सकती हो? यदि नहीं तो तुम उन परमपिता भगवान् हरिपर विश्वास रखो। वे कभी भी न तो किसीका पक्षपात करते हैं और न किसीके साथ अन्याय। सम्भव है तुमको मालूम न हो। और यह भी सम्भव है कि पिताजीको भी मालूम न हो। उनके अनजानमें चाचाजीने अवश्य ही कोई ऐसा काम किया होगा, जिसके लिये उस परमपिता परमात्माको कृपापूर्वक अपने हाथों उनको मारना पड़ा होगा। इसलिये तुम पिताजीको समझा दो। वे भगवान्‌से शत्रुता न करें और उनकी भक्तिके परम आनन्दका अनुभव करें।'

माता— 'बेटा प्रह्लाद! तुम न जाने क्या कहते हो? पुत्रका परमधर्म पिताकी आज्ञा मानना है। जब तुम्हारे पिताजी विष्णुका नाम लेना पाप समझते हैं, उनकी पूजा करना राजद्रोह समझते हैं और अपने सारे साम्राज्यमें इसके लिये ढिंढोरा पिटवा चुके हैं तथा उनकी आज्ञाका पालन सभी सुरासुर कर रहे हैं, तब तुम उनके पुत्र होकर उनकी आज्ञाका पालन क्यों नहीं करते? जबतक पुत्र अबोध या अज्ञान रहे, तबतक उसे पिताहीको सब कुछ और उनकी आज्ञाहीको ब्रह्मवाक्य मानकर उसीके अनुसार चलना चाहिये। क्योंकि संसारमें पितासे बढ़कर पुत्रका कल्याण चाहनेवाला दूसरा कोई नहीं होता। इसलिये बेटा! बहुत क्या कहूँ, तुम्हारे पिताजी जो कहें, तुमको वही करना चाहिये और जब तुमको मालूम हो चुका है कि वे विष्णुको अपना शत्रु मानते हैं, तब तुमको स्वयं ही विष्णुका नाम न लेना चाहिये।'

माताकी बातोंको सुनकर बालक प्रह्लाद खिलखिलाकर हँस पड़े और पेटभर हँस लेनेके पश्चात् बोले—'माताजी! तुम नाहक डरती हो। जब

पिताजी मुझे कहेंगे तब मैं उनको समझा लूँगा, किन्तु यह प्यारा हरिनाम तो मुझसे कभी छूटनेका नहीं। इसकी मधुरताकी समता तुम्हारे अति स्वादिष्ट पकवान भी नहीं कर सकते। अरी माँ एक बार तुम भी तो इस मीठे रसका स्वाद लो। कहो तो प्रेमसे '**हरे मुरारे मधुकैटभारे***।' कयाधूने समझ लिया कि इस समय इसको समझाना व्यर्थ है। यह बालहठ है। ज्यों-ज्यों इस रोगके छुड़ानेकी चेष्टा की जायगी, त्यों-त्यों यह बढ़ता ही जायगा। अतएव इस समय इसकी चर्चा ही न की जाय तो ठीक है। माताने कहा 'बेटा! अब बहुत खेल-कूद चुके, कलेवा करनेका समय हो गया, चलो तुम्हारे भाईलोग तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।' माताके आज्ञानुसार भगवद्भक्तिके आनन्दमें मग्न नाचते-कूदते और हँसते हुए बालक प्रह्लाद उनके पीछे-पीछे हो लिये।

---
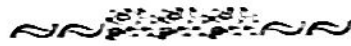
* हरे मुरारे मधुकैटभारे
गोपाल गोविन्द मुकुन्द शौरे।
यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो
निराश्रयं मां जगदीश रक्ष॥

तेरहवाँ अध्याय

बालक प्रह्लादको माताकी शिक्षा

भक्तिकी प्रबलता

जबसे राजोद्यानमें माताके साथ बालक प्रह्लादकी भक्तिविषयिणी बातें हुईं, तबसे प्रह्लादकी भक्तिरसकी धारा और भी अधिक वेगसे प्रवाहित होने लगी, इससे माता कयाधूकी चिन्ता दिनोंदिन बढ़ने लगी। बालक प्रह्लाद संसारमें जो कुछ देखते अथवा सुनते थे सभीमें अपने हृदयेश्वर भगवान् हरिहीकी भावना करने लगते थे और इसी आवेशमें वे कभी उछल पड़ते, कभी नाच उठते और कभी-कभी गाने अथवा रोने लगते थे। दिनोंदिन उनकी दशा लोगोंको पागलों-जैसी प्रतीत होने लगी और उनकी इस दशाकी चर्चा चारों ओर होने लगी। लोग देखते कि राजकुमार कभी तो निर्जन स्थानमें घण्टों बैठे न जाने क्या सोचते हैं और कभी रास्ते चलते भी कूदते-नाचते और खिलखिलाकर हँसने लगते हैं। यह समाचार धीरे-धीरे पिताको—हिरण्यकशिपुको मिला और पुत्रकी—प्राणप्रिय पुत्रकी यह दशा सुन और देखकर उसको भी बड़ी चिन्ता हुई। उसको बालक प्रह्लादकी भगवद्भक्तिका अभीतक पता नहीं लग पाया था, किन्तु उसकी उदासी वृत्तिहीसे उसे चिन्ता होने लगी। वह मन-ही-मन कहने लगा—'यह राजवंशका कुमार होकर भी साहसी नहीं। इसके अन्त:करणमें उद्योगका लेश भी नहीं है। इस बालकको अपनी शारीरिक शक्ति बढ़ानेके लिये अभीसे व्यायाम करना चाहिये। मृगया (शिकार) को जाना चाहिये और इसमें राजोचित आत्माभिमान होना चाहिये; किन्तु मालूम नहीं क्यों इसमें राजकुमारों-जैसे राजनीतिके एक भी लक्षण नहीं देख पड़ते।' अन्ततोगत्वा दैत्यराजने अपनी स्त्री महारानी कयाधूसे कहा कि 'प्रिये! इस बालकको धीरे-धीरे तुम सँभालो। बालकालमें बालक पुत्रको शिक्षा देनेका भार मातापर ही होता है। जबतक बालक गुरुकुलका अधिकारी नहीं हो जाता तबतक उसका श्रेष्ठ आचार्य उसकी माता होती

है। प्रियतमे! क्या कारण है कि यह बालक इस प्रकारके स्वभावका हो रहा है। बालकोंमें माता-पिताके गुण होने चाहिये; किन्तु इसमें तो न तुम्हारे-से साहसी गुण हैं और न मुझ-से निर्भय एवं उग्र विचार ही हैं। अतः अब इस ओर तुम भलीभाँति ध्यान दो और समुचित शिक्षा देकर इसको अपनी कुलमर्यादाके अनुरूप बनाओ।' स्वामीकी आज्ञाको तो पतिव्रता कयाधूने शिरोधार्य किया, परन्तु पुत्रकी भगवद्भक्तिकी चर्चा पतिके सामने बिलकुल नहीं की और मन-ही-मन चिन्तामें डूबती हुई बालक प्रह्लादकी शिक्षाका उपाय सोचने लगी।

बालक प्रह्लादकी भगवद्भक्तिमें दृढ़ता महारानी कयाधू पहलेहीसे देख चुकी थीं, अतएव उनको इस बातका विश्वास तो नहीं था कि पुत्रको शिक्षा दे उसको भगद्भक्तिकी ओरसे विमुखकर दैत्यकुलानुरूप राजकुमारकी तामसी शिक्षा देनेमें वे सफल होंगी, किन्तु स्वामीकी आज्ञा और पुरुषार्थको अजेय शक्ति समझकर उन्होंने प्रह्लादको शिक्षा देनेका विचार किया। महारानीने सोचा कि यदि प्रह्लादको मैं भगवद्भक्तिसे सर्वथा विमुख होनेकी स्पष्टतया शिक्षा दूँगी तो उसके ऊपर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा। सम्भव है कि वह इससे मेरी शिक्षाको ग्रहण न कर अवहेलना करने लगे। इसलिये उसको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिसमें भगद्भक्तिका विरोध होनेपर भी उसका प्रतिपादन प्रतीत हो। इसी अभिप्रायसे महारानी कयाधू एक दिन एकान्तमें बालक प्रह्लादको इस प्रकार शिक्षा देने लगीं।

महारानी कयाधू— 'बेटा प्रह्लाद! उस दिन राजोद्यानमें तुमने जो हरिभक्तिकी चर्चा की थी और मैंने उसका विरोध किया था, वह तुम्हें याद है न? इसमें कोई सन्देह नहीं कि शास्त्रानुकूल किसी कार्यके किये जानेपर उसमें जैसी अधिक सफलता हो सकती है वैसी मनमाने ढंगसे काम करनेमें नहीं हो सकती। तुमने अबतक जो हरिभक्तिकी ओर अपने चित्तको लगाया है वह न तो शास्त्रानुकूल है और न गुरूपदिश्य मार्गसे ही वह कार्य किया गया है, अतः मेरी समझसे तुम भूलते हो। संसारमें माताके लिये पुत्रसे अधिक प्यारी कोई दूसरी वस्तु नहीं और बेटा जिसको सबसे अधिक प्यार करे, उसका विरोध भी माताको नहीं करना चाहिये। इसलिये हे प्रह्लाद! इस समय मैं तुमको शास्त्रानुसार भगवद्भक्तिकी

शिक्षा देना चाहती हूँ और भगवद्भक्तोंके उन लक्षणोंको बतलाना चाहती हूँ जो महर्षि नारदजीने कहे हैं। आशा है कि तुम ध्यानपूर्वक सुनोगे।'

प्रह्लाद— 'माताजी! आपने सत्य ही कहा है कि शास्त्रानुकूल अथवा गुरूपदिश्य मार्गसे ही भक्तिसाधनमें सफलता हो सकती है; किन्तु गुरु तो वही हो सकता है जो स्वयमेव भक्ति करता हो। आप तो भगवद्भक्तिका नाम भी नहीं सुनना चाहतीं, फिर आप मुझको भक्तिकी शिक्षा कैसे दे सकेंगी?'

माता कयाधू— 'बेटा! तुम बातें तो बड़ी-बड़ी करते हो, किन्तु यह नहीं जानते कि तुम्हारे पिताजीके भयसे हमी क्या न जाने कितने लोग ऐसे मिलेंगे जो अन्त:करणसे हरिके परमभक्त होते हुए भी ऊपरसे 'हरिद्रोही' बने हुए हैं। अतएव हमलोगोंके आचरणपर नहीं, बल्कि उपदेशोंपर ही तुमको ध्यान देना चाहिये।'

प्रह्लाद— 'अच्छा, अच्छा माताजी! अप्रसन्न मत हूजिये, कहिये मैं सुनता हूँ किन्तु शीघ्र ही अपना उपदेश समाप्त कर दीजिये, कहीं पिताजी न आ जायँ।'

कयाधू— 'बेटा! नारदजीने कहा है 'जो सभी प्राणियोंके हितचिन्तक हैं, ईर्षा, अहङ्कार आदि दुर्गुणोंसे रहित हैं, संयमी एवं सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित हैं, वे भगवद्भक्तोंमें उत्तम कहे जाते हैं। जो मन, वचन एवं कर्मसे किसी प्राणीको पीड़ा नहीं देते और स्त्रियोंकी आसक्तिसे रहित हैं, वे ही भगवद्भक्त हैं। जो मनुष्य श्रेष्ठ कथाओंके सुननेमें मन लगाते हैं और कथावाचकपर जिनकी भक्ति होती है, वे भगवद्भक्त हैं। जो लोग अपने माता-पिताको गङ्गा और शिवके समान पूज्य मानते एवं उनके आज्ञानुसार सेवा करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो देवताओंकी पूजामें रत रहते हैं और भगवान् हरिकी पूजाको देखकर आनन्दित होते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो अपने वर्ण एवं आश्रममें रहनेवाले धर्मात्माओंकी, विशेषकर यतियोंकी सेवा करते हैं और परायी निन्दासे सदा पराङ्मुख रहते हैं, वे ही भगवद्भक्त हैं। जो लोग सदा प्रिय वचन बोलते हैं, कभी भी किसीको कठोर वचन नहीं कहते तथा संसारमें गुणको ग्रहण करते और दोषोंकी ओर ध्यान ही नहीं देते वे भगवद्भक्त हैं। जो सज्जन

संसारमें सभी प्राणियोंको अपने ही समान समझते हैं और शत्रु तथा मित्र दोनोंहीको समानभावसे देखते हैं अर्थात् शत्रुसे भी मित्रभाव रखते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो जन धर्मशास्त्रके वचनोंमें तथा धर्मशास्त्रके वक्ताओंके वचनोंमें विश्वास करते एवं उनका पालन करते हुए सज्जनोंकी सेवा करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो स्वयं पुराणोंकी व्याख्या करते हैं, पुराणोंको सुनते हैं तथा जो पुराणवक्ताओंके भक्त हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो जन गौओं और ब्राह्मणोंकी निरन्तर सेवा करते हैं तथा तीर्थयात्रामें परायण हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो लोग दूसरोंकी बढ़ती देखकर प्रसन्न होते हैं तथा सदा हरिनाम जपते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो मनुष्य बाग-बगीचे लगाते, वृक्षोंका आरोपण करते हैं, कूप-तालाब एवं सरोवर खुदवाते तथा बनवाते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो सज्जन सरोवर बनवाकर उसके समीप देव-मन्दिरकी रचना करते हैं और गायत्रीको सदा जपते हैं, वे भगद्भक्त हैं। जो जन विष्णुके नामोंको सुनकर रोमाञ्चित होकर पुलकित हो जाते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो मनुष्य तुलसीवनको देखकर प्रणाम करते हैं और तुलसीकी माला गलेमें धारण करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो जन तुलसीजीकी सुगन्धिसे प्रसन्न रहते और उनके मूलकी रजको मस्तकपर चढ़ाते हुए अपने-आपको कृतकृत्य समझते हैं, वे भगभद्भक्त हैं। जो मनुष्य अपने आश्रमधर्मका पालन करते हुए अतिथियोंका यथोचित सत्कार करते हैं और वेदोंके अर्थके ज्ञाता एवं वक्ता हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो मनुष्य शिवजीके प्यारे एवं शिवजीपर आसक्तचित्त हैं तथा त्रिपुण्ड्र धारण करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो जन भगवान् शम्भुके नामोंका उच्चारण करते हैं तथा रुद्राक्षकी मालाको धारण करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो लोग बड़ी-बड़ी दक्षिणासे युक्त यज्ञोंसे शिवजीकी पूजा करते हैं अथवा परमभक्तिसे भगवान् विष्णुकी पूजा करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो सज्जन शिवजीमें और परमेश्वरमें, विष्णुभगवान् और परमात्मामें समान वृत्तिसे बर्तते हैं अर्थात् विष्णु और शिवमें अभेद-बुद्धि रखते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो जन शिवजीको पूजते हैं और उन्हींके पञ्चाक्षर-मन्त्रको जपते एवं उनके ही ध्यानमें परायण हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो विद्वान् अपने पठित शास्त्रोंको दूसरोंको पढ़ाते हैं, ज्ञानदान करते हैं वे गुणीजन अपनी कीर्तिसे प्रकाशित भगवद्भक्त हैं। जो सज्जन सदावर्त देते अर्थात् अन्नदान देते हैं और पौसला (पिआऊ) चलाते हैं तथा सदैव एकादशीका

व्रत करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो दानशीलजन गोदान और कन्यादान करते हैं तथा जो भगवदर्थ कर्म किया करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो सज्जन भगवान्‌में चित्त लगाते हैं तथा भगवद्भक्तोंको देखकर प्रसन्न होते हैं और भगवान्‌के नामस्मरणमें लगे रहते हैं वे भगवद्भक्त हैं। विशेष क्या कहें, बेटा! नारदजीने अन्तमें कहा है कि जिनमें मनुष्योंके श्रेष्ठ गुण विद्यमान हैं, वे सब भगवद्भक्त हैं।' अब तुमको इन लक्षणोंमेंसे भगवद्भक्तके उन लक्षणोंको ग्रहण कर लेना चाहिये जो परस्पर विरोधी न हों। जैसे पिताजीको शिवके समान पूज्य मानकर उनके आज्ञानुसार ही उनकी सेवा करना, शिवजीकी पूजा-आराधना और उनके मन्त्रका जप-ध्यान करना, रुद्राक्ष धारण करना और उनके प्रसन्नार्थ बहु दक्षिणावाले यज्ञोंको करना। इतना ही नहीं, विष्णु-भक्ति एवं विष्णु-नाम जपने एवं वैष्णवोंकी सेवा-शुश्रूषाके अतिरिक्त तुम अन्यान्य सभी धर्मोंका पालन कर सकते हो और भगवद्भक्त बन सकते हो, किन्तु विष्णु-सम्बन्ध जोड़नेसे पिताका विरोध होगा, जो भगवद्भक्तके धर्मके सर्वथा विरुद्ध पड़ता है। अतएव मैं तुमसे यही कहती हूँ कि 'बेटा! अपने दोनों लोक बनाओ और पूज्यपाद पिता तथा परमपिता भगवान् शङ्करकी भक्ति करके भगवद्भक्तके उत्तम पदको ग्रहण करो। यही शास्त्रसम्मत मार्ग तुम्हारे लिये सरल और हमारे लिये सुखप्रद है।'

प्रह्लाद— 'माताजी! आपके भगवद्भक्तके लक्षण सचमुच बड़े उत्तम हैं और मैं भी भगवान् विष्णुसे यही प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरी पितृभक्ति सदा बनाये रखें और पिताजीके हृदयको ऐसा बदल दें जिससे अकारण शत्रुताका भाव मिटे और आपके कथनानुसार मेरे दोनों लोक बनें और आपको भी मेरे द्वारा कष्ट एवं चिन्ता न होकर परम सुख मिले।'

पुत्रपर अपने उपदेशोंका कुछ भी प्रभाव पड़ते न देख माताको बड़ी चिन्ता हुई और वह सोचने लगीं कि अब मैं इसको किसी दूसरे दिन समझाऊँगी। इसकी विष्णु-प्रीति हटती नहीं और स्वामीके हृदयसे विष्णुद्रोह हटनेवाला नहीं। अस्तु, उद्योग करनेका विचार उन्होंने फिर भी नहीं त्यागा और विलम्ब होते देख, बालक प्रह्लादको भोजनके लिये ले गयीं। पुत्रको भोजन कराकर स्वयं फिर अपनी चिन्तामें लग गयीं कि पुत्रको कैसे रास्तेपर लाया जाय।

जिस भगवद्भक्तिरूपी रसामृतको पानेके लिये लोग तप और योग करते-करते थक जाते हैं, जिस तत्त्वको समझनेके लिये जीवनपर्यन्त बड़े-बड़े तपस्वी न जाने कौन-कौन-सी साधनाएँ किया करते हैं और जिस अलभ्य पदार्थके पानेके लिये न जाने कितने योगीजन कितने ही जन्म बिताते और जप-योगकी समाधि लगाते हैं, उसी अलभ्य पदार्थको, उसी भगवद्भक्तिके रसामृतको जिस बालक प्रह्लादने अपनी इस छोटी-सी अवस्थामें पा लिया है, उसको समझानेवाला और समझा-बुझाकर उसके हाथोंसे, नहीं उसके हृदयसे निकाल फेंकनेवाला संसारमें कौन है? अपने स्वार्थवश अथवा प्राणपति एवं प्राणाधिक प्रिय पुत्रके बीच सद्भाव बनाये रखनेके लिये पतिव्रता एवं पुत्रवत्सला कयाधू भले ही जी तोड़कर परिश्रम करती रहें, किन्तु बालक प्रह्लादके हृदयसे भगवद्भक्तिका दूर होना और उनके मुखसे हरिनाम-कीर्तनकी अमृतधाराका रुकना कष्टसाध्य नहीं सर्वथा असम्भव है।

अब प्रह्लादका सारा समय भगवान्‌की कीर्ति गाने और उनके नामकीर्तन एवं चरणवन्दनामें ही बीतने लगा। प्रह्लादका जीवन इस छोटी-सी अवस्थामें ही प्रेममय हो गया और सारा संसार उनको अपना ही कुटुम्ब-सा दिखलायी देने लगा। उनके मनमें राजपुत्र होनेका कुछ भी अभिमान न था। सादगी, सरलता, साधुता और पवित्रताके अतिरिक्त उनके हृदयमें किसी भी विकारको स्थान ही न था। यह दृढ़ सिद्धान्त है कि बिना आधारके मनकी अस्थिरता दूर नहीं हो सकती। प्रह्लादजी सब कुछ जानते थे, उनको सब तत्त्व ज्ञात थे, परन्तु अभी उनकी बुद्धिमें कुछ चञ्चलता शेष थी, वह उसको दूरकर बुद्धिको एक परमात्मामें स्थिर करना चाहते थे, इसी विचारसे प्रह्लाद अपने आराध्यदेवको निज हृदय-मन्दिरके बाहर देखनेके लिये भी लालायित हुए और पितासे छिपाकर उन्होंने भगवान् हरिकी एक मूर्ति रखी। उसी सुन्दर मूर्तिकी वे उपासना करने लगे और उसीसे उन्होंने अपना प्रेम बढ़ाया। इस प्रकार उन्होंने अपने चित्तको साधार उपासनामें लगाया। मूर्तिके आधारको पाकर उनकी पवित्र भक्तिरूपी सुर-सरिता ऐसी उमड़ी कि फिर वह जीवनपर्यन्त बढ़ती ही गयी।

चौदहवाँ अध्याय

प्रह्लादकी दीनबन्धुता

पितासे सत्याग्रह

एक ओर बालक प्रह्लादकी अव्यभिचारिणी भक्ति रात-दिन उनको भगवान् विष्णुकी ओर खींचती थी, दूसरी ओर हिरण्यकशिपुके अन्त:करणकी अटूट शत्रुता विष्णुके न पानेसे प्रत्येक क्षण बड़ी तेजीसे बढ़ रही थी। दोनों ही पिता-पुत्र रात-दिन भगवान्‌के ध्यानमें लगे रहते थे और दोनोंहीके हृदयसे एक क्षणके लिये भी भगवान् विष्णु बाहर नहीं जाने पाते थे। हाँ, दोनोंमें एक अन्तर था और वह यह कि पिता शत्रुभावसे उनकी चिन्तामें था और पुत्र भक्तिभावसे!

हिरण्यकशिपुने देखा कि विष्णुका साधारण रीतिसे हमें मिलना सम्भव नहीं। इस कारण उसने बड़े-बड़े भयङ्कर उत्पात मचाने आरम्भ कर दिये। उसके असुर अधिकारियोंने विशेषकर उसके छोटे साले 'धूम्राक्ष' और 'कुम्भनाक' आदि दानवोंने सारे साम्राज्यमें न जाने कितने निरपराध विष्णु-भक्तोंको नष्ट कर डाला। ये दुष्ट दानव प्रतिदिन कहीं-न-कहींसे एक-न-एक वैष्णवका सिर काटकर लाते और हिरण्याक्षकी विधवा स्त्री 'भानुमती' के सामने रखते थे। भानुमतीका प्रण था, वह जबतक एक वैष्णवका सिर सामने कटा हुआ न देख लेती, तबतक वह न तो अपना लौकिक नित्यकर्म करती और न जल पीती थी। दैत्यराजके असुर अधिकारी सारे साम्राज्यमें अन्धेर मचाये हुए थे। किसीको कोल्हूमें पिसवाते, किसीको कुत्तोंसे कटवाते और किसीको जीते-जी भूमिमें गड़वा देते थे। किसीको फाँसीपर चढ़ाते तो किसीको यों ही वृक्षोंपर नीचे सिर करके लटकवा देते। असुरोंके इन अत्याचारोंसे लोग घबड़ा गये। चारों ओर '**त्राहि माम्, त्राहि माम्**'के करुणोत्पादक शब्द सुनायी पड़ने लगे। दैत्योंने अपने पराक्रमसे स्वर्गको

रसातल बना दिया और देवराज इन्द्रको बन्दीगृहमें बन्दकर मानो उन्होंने देवराज इन्द्रसे हिरण्यपुरके आक्रमणका बदला चुका लिया।

बालक प्रह्लाद असुरोंके इन अत्याचारोंके समाचारोंको सुनकर अत्यन्त दुःखी हुआ करते थे। उनको इतना कष्ट होता था कि कभी-कभी वह उनके दुःखनिवारणार्थ सत्याग्रह कर बैठते थे। दीन-दुःखियोंके करुण-क्रन्दनको सुनकर वह रो पड़ते और उनका शरीर काँप उठता था। जब कभी बालक प्रह्लादके सामने कोई दीन-दुःखिया सताया जाता था, तब वह अपनी मातासे उसके छुड़वानेके लिये हठ करते और यदि वह नहीं छोड़ा जाता तो वह खाना-पीना छोड़ अनशनरूपी सत्याग्रह करने लगते थे। महारानीने कई बार पुत्रके सत्याग्रहके कारण न जाने कितने बन्दियोंको अपने भाई कुम्भनाक एवं धूम्राक्ष आदि असुरोंसे कह-सुनकर छुड़वा दिया था और कभी-कभी तो बालक प्रह्लादने स्वयं अपने पिताहीसे प्रबल आग्रह करके दीन-दुःखियोंको दण्डसे मुक्त करवाया था। कभी-कभी जब पिता प्रह्लादकी बात न मानते तब वे अनशनका सत्याग्रह करने लगते थे। इन बातोंसे उनके सारे साम्राज्यमें उनकी दयालुताकी बात चारों ओर फैल गयी और दीन-दुःखिये, ऋषि, देवता और पितरगण उन्हें मुक्तकण्ठसे आशीर्वाद देने लगे। इतना ही नहीं, उनके भयसे दैत्यराज हिरण्यकशिपुके कर्मचारियोंके घोर अत्याचार भी शिथिल-से होने लगे और इस बातकी विशेष सावधानी रखी जाने लगी कि किसी प्राणीको प्रह्लादके सामने दण्ड न दिया जाय, उनके कानोंतक किसीके रोने-पीटनेके शब्द सुनायी न पड़ें और उनके सामने कोई दुःखिया न जाने पावे।

जो दैत्यराज इन्द्रको बन्दी बनाये हुए था, विष्णुभगवान्‌को मारनेके लिये रात-दिन उनकी खोजमें लगा रहता था और सारे दिग्पालोंका, तीनों लोक और चौदहों भुवनका अधीश्वर था वही हिरण्यकशिपु, स्नेहवश अबोध बालकके हठके सामने झुक जाता था। पुत्रके हठके सामने वह अपनी दण्डाज्ञाको रद्द कर देता था और पुत्रकी आँख बचा अत्याचार करता था। वह सब क्या था? किस भयसे वह ऐसा करता था और उस छोटे-से बालकके हाथमें वह कौन-सा अस्त्र था, जिसके कारण पितापर उसका इतना आतङ्क था? यह वही अस्त्र था जो निरस्त्र

प्राणियोंके हाथोंमें होता है। यह वही भय था जो निर्बल प्राणियोंके सतानेवालेके हृदयमें ईश्वरकी प्रेरणासे उत्पन्न हो जाता है और यह वही आतङ्क था जो एक सच्चे भगवद्भक्तकी दृढ़तासे अत्याचारियोंके सामने उपस्थित होता है। इसीका नाम लोगोंने 'सत्याग्रह' रख लिया। सत्याग्रही प्रह्लाद सदा पिताके सामने पुत्रहीके रूपमें खड़े होते थे। प्रह्लाद पिताका वैसा ही सम्मान करते थे जैसा एक पितृ-भक्त पुत्रको पिताके प्रति करना उचित है। प्रह्लाद अपने पिताके अत्याचारोंका प्रतिवाद करके न तो कभी उनकी निन्दा करते थे और न अपने किसी आचरणसे उनका अपमान ही होने देते थे। वह पुत्रधर्मका पूर्णरीत्या पालन करते थे और इसी कारणसे उनकी अबोध दशामें उनके पिताके कठोर हृदयपर भी सत्याग्रहका प्रभाव पड़ता था और वह उनके सत्याग्रहके सामने सिर झुकाता था।

एक दिन दैत्यराज अपने अन्तःपुरमें गया हुआ था। महारानी कयाधू और हिरण्यकशिपु दोनों ही अपने पुत्रके (प्रह्लादके) अनुपम शील एवं अलौकिक सौन्दर्यकी प्रशंसा कर रहे थे। इतनेमें बालक प्रह्लाद भी साथी बालकोंके साथ नाचते-कूदते न जाने किस ध्यानमें मग्न हो वहाँ जा निकले, प्रह्लादने आनेके साथ ही पिताजीके चरणोंमें सिर नवाया और दैत्यराजने भी आशीर्वाद दे और सिर सूँघकर उन्हें अपनी गोदमें उठा लिया। दैत्यराजने बड़े प्रेमके साथ पूछा- 'बेटा प्रह्लाद! तुम्हारी बोली तो बड़ी मधुर है, तुम्हारा हृदय भी बड़ा कोमल है किन्तु हमारे साथ जब तुम 'सत्याग्रह' करने लगते हो तो बड़े निठुर हो जाते हो। इसका क्या कारण है? तुम तो उस समय अपना-पराया सब कुछ भूल जाते हो, यह क्यों?'

प्रह्लाद— 'पिताजी! मैंने तो आपसे कभी निठुराई नहीं की। आपसे जब-जब मैंने किसी पीड़ितके मुक्त करनेकी भिक्षा माँगी तब आपने दया करके अपनी उदारता दिखलायी; किन्तु जब कभी आपने मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की, तब मैंने अपने मनमें समझा कि मेरा पूर्वजन्मका कोई घोर पाप है जिससे मेरे हृदयको दीन-दुःखियोंके दमनका कष्ट सहन करना पड़ रहा है और मेरे जन्मदाता पूज्यपाद पिता भी प्रार्थना करनेपर मेरे हार्दिक दुःखका अनुभव नहीं

कर पाते हैं। तब मैं अपने-आपको उस पूर्वजन्मके पापसे मुक्त करनेके लिये दण्डित करना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे पास दूसरा अधिकार ही क्या है? इसलिये मैं केवल अनशन करने लगता हूँ। इस प्रकार प्रायश्चित्तद्वारा मेरे पूर्वजन्मका पाप जब मार्जित हो जाता है, तब आप मेरी प्रार्थनाको स्वीकार कर लेते हैं। इसमें पिताजी! मेरी कठोरता क्या हुई?'

हिरण्यकशिपु— 'बेटा प्रह्लाद! तुम्हारी बातें तो ऐसी होती हैं कि मानो कोई बड़ा चतुर सर्वशास्त्रका वेत्ता बोल रहा हो। अस्तु, हम चाहते हैं कि तुम आज हमसे कुछ माँगो। बतलाओ, इस समय तुम क्या चाहते हो?'

प्रह्लाद— 'पिताजी! आपकी कृपासे मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, किन्तु आपने माँगनेकी आज्ञा दी है, इसलिये मैं आपकी आज्ञाको टालना भी नहीं चाहता। यदि आप मुझे दें तो यही दें कि आजसे किसी प्राणीको आपके साम्राज्यमें कोई आततायी सताने न पावे और किसीको दण्ड देना ही हो तो उसके बदले मुझे दे दिया जावे।'

हिरण्यकशिपु— 'बेटा! तुम अभी अबोध बालक हो, तुम्हारा हृदय दयामय है, किन्तु शासनमें दण्डका विधान आवश्यक होता है। यदि प्रजाको यह मालूम हो जाय कि इस राजाके राज्यमें किसीको दण्ड नहीं दिया जाता तो चोरों, डाकुओं और अन्यान्य अत्याचारियोंके अत्याचार और अपराध इतने बढ़ जायँ कि फिर उनका सँभालना कठिन हो जाय। अवश्य ही दयाका भाव होना चाहिये, पर अपराधीको दण्ड देना भी तो उसपर दया करना है। दण्डसे शरीर शुद्ध हो जाता है। जो अपराधी राजदण्डसे बच जाते हैं, चाहे वे किसी भी कारणसे बच जायँ, वे यमदण्डके भागी होते हैं। यमदण्ड राजदण्डसे अधिक कष्टदायी और अधिक कालके लिये होता है। सारांश यह कि राजाका धर्म है कि अपराधीको दण्ड दे। यदि राजा अपराधीको तो दण्ड न दे और उनके बदले निरपराध प्राणियोंको दण्ड दे तो वह स्वयं अपराधी बनता और यमदण्डका भागी होता है।'

प्रह्लाद— 'पिताजी! आपका कथन यथार्थ है, किन्तु जो बेचारे अपराधी नहीं हैं, उनपर तो आप दया किया करें और अपने अधिकारी असुरोंसे कह दें कि वे निरपराध देवताओंको तथा उनके अनुयायियोंको कभी सताया न करें।

हिरण्यकशिपु— 'बेटा! जब तुम्हारा जन्म नहीं हुआ था तबकी बात है। इससे तुमको पता नहीं है। देवताओंने हमारी अनुपस्थितिमें अकारण हमारे नगरपर आक्रमण कर सारी राजधानीको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था और इतने अत्याचार किये थे कि जिनका वर्णन भी नहीं किया जा सकता। यहाँतक कि तुम्हारे गर्भमें होनेपर भी तुम्हारी माताको देवराज इन्द्र बलात् हरण करके ले जा रहा था। यदि महर्षि नारद न मिल गये होते तो न जाने तुम्हारी माताकी क्या दशा हुई होती और तुम्हारी क्या गति होती। अतएव देवता हमारे केवल साधारण शत्रु ही नहीं, आततायी शत्रु हैं। उनका वध करना ही धर्म और राजनीतिज्ञता है। उनके सिवा अबसे अन्यान्य निरपराध प्राणियोंको हमारे साम्राज्यमें कोई भी सताने नहीं पावेगा। इस बातके लिये तुम निश्चय जानो।'

इतनी बात समाप्त होते-होते किसी आवश्यक कार्यके लिये एक राजदूतने प्रार्थना की और दैत्यराज राजसभामें चले गये।

पंद्रहवाँ अध्याय

प्रह्लादकी शिक्षा

गुरुकुल-वास

प्राचीन भारतवर्षमें विद्याका इतना अधिक प्रचार और महत्त्व था कि प्रत्येक मनुष्यके लिये उसका प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। साधारण श्रेणीके प्रजाजनोंको छोड़ शेष सभी द्विजातियोंके बालक उपनयन-संस्कार होनेके साथ-ही-साथ शिक्षा प्राप्त करनेको अपने-अपने गुरुकुलोंके लिये प्रस्थान करते थे। गुरुकुलोंमें विद्या प्राप्त करनेके पश्चात् उनका समावर्तन-संस्कार होता था तब वे लौटकर गृहस्थाश्रमके नियमानुसार अपना योगक्षेम करते थे। गुरुकुलोंमें विद्यार्थियोंको उनके वर्ण, उनकी कुल-परम्परा, रुचि एवं आवश्यकताके अनुसार साङ्गोपाङ्ग वैदिक शिक्षाके साथ-ही-साथ, शस्त्रास्त्र-शिक्षा, मल्लविद्याकी शिक्षा तथा विविध कलाओंकी शिक्षा भी सुचारुरूपसे दी जाती थी।

विद्यार्थियोंके गुरुकुल-वाससे बहुत बड़ा लाभ होता था। न तो माता-पिताके अनुचित लालन-पालनमें पड़कर लड़के खराब होते थे और न उनको अपने ब्रह्मचर्य-पालनमें गार्हस्थ्य जीवनकी कठिनाइयाँ और उनके संसर्ग ही बाधक होते थे। विद्यार्थियोंका भविष्य-जीवन आनन्दमय, शरीर हृष्ट-पुष्ट और बल-वीर्य-सम्पन्न होता था। इन्हीं कारणोंसे प्राचीन भारतवर्षके सन्तान धीर, वीर और गम्भीर होते तथा अपने पूर्व-पुरुषोंकी गौरव-गरिमाको बढ़ानेमें समर्थ होते थे।

जिस प्रकार अन्यान्य द्विजातियोंके बालक शिक्षा-ग्रहण करनेके लिये गुरुकुलोंमें निवास करते थे, उसी प्रकार बड़े-बड़े सम्राटोंके राजकुमार भी गुरुकुलोंमें समान-शील विद्यार्थियोंके साथ विद्या-अध्ययन करनेके लिये

निवास करते थे। गुरुकुलोंमें राजकुमारोंको भी विद्यार्थियोंके सभी धर्मोंका पूरा-पूरा पालन करना पड़ता था और राजकुमारके वेषमें नहीं, प्रत्युत एक साधारण ब्रह्मचारी विद्यार्थीके वेषमें रहना पड़ता था। इसका परिणाम यह होता था कि राजकुमारोंके हृदयमें वृथा दम्भ, अनुचित अभिमान, विद्वेष और घृणाके भाव घुसने ही नहीं पाते थे। गुरुकुलोंमें भाँति-भाँतिके सुख-दुःख सहनेके कारण राजकुमारोंको शासनधुरी चलाते समय अपनी दीन-हीन प्रजाके सुख-दुःखका पूरा अनुभव होता था और उससे राजा तथा प्रजा दोनों ही लाभ उठाते थे। इसी गुरुकुली शिक्षाके प्रभावसे प्राचीन भारतके नवयुवक विद्यार्थी सदाचारी, धार्मिक और ईश्वरभक्त होते थे और अपने गुरुवरोंको गुरुदक्षिणामें अपने प्राणोंतकको अर्पण कर देते थे न कि आजकलके समान सदाचार-हीन, धर्म-विरोधी और ईश्वर-विद्रोही विद्याप्राप्त विद्यार्थी, जो अपने आचार्योंके प्रति 'नष्टदेवकी भ्रष्ट पूजा' वाली लोकोक्तिको चरितार्थ किया करते हैं। मनुष्य ही नहीं, सुर, असुर भी विद्याध्ययन करते थे और उससे पूर्ण लाभ उठाते थे।

उस समय गुरुकुलोंके सञ्चालनार्थ न तो कोई चन्दा एकत्र किया जाता था और न उसके सञ्चालनमें गुरुओंको कठिनाई होती थी। राजाओंकी ओरसे उनके सञ्चालनार्थ पूरा प्रबन्ध रहता था और सर्वसाधारण भी यथासाध्य सहायता एवं सेवा करनेके लिये सदा तैयार रहते थे और करते भी थे। गुरुकुल भी दो प्रकारके होते थे। एक तो निर्जन वनकी तपोभूमियोंमें, जिनमें विरक्त आचार्य अपने-अपने आश्रमोंमें छात्रोंको विविध प्रकारकी विद्याएँ पढ़ाते थे और दूसरे नगरोंके बाहर किन्तु समीपमें ही गृहस्थ महर्पियोंके पवित्र आश्रमोंमें होते थे। वहाँ उपनीत छात्र अपनी रुचि, अपने अधिकार एवं आवश्यकताके अनुसार कला-कुशलता, शस्त्र-अस्त्र-शिक्षा, यन्त्रविद्या आदिके साथ-ही-साथ सांगोपांग वैदिक धर्मकी शिक्षा ग्रहण करते थे। दोनों ही प्रकारके गुरुकुलरूपी आचार्योंके आश्रमोंमें दोनों प्रकारके विरक्त एवं गृहस्थ आचार्य, अपने-अपने आश्रमवासिक विद्यार्थियोंकी देख-भाल, पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षामें उतने ही तत्पर रहते थे, जितना कि कोई भी गृहस्थ अपने निजके बाल-बच्चोंकी देख-भाल, पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षाके लिये तत्पर रह सकता है। इन्हीं कारणोंसे उस समय आचार्योंका महत्त्व

था, उनके आश्रमोंकी प्रतिष्ठा थी और साधारण श्रेणीके गृहस्थसे लेकर बड़े-बड़े राजा-महाराजा एवं सम्राट्तक अपने-अपने प्राणाधिक पुत्रोंको गुरुकुलोंमें एकाकी भेज देनेमें किसी प्रकारकी भी अड़चन नहीं समझते थे।

हिरण्यपुर नगर, जो दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी राजधानी थी और जिसको किसी-किसीने मौलिस्नान, मूलस्थान तथा कश्यपपुरीके नामसे लिखा है, और जो आजकल पंजाब सूबेका प्रसिद्धनगर मुलतानके नामसे प्रसिद्ध है, समीप ही शुक्राचार्यजीका आश्रम था, जिसमें उनके दोनों विद्वान् पुत्र शण्ड और अमर्क छात्रोंको विद्यादान देते थे। इस आश्रममें प्रायः सभी प्रकारके छात्र पढ़ते थे, किन्तु दैत्य-दानव-वंशीय छात्रोंकी अधिकता थी। इसी आश्रममें या यों कहें कि इसी गुरुकुलमें दैत्यराज हिरण्यकशिपुके पुत्रों तथा भतीजोंको भी शिक्षा दी गयी थी।

दैत्यराज हिरण्यकशिपुका अन्यान्य पुत्रोंकी अपेक्षा अपने छोटे पुत्र प्रह्लादपर अधिक प्रेम था। उसकी बड़ी इच्छा थी कि प्रह्लादको स्वयं महर्षि शुक्राचार्यजी शिक्षा दें। किन्तु प्रह्लादके उपनयनका समय आ गया, और महर्षि शुक्राचार्य, जो तीर्थाटनके लिये वर्षों पूर्व गये हुए थे, लौटकर नहीं आये। उपनयनके समयमें अतिकाल होते देख, दैत्यराजने आचार्य-पुत्रोंको ही बुलवाया। आचार्य-पुत्रोंके आनेपर उसने उनके आगे अपना आन्तरिक अभिप्राय प्रकट करते हुए कहा कि 'आचार्यचरण अबतक नहीं आये। हम उन्हींके द्वारा प्रह्लादको शिक्षा दिलाना चाहते थे। परन्तु उपनयन-संस्कारका समय हो चुका है और समयपर संस्कार करना ही उचित है। अतएव जबतक आचार्यचरण न आ जायँ, तबतक आपलोग ही इस बालककी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध करें।'

आचार्यपुत्र— 'राजराजेश्वर! आपके विचार उत्तम हैं, जैसी शिक्षा आप चाहते हैं वैसी ही शिक्षा दी जायगी। पिताजीके आनेपर हमलोग उनके आगे आपकी इच्छा प्रकट कर देंगे और वे स्वयं राजकुमारको समुचित शिक्षा देंगे।'

दैत्यराज— 'हे आचार्यपुत्रो! हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि आपलोग किसी विद्यामें कम हैं। आपलोग हमारे असुरोंके राजवंशोंकी सभाके रत्न हैं और अपने पितृ-चरणकी कृपासे सर्वविद्यासम्पन्न हैं; किन्तु हमारे कुलकी रीति-नीतिका यथार्थ अनुभव जैसा आचार्यचरणको है, वैसा कदाचित् आपलोगोंको

अपनी-अपनी चिन्ताओंसे निवृत्त होकर आनन्दपूर्वक सो रहे हैं, आप-जैसे परम यशस्वी और प्रतापी सम्राट् किस चिन्तामें लीन हो रहे हैं? भगवन्! क्या मुझ दासीसे कहनेयोग्य कोई बात है जिसके कारण आपने अभीतक इस आनन्ददायिनी शय्याको सुशोभित नहीं किया है—

हिरण्यकशिपु— 'हे सुभगे! अवश्य ही राजनीतिमें लिखा है कि स्त्रियोंके सामने रहस्यमयी कोई भी बात प्रकट न करनी चाहिये, किन्तु जिस विषयकी हमको इस समय चिन्ता है उससे तुम्हारा भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव हम अपनी हृदयगत चिन्ताकी बातको तुम्हारे सामने प्रकट करते हैं, किन्तु तुम इसे अपने ही मनमें रखना। इसकी किसीसे चर्चा न करना। प्राणप्रिये! जबसे हमारे भ्राताको विष्णुने वाराहरूप धारण करके मारा है और देवताओंकी सहायता की है, तबसे दिनोंदिन देवताओंका उत्साह बढ़ता जा रहा है और हमारे सेनानायकोंतकके मनमें उदासीनता छायी रहती है। ये लक्षण बुरे हैं। तुम्हारे पुत्र धीर, वीर और गम्भीर हैं, किन्तु देवताओंका सामना करना उनकी शक्तिके परेकी बात है। अनेक बार देवताओंने ऐसे प्रसङ्ग हमारे प्रति छेड़े कि जिनमें उनके साथ युद्ध करना आवश्यक था, किन्तु हमने अपनी परिस्थितिको ध्यानमें रख, उन प्रसङ्गोंपर युद्ध छिड़ने नहीं दिया और उनको टाल दिया, किन्तु जब शत्रुका उत्साह बढ़ रहा है और वह जानता है कि हम अपनी परिस्थितिके कारण युद्धको टाल रहे हैं, तब भावी युद्ध अधिक दिनोंतक टाला नहीं जा सकता और युद्ध छिड़नेपर हमको अपना भविष्य भयानक दिखलायी पड़ता है। अतएव हम चिन्तित हैं और सोच रहे हैं कि इस समय हमको क्या करना चाहिये?'

कयाधू— 'जीवनाधार! आपके विचार यथार्थ हैं। शत्रुओंसे विशेषतः अपने भाइयोंसे जब शत्रुता हो तो अधिक सावधान रहना चाहिये! मेरे विचारमें आप मेरे पिताजीकी सम्मतिसे दानवी-सेना और दैत्य-सेनाको सुसज्जित करके देवताओंपर पुनः एक बार आतङ्क जमावें और उस समय उनसे सन्धि कर लें और ऐसी सन्धि कर लें कि जो स्थायी हो। ऐसा करनेसे आपकी चिन्ता दूर होगी और दैत्यकुलका भय सदाके लिये जाता रहेगा।'

हिरण्यकशिपु— 'वल्लभे! तुम्हारी बातें अवश्य ही नीतियुक्त और विचारणीय हैं। किन्तु इस समय देवताओंका उत्साह ऐसा बढ़ गया है कि

अभी न हो। हमारे साथ देवताओंका वैरभाव, हमारा-विष्णुका वैमनस्य, हमारे हृदयमें सदा कसकनेवाली भ्रातृ-वधकी वेदना तथा उसके बदला लेनेका दृढ़ विचार आदिको आचार्यचरण जितना जानते हैं, सम्भव है, आप उतना न जानते हों। अतएव हम आपलोगोंसे शिक्षाके सम्बन्धमें कुछ अपना अभिप्राय भी बतला दें तो आप अनुचित न मानेंगे। प्रह्लाद अभी अबोध बालक है, किन्तु उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है। उसके हृदयमें स्वभावत: असुर-कुल-सुलभ स्वभावके सर्वथा विरुद्ध दयाके भाव भरे हुए हैं, उसे साम्यवादसे प्रेम है और उसके हृदयमें राजकुमार होनेका रत्तीभर भी अभिमान नहीं है। इन बातोंसे हमको भय होता है कि वह कदाचित् हमारे आन्तरिक भावों, अभिलाषाओं और प्रवृत्तियोंका समर्थक न हो। अतएव आपलोग उसको ऐसी उत्तम शिक्षा दें कि जिससे वह हमारे ही विचारोंका अनुगामी बन देवताओं और उनके पक्षपाती विष्णुका कट्टर शत्रु बने और यदि हम अपने भाईका बदला न ले सकें—जो असम्भव है—तो यह बालक प्रह्लाद अपने चाचाके घातक विष्णु और देवताओंसे पूरा-पूरा बदला ले।'

आचार्यपुत्र— 'दैत्यराज! आप विश्वास रखें, हमारी पाठशालामें यों ही सारे-के-सारे विद्यार्थी घोर विष्णुद्रोही तथा देवताओंके अकारण प्रबल शत्रु हैं और उनको हमलोग शिक्षा ही विष्णु एवं देवताओंके विरुद्ध भड़कानेवाली देते हैं। फिर राजकुमारको आपकी आज्ञा पाकर भी हमलोग क्यों न आपके इच्छानुसार शिक्षा देंगे? हमलोग अपनी पाठशालामें आरम्भहीसे यह शिक्षा देते हैं कि देवता हमारे देशके और जातिके शत्रु हैं। इन लोगोंने अपने स्वार्थोंके लिये न जाने कितने यज्ञयागोंके ढोंग रच रखे हैं। पर अब इनकी पोलें खुल गयी हैं, अत: इनको कोई पूजता नहीं। इनकी पूजा करना, इनका आदर करना और दुनियामें इनका अस्तित्व रखना घोर पातक है और आत्मघातके समान है। इसी शिक्षाके प्रभावसे धीरे-धीरे सारे देशके नवयुवक घोर देव-विरोधी हो गये हैं।'

आचार्यपुत्रोंकी शिक्षा-नीतिको सुनकर दैत्यराज बड़ा ही प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि अब विलम्बका समय नहीं है। राजकुमारके उपनयन-संस्कारका सुन्दर मुहूर्त विचारिये। **'शुभस्य शीघ्रम्'** इस नीतिके अनुसार मुहूर्त भी शीघ्र

विचारा गया और उपनयन-संस्कारकी खासी तैयारी होने लगी। गुरुकुल-गमन तथा उपनयन-संस्कारका समय ज्यों-ज्यों समीप आने लगा, त्यों-ही-त्यों राजदरबार तथा अन्तःपुरमें आनन्दमय माङ्गलिक उत्साह भी अधिक दिखलायी देता था, बालक प्रह्लादके हर्षकी तो कोई सीमा ही नहीं रही। वे नित्य ही प्रातःकाल उठकर अपनी मातासे पूछते और दिन गिनते थे कि अब हमारे उपनयन-संस्कार तथा विद्याध्ययनके लिये गुरुकुल-गमनके कितने दिन रह गये। धीरे-धीरे वह दिन आ गया, जिस दिनसे उपनयन-संस्कारके कृत्य आरम्भ होनेको थे।

यज्ञोपवीत-संस्कारके उपलक्षमें सारे नगरमें विशेषकर राजमहलोंमें चारों ओर माङ्गलिक उपकरणोंसे स्थान सजाये जाने लगे और भाँति-भाँतिके बाजे बजने तथा गीत गाये जाने लगे। आचार्यपुत्र, पुरोहित और सभी योग्य विद्वज्जन बुलाये गये। चारों ओरसे राजपरिकर तथा असुरवृन्द एकत्र होने लगे और देखते-ही-देखते एक सुन्दर समारोह हो गया। यज्ञोपवीत-संस्कारके लिये यज्ञशालाकी रचना की गयी और यथाविधि उपनयन-संस्कार कराया गया। आचार्यपुत्रोंने राजकुमारको दीक्षा दी। जिस समय प्रह्लादका उपनयन-संस्कार हो रहा था और उन्होंने माताको सम्बोधित कर कहा कि '**भवति मातर्भिक्षां देहि**' उस समयका दृश्य न तो लेखनीसे लिखा जा सकता है और न मुखसे वर्णन करनेयोग्य ही है। उस दृश्यका अनुभव वे ही कर सकते हैं, जो तीनों लोक और चौदहों भुवनके स्वामी सम्राट् हिरण्यकशिपु-जैसे प्रबल प्रतापी राजराजेश्वरके प्राणाधिक प्रिय पुत्रको शास्त्रविधिकी मर्यादाके पालनार्थ, अपनी जननीसे भिक्षा माँगते हुए देख चुके हैं।

यथाविधि उपनयन-संस्कार होते ही सद्यः उपनीत ब्रह्मचारी राजकुमारके गुरुकुल जानेका आयोजन होने लगा। यद्यपि गुरुकुलका स्थान राजधानी एवं राजमहलसे अधिक दूर नहीं था और न घने वनहीमें था तथापि जिस प्राणाधिक प्रिय पुत्रको एक क्षण भी न देखनेपर माता घबड़ा जाती थी, उसके गुरुकुल जानेका समाचार पाकर महारानी कयाधू विकल-सी हो उठीं और उनके नेत्रोंसे जलकी धारा-सी बहने लगी। इधर प्रह्लादने भी माताका साथ दिया और मातृवियोगका

अनुभव कर वह भी घबड़ा गये तथा रो पड़े। लोगोंके समझाने-बुझानेपर तथा पुत्रकी शिक्षाके लाभोंकी बात विचारकर महारानीने धीरज धारण किया और अपने आँसुओंको पोंछकर प्रह्लादके आँसुओंको पोंछती हुई उनको गोदमें बैठा लिया। गोदमें बैठाकर महारानीने कहा—'बेटा! तुम रोने क्यों लगे? अभी तो नित्य ही तुम आजके दिनको गिनते थे। जब यह शुभ एवं सुन्दर दिन आ गया है, तब रोते क्यों हो? तुम आचार्यजीके यहाँ विद्या पढ़ने जाओगे और वहाँसे बड़े भारी विद्वान् तथा योद्धा बनकर लौटोगे—यह कितने आनन्दकी बात है? जब कभी तुम्हारा जी ऊबे तब अपने गुरुजीसे कहना वे तुमको यहाँ ले आया करेंगे और सबसे मिला दिया करेंगे। बेटा! तुम्हारा गुरुकुल दूर नहीं। इसी नगरके बाहर एक सुन्दर उपवनमें है। कितने ही बार मैं तुम्हारे पिताजीके साथ आचार्यचरणके दर्शनोंको उस स्थानमें हो आयी हूँ और भलीभाँति उसे देखा-भाला है। यदि तुम्हारे आनेमें कभी विलम्ब हो तो मैं तुम्हारे पिताजीके साथ स्वयं वहाँ आऊँगी और तुम्हारे इस मुखारविन्दको चूमूँगी।' इतना कहती हुई माताने प्रह्लादका मुख चूम लिया और वे भी खिलखिलाकर हँस पड़े। प्रह्लादने कहा कि 'माताजी! मैं तो पढ़ने जाता हूँ, तुम जरूर आना, देखो, भूल न जाना। तुमको अपने घरके कामोंसे अवकाश बहुत कम मिलता है।'

पुत्र और माताके बीच ये बातें हो ही रही थीं कि इसी बीचमें दैत्यराजके दूतने आकर और हाथ जोड़ प्रार्थना की कि 'महारानीको राजकुमारके सहित महाराज बुला रहे हैं और महाराजने यह भी कहा है कि गुरुकुल-यात्राका मुहूर्त-काल उपस्थित है, शीघ्र आवें।' दूतकी बातें सुन एक बार फिर महारानी कयाधूके हृदयमें प्रबल पुत्र-वात्सल्यकी लहरें हिलोरें मारने लगीं, किंतु पुत्रकी ओर देख उन्होंने दूतको उत्तर दिया—'अच्छा हमलोग शीघ्र ही वहाँ पहुँचते हैं।' उधर दूत राजदरबारकी ओर गया और इधर माता कयाधूने प्रह्लादको कुछ भोजन कराया और उसको आगे करके वह पुत्रके साथ पीछे-पीछे राजदरबारकी ओर चलीं। आगे-आगे ब्रह्मचारीके वेषमें राजकुमार प्रह्लाद चल रहे थे और पीछे-पीछे अपने राजसी ठाट-बाटके साथ महारानी कयाधू जा रही थीं। धीरे-धीरे महारानी और राजकुमार दोनों ही राजसभामें जा पहुँचे। महारानीको देखते ही सारी सभाने

अभ्युत्थानपूर्वक उनका स्वागत किया और दोनों ही माता और पुत्र, यथोचित अभिवादनके अनन्तर निर्दिष्ट स्थानोंपर जा विराजे। दैत्यराजने प्रह्लादको अपने पास बुला गोदीमें बैठा लिया और सिर सूँघकर हृदयसे लगा लिया। हिरण्यकशिपुका हृदय भी पुत्रवात्सल्यसे द्रवीभूत हो उठा और गुरुकुलकी यात्राका स्मरणकर उसका भी जी भर आया। फिर भी वह वीर पुरुषका हृदय था। अत: उसने सँभलकर कहा कि 'बेटा प्रह्लाद! तुम्हारे गुरुकुल जानेका समय आ गया। देखो, ये हमारे दोनों आचार्यपुत्र ही तुमको अपने आश्रममें शिक्षा देंगे। ये तुम्हारे गुरु हैं। इनकी आज्ञाका अक्षरश: पालन करना और ध्यान रखना कि ये तुम्हारे लिये, हमारे ही समान पूज्य और आदरणीय हैं। तुम्हारे लिये ये संसार-सागरके पार करनेवाले कर्णधार हैं और जबतक तुम शिक्षा प्राप्त करके समावर्तन-संस्कारके द्वारा इस राजमहलमें नहीं आओगे, तबतकके लिये, ये तुम्हारे शिक्षक ही नहीं, सर्वथा रक्षक भी रहेंगे। देखना बेटा! खूब रुचि और परिश्रमके साथ शिक्षा ग्रहण करना।'

पिताकी बातें सुन प्रह्लादने सिरके इशारेसे तथा मधुर स्वरसे कहा—'बहुत अच्छा।' गुरुवरोंकी आज्ञासे प्रह्लादने उठकर माताके चरण छुए, पिताको प्रणाम किया तथा उपस्थित राजसभाके लोगोंको यथोचित अभिवादन किया। माता, पिता तथा अन्य सभी सगे-सम्बन्धी और सभासदोंने आनन्दाश्रुओंके साथ-साथ आशीर्वाद दे, राजकुमार प्रह्लादको नहीं, ब्रह्मचारी प्रह्लादको आचार्यपुत्रोंके साथ गुरुकुल-वासके लिये विदा किया।

सोलहवाँ अध्याय

प्रह्लादकी प्रतिभा

स्वल्पकालमें ही ज्ञान-प्राप्ति

महाराज शुक्राचार्यके सुपुत्र शण्ड और अमर्क यद्यपि बड़े योग्य विद्वान् थे, शास्त्रमें तथा लोक-व्यवहारमें भी बड़े निपुण थे और दैत्यराजकी राजसभाके वे राजपण्डित भी थे, तथापि उनकी बुद्धि क्रूर और उनका हृदय कठोर था। असुरोंके संसर्ग, उनके अन्न-जलके प्रभाव और असुर बालकोंको आसुरी शिक्षा देते-देते वे इतने निर्दय हो गये थे कि जो एक विद्वान्के लिये, शुक्राचार्यके पुत्रोंके लिये तथा अध्यापक-जैसे पवित्र पदके लिये सर्वथा कलङ्ककी बात थी।

एक ओर उग्र और क्रूर प्रकृतिके अध्यापक थे, जो बात-बातमें बालकोंपर क्रोध कर बैठते थे; दूसरी ओर सात्त्विक बुद्धिसम्पन्न, कोमल और करुणहृदय प्रह्लाद, जो किसी भी प्राणीको पीड़ित देखना ही नहीं चाहते थे। गुरु-शिष्यमें परस्पर यह बड़े भारी विरोधकी बात थी। फिर भी ब्रह्मचारी प्रह्लादने अपने गुरुवरोंकी बड़ी शुश्रूषा की और उनके पढ़ाये पाठोंको स्वल्प समयमें हृदयङ्गम कर लिया और सहपाठी छात्रोंके प्रति भी ऐसा प्रेममय व्यवहार रखा कि जिसके प्रभावसे उग्रचेता शण्ड और अमर्क, जो बालकोंको यमराजके समान दिखलायी देते थे, ब्रह्मचारी प्रह्लादके लिये विष्णुरूप शान्त एवं प्रसन्न दिखलायी देने लगे।

ब्रह्मचारी प्रह्लादपर गुरुवर और विद्यालयके सभी प्रकृतिके सभी छात्र तो प्रसन्न थे ही, पर उनपर सबसे अधिक प्रसन्न थीं—माता सरस्वती। थोड़े ही समयमें प्रह्लाद अपनी अप्रतिम प्रतिभाके कारण पाठशालामें सर्वप्रिय और सर्वश्रेष्ठ छात्र समझे जाने लगे और गुरुवर उनके उदाहरणपर अन्यान्य असुरकुमारोंको उत्साहित कर उन्हें आगे बढ़नेके लिये उत्तेजित करने लगे। राजराजेश्वर दैत्य हिरण्यकशिपुके पुत्र प्रह्लाद अपनी पाठशालाके छात्रोंके हृदयेश्वरके समान बन बैठे और जिसके मुखसे सुनिये,

उसीके मुखसे प्रह्लादकी प्रतिभाका ही गान सुनायी पड़ने लगा।

समय-समयपर प्रह्लाद अपने माता-पिताके चरण-दर्शनके लिये गुरुवरोंके साथ राजधानीमें जाते थे और उन्हींके साथ-साथ लौट भी आते थे। मानो यह भी उनके हृदयकी दयालुता थी। क्योंकि वे यह नहीं चाहते थे कि उनके अधिक दिनोंके वियोगसे जननी माता कयाधू और पिता दैत्यराजको किसी प्रकारकी वेदना हो। प्रह्लादका हृदय-मन्दिर भगवान्की दयामयी मूर्तिसे शोभायमान था। वे कैसे किसीके हृदयको दुखाते और कैसे किसीकी हार्दिक वेदनाके कारण बनते? कभी-कभी जब कुछ समयतक ब्रह्मचारी प्रह्लाद अपने पाठानुरोधके कारण माता-पिताके दर्शनको न आने पाते, तब उनकी प्रेममयी माता कयाधू स्वयं अपने प्राणपति दैत्यराजसे अनुरोध करके दैत्यराजके साथ-साथ गुरुकुलमें जातीं और अपने प्राणोपम पुत्र ब्रह्मचारी प्रह्लादको देख और गुरुकुलवासियोंसे उनकी प्रशंसा सुन, मन-ही-मन आनन्दके अपार सागरमें मग्न होती हुई लौट आती थीं।

थोड़ेहीसे समयमें अपने पाठको पूरा करके प्रह्लाद भगवान्की लीलाओंके स्मरण और दर्शनके आनन्दमें मग्न हो रहते थे। कभी एकान्तमें और कभी सबके बीचमें बैठकर वे भगवान्का ध्यान करते थे; किंतु पाठशालाके छात्रोंपर उनकी प्रतिभाका इतना अधिक प्रभाव था कि उनसे कोई कभी यह नहीं पूछता था कि प्रह्लाद, तुम आँखें बन्द किये हुए बैठे-बैठे क्या करते हो? जैसे-जैसे प्रह्लादकी शास्त्रीय शिक्षा बढ़ती गयी, वैसे-ही-वैसे उनकी विष्णु-भक्ति भी बड़ी तेजीसे बढ़ती चली गयी, विद्यालाभ करनेके कारण ही मानो उनकी भगवद्भक्तिका रहस्य विद्यालयके छात्रों एवं अध्यापकोंको यथातथ्य नहीं मालूम हो पाया। इसी प्रकार प्रह्लादका समय गुरुकुलमें भगवच्चिन्तन के आनन्दमें बीतता गया और वर्षोंका समय जाते किसीको भी मालूम न पड़ा। सब लोग यही समझते थे कि प्रह्लाद तो अभी आये हैं, अभी ये बहुत दिन रहेंगे और हमलोगोंको इनके सहवासका यह आनन्द अधिक दिनोंतक प्राप्त होता रहेगा।

समयकी गति बड़ी वेगवती है, अन्तमें वह समय भी आ गया जब प्रह्लादने वेद-वेदाङ्ग तथा अन्यान्य शास्त्रोंकी शिक्षा समाप्त कर ली। अब उनके समावर्तनका समय उपस्थित हुआ। पद्मपुराणमें लिखा है कि—

'अधीत्य सर्ववेदांश्च शास्त्राणि विविधानि च।
कस्मिंश्चित्त्वथ काले च गुरुणा सह दैत्यजः॥
पितुः समीपमागत्य ववन्दे विनयान्वितः॥'

अर्थात् दैत्यराजके पुत्र प्रह्लादजी समस्त वेदों तथा विविध शास्त्रोंको पढ़कर एक दिन गुरुकुलसे अपने गुरुवरके साथ पिता हिरण्यकशिपुके समीप गये और वहाँ पहुँचकर उन्होंने पिताको सविनय प्रणाम किया।

दैत्यराज हिरण्यकशिपुने गुरु-पुत्रोंके साथ आये हुए ब्रह्मचारी पुत्र प्रह्लादको प्रणाम करते देख सहर्ष अनेकानेक आशीर्वाद दिये और स्वयं आचार्य-पुत्रोंको प्रणाम किया। आचार्यपुत्रोंको सुन्दर उच्च आसन देकर दैत्यराजने प्रह्लादको अपनी गोदमें उठा लिया और कुशल-प्रश्न पूछनेके पश्चात् आचार्यपुत्रोंसे प्रह्लादकी शिक्षा-समाप्तिकी प्रशंसायुक्त बातें सुन, समावर्तनके लिये विचार करते हुए प्रश्न किया कि 'बेटा प्रह्लाद! तुम विद्या प्राप्त करनेके लिये बहुत दिनोंतक गुरुजीके स्थानपर रहे हो। गुरुजीके द्वारा तुमने जो उत्तम ज्ञान प्राप्त किया है वह हमें सुनाओ*।'

अनेक विद्वानोंके मतसे अक्षरारम्भकालसे ही दैत्यराजको प्रह्लादकी विष्णु-भक्तिका पता लग गया था और पाँच वर्षकी अवस्थामें ही उन्हें सारी ताड़नाएँ दी गयी थीं। कुछ पुराणोंमें भी अस्पष्टरूपसे किन्तु विद्यारम्भहीसे उनकी विष्णु-भक्तिकी चर्चा फैलने, उनके पीड़ित किये जाने एवं उनकी रक्षामें भगवान् श्रीनृसिंहके अवतार ग्रहणकर हिरण्यकशिपुके वध करनेका उल्लेख है। परन्तु पूर्वापरके विचारसे पद्मपुराणकी बातें हमारी बुद्धिमें समाती हैं और सङ्गति लगानेसे किसी पुराणका मतभेद भी इससे नहीं होता। अतएव हमारे विचारमें जिस समय प्रह्लादसे पहले-पहल दैत्यराजने यह पूछा कि 'हे ब्रह्मचारी प्रह्लाद, हे सुव्रत! तुमने जाननेयोग्य जो बातें गुरुवरसे सीखी हैं वे बतलाओ।' उस समय उनकी अवस्था कुमार नहीं, किशोर थी और वे निरे बालक नहीं, विद्वान् ब्रह्मचारी थे।

---

* प्रह्लाद चिरकालं त्वं गुरुगेहे निवेशितः।
यदुक्तं गुरुणा वेद्यं तन्ममाचक्ष्व सुव्रत॥

(पद्मपुराण उत्तर खं० अ० ९३)

ब्रह्मचारी प्रह्लादने बड़ी ही नम्रतापूर्वक गुरु-चरणों तथा पिताके चरणोंमें सादर प्रणाम कर अपना कथन प्रारम्भ किया—

'यो वै सर्वोपनिषदामर्थः पुरुष ईश्वरः।
तं वै सर्वगतं विष्णुं नमस्कृत्वा ब्रवीमि ते॥'

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् जो समस्त उपनिषदोंके द्वारा प्रतिपादित सबका स्वामी पुरुष नाम ईश्वर है, उस सर्वव्यापी विष्णुको मैं नमस्कार करके कहता हूँ। ज्यों ही प्रह्लादके मुखसे अपने परम शत्रु उस विष्णुभगवान्‌की जिसको मारनेकी चिन्तामें दैत्यराज रात-दिन व्यग्र रहता था स्तुति सुनी, त्यों ही सहसा उसका क्रोध भड़क उठा। चित्त बड़े विस्मयमें पड़ गया और उसको प्रह्लादपर नहीं, प्रत्युत अपने आचार्य-पुत्रोंपर बड़ा क्रोध उपजा। उसने कहा कि 'हे गुरुपुत्रो! तुमने अबोध जानकर प्रह्लादको यह क्या शिक्षा दी है? मेरे लड़केको इस प्रकार जडतापूर्ण शिक्षा तुमलोगोंने क्यों दी? मेरी समझमें यह बात नहीं आती। तुमलोगोंने इतनी ढिठाई की है कि जो मेरे लिये असह्य है। तुमने मेरे परम शत्रुकी स्तुति मेरे ही सामने और मेरे ही पुत्रके मुखसे करवायी है, यह क्या अक्षम्य अपराध नहीं है? इसमें सन्देह नहीं कि इस ब्रह्मचारी प्रह्लादने तुम्हारी ही कृपासे यह सब कुछ सीखा है और तुमलोगोंने मेरे उपकारोंको तथा भयको भुलाकर ये जो ब्राह्मणों-जैसे निरंकुशतापूर्ण कार्य किये हैं, इसके लिये तुमलोगोंको मैं अवश्य ही समुचित दण्ड दूँगा। हे द्विजाधम! तुमलोगोंको मैंने पहले ही भलीभाँति समझा दिया था। उस समय तुमलोगोंने कैसी-कैसी चाटुकारकी बातें कही थीं? क्या अब तुमलोगोंको उनका स्मरण नहीं है? मेरी समझसे तुमलोगोंने यह अक्षम्य अपराध भ्रम-वश नहीं, किन्तु प्रमाद-वश किया है। अतएव तुमलोग प्राणदण्डके योग्य हो, किन्तु गुरु-पुत्र होनेके कारण मैं तुमलोगोंको अभी क्षमा करता हूँ। परन्तु जबतक आचार्यवर शुक्रजी महाराज नहीं आवेंगे तबतकके लिये मैं तुमलोगोंको कारागारमें बन्द रखूँगा। कारण, मुझे यह भय है कि तुमलोग स्वतन्त्र रहोगे तो बालकोंमें मेरे शत्रुकी प्रशंसाके भाव फैलाओगे और सारे देशमें मेरे प्रति द्रोह पैदा करनेकी चेष्टा करोगे।'

आचार्यपुत्र— 'हे दैत्येश्वर! हमलोगोंने आपके पुत्रको यह शिक्षा कभी नहीं दी। आप हमलोगोंपर अकारण ही क्रोध कर रहे हैं। हमारी शिक्षा तो सदैव

विष्णु-स्तुतिके विपरीत ही होती है; हमारे छात्रकी दशामें ब्रह्मचारी प्रह्लादने आपके सामने ही आपकी अवहेलना करके जो विष्णुकी स्तुति की है, इसके लिये हमको आन्तरिक खेद है और इस निमित्तसे हम अपराधी भी हैं कि हमारी शिक्षाका इसके मनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़कर उससे ठीक विपरीत प्रभाव पड़ा। अतएव हमलोग अपने लिये क्षमा नहीं चाहते। आप जैसा उचित समझें, हमलोगोंको दण्ड दें। हमलोग उसे सहर्ष स्वीकार करेंगे।'

अपने गुरुओंको पिताके कोपानलका अकारण शिकार होते देख और दोनों ओरकी बातें सुन, ब्रह्मचारी प्रह्लाद कुछ बोलना ही चाहते थे कि उनका हृदय सहसा द्रवीभूत हो गया। इतनेमें दैत्यराजने ही कहा—'हे पुत्र! तुम ही सत्य-सत्य कहो कि तुमको इस प्रकारकी बुरी शिक्षा किसने दी है? तुम्हारे गुरु कहते हैं कि हमलोगोंने ऐसी शिक्षा कभी नहीं दी। क्या यह सत्य है? यदि सत्य है तो तुम निर्भय होकर बतलाओ कि तुमको किस आततायीने इस प्रकार मेरे परम शत्रुकी मेरे सामने ही स्तुति करनेकी शिक्षा दी है। बेटा! तुम जानते ही हो कि मैंने न जाने कितने ब्राह्मणों और विद्वानोंको केवल इसी अपराधके लिये कि वे विष्णु-भक्त थे, विष्णुका नाम लेते थे और विष्णुकी पूजा किया करते थे, प्राणदण्ड दिया। अतएव शीघ्र ही तुम मुझसे उसका नाम बतलाओ। मैं उसको अभी समुचित दण्ड देकर बतला दूँगा कि इस प्रकारका राजद्रोहपूर्ण अपराध कितना भयङ्कर होता है?'

पिताकी बातें सुनकर ब्रह्मचारी प्रह्लादने बड़े ही विनीतभावसे हाथ जोड़कर कहा—

'शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते॥'

(विष्णु० १। १७। २०)

अर्थात् 'पिताजी! शासन एवं उपदेश करनेवाले तो एकमात्र परमात्मा विष्णु ही हैं जो सारे जगत्‌में सभी प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं, उनके सिवा दूसरा कौन किसको उपदेश देकर शासित कर सकता है?'

हिरण्यकशिपु— 'बेटा! तू बड़ा मूर्ख प्रतीत होता है, जो मेरे ही सामने बारम्बार विष्णुका नाम लेता है। तीनों लोकोंका तो मैं अधीश्वर हूँ, मेरे सामने

कौन दूसरा ईश्वर हो सकता है?'

प्रह्लाद— 'पिताजी! जिस परमात्माका परिचय शब्दोंद्वारा नहीं दिया जा सकता, जो केवल योगियोंके ध्यानमें आता है तथा जिससे यह सारा विश्व उत्पन्न हुआ है और जो स्वयं विश्वरूप है, वही परमेश्वर मेरा विष्णु है।'

हिरण्यकशिपु— 'रे मूर्ख प्रह्लाद! मेरी उपस्थितिमें कौन दूसरा परमेश्वर है? तू बारम्बार जिसका नाम लेता है वह कहाँ है? मालूम होता है कि तेरी मृत्यु समीप आ गयी है।'

पिताके कोपको बढ़ते देख प्रह्लादने बड़ी धीरता और शान्तिके साथ कहा कि—

'न केवलं तात मम प्रजानां स ब्रह्मभूतो भवतश्च विष्णुः।
धाता विधाता परमेश्वरश्च प्रसीद कोपं कुरुषे किमर्थम्॥'

(विष्णु० १। १७। २४)

'हे तात! आप क्रोध क्यों करते हैं? वह विष्णु, केवल मेरे ही ईश्वर नहीं हैं, प्रत्युत सारी प्रजाके एवं आपके भी वही ईश्वर हैं। इतना ही नहीं, सबका धारण करनेवाले धाता और सबको रचनेवाले विधाता भी वही हैं।'

हिरण्यकशिपु— 'न जाने इस दुर्बुद्धि बालकके हृदयमें किसका प्रवेश हो गया है जो यह इस प्रकारके असाधुवाद कर रहा है और आवेशके साथ बक रहा है।'

प्रह्लाद— 'पिताजी! जो विष्णु मेरे हृदयमें प्रविष्ट हैं, वे केवल मेरे ही नहीं, वे ही सारे संसारके और आपके हृदयमें भी प्रविष्ट हैं और वही सब कुछ कहलाते और कराते हैं।'

प्रह्लादको शान्त होते न देखकर पुत्र-प्रेम-वश, दैत्यराजने क्रोधको शान्त करके कहा 'हे मन्त्रिगण! इस दुष्ट बालकको यहाँसे जल्दी निकालो, इसको गुरुकुलमें ले जाकर समझाओ। मालूम होता है किसी विपक्षी दलके व्यक्तिने इसे हमारे शत्रुकी स्तुति करना सिखला दिया है। इसका अधिक दोष नहीं है।'

दैत्यराजकी आज्ञा पाकर ब्रह्मचारी प्रह्लाद पुनः गुरुकुल पहुँचाये गये और वहाँ आचार्यलोग उनको भाँति-भाँतिकी नीति-शिक्षा देने लगे।

सत्रहवाँ अध्याय

हिरण्यकशिपुका कड़ा शासन

देवताओंमें घबड़ाहट, विष्णुभगवान्‌द्वारा आश्वासन-प्रदान

उधर प्रह्लाद पुन: गुरुकुलमें अध्ययन करने लगे और इधर दैत्यराज कठोर शासन करने लगा। यों तो दैत्यराज हिरण्यकशिपुके हृदयसे विष्णुका वैरभाव एक क्षणके लिये भी दूर नहीं होता था, किन्तु जबसे प्रह्लादके मुखसे उसने विष्णुकी स्तुति सुनी तबसे तो मानो उसके वैराग्निमें घीकी आहुति पड़ गयी। उसने अपने असुर अधिकारियोंद्वारा सर्वत्र बड़े जोरोंसे उत्पात मचा दिया। देवताओंकी तो जो दुरवस्था की सो की ही, उन मनुष्योंकी भी नाकमें दम कर दी, जिनपर नाममात्रको भी विष्णुपक्षी अथवा देवानुयायी होनेका सन्देह हुआ। इस बातकी खोजमें असुरोंको गुप्तरूपसे नियुक्त किया गया कि वे देखें, कहाँ कौन विष्णुभक्त अथवा देवताओंका पक्षपाती है? दैत्यराजको प्रह्लादके वचनोंसे यह पूरा-पूरा विश्वास हो गया था कि उसके विरुद्ध विष्णु-भक्तिके प्रचारकोंका कोई दल है जो गुप्तरूपसे लोगोंमें, यहाँतक कि राजकुमारतकके मनमें विष्णुभक्ति उत्पन्न करनेमें लगा हुआ है। इसी कारण उसने ऐसे षड्यन्त्रकारी दलकी खोजके लिये असुरोंको गुप्त दूतके रूपमें नियुक्त कर उनको कड़ी आज्ञा दी कि 'यदि वे असावधानी करेंगे और संसारमें एक भी विष्णुभक्त व्यक्ति रह जायगा तो उन लोगोंका कुशल नहीं है।'

असुर तो यों ही देवताओं और मनुष्योंके शत्रु होते हैं, फिर उनको दैत्यराजकी खुली आज्ञा मिल गयी। उनको मानो अपने शत्रुओंपर अत्याचार करने और करानेका पूरा साधन मिल गया। वे निष्कारण ही देवताओं और मनुष्योंको ढूँढ़-ढूँढ़कर सताने लगे एवं व्यर्थ ही झूठी-झूठी बातें बना लोगोंको विष्णुभक्त

अथवा दैत्य-शत्रु कह-कहकर दैत्यराजके कोप-वह्निका, ईंधन बनाने लगे। नित्य ही न जाने कितने ब्राह्मण मारे जाते, फाँसी पाते और उनकी सारी सम्पत्तियाँ अपहृत (जब्त) कर ली जातीं। विचाराधीन अपराधियोंकी संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ते देख, मदमत्त दैत्यराज भी बिना कुछ सुने-सुनाये ही लोगोंको राजविद्रोही ठहरा, प्राणदण्ड देने लगा। इस प्रकार चारों ओर हाहाकार मच गया। लोग खुलके रोने भी न पाते थे। सब लोग ओठोंके भीतर-ही-भीतर त्राहि भगवन्! त्राहि भगवन्! का जप रात-दिन जपने लगे!

देवताओंने घबड़ाकर अपनी विपदा सुनानेके लिये अपने आचार्य गुरुजीको बुलाया। उनको सारी कहानी सुनानेके पश्चात् देवताओंने उनसे यह भी प्रार्थना की कि 'यदि शीघ्र ही इस दैत्यराज हिरण्यकशिपुके वधका उपाय आप नहीं ढूँढ़ निकालेंगे तो हमलोगोंका अन्त ही समझिये। हमलोग ढूँढ़-ढूँढ़कर सताये और मारे जा रहे हैं। हमारी जीविकाएँ अर्थात् यज्ञादि बन्द कर दिये गये हैं और हमलोगोंके सारे-के-सारे पद और अधिकार दैत्यराजने बलात् छीन लिये हैं। हमलोगोंकी अर्चा-पूजा करनेवाला प्रथम तो कोई रहा ही नहीं, फिर यदि कोई दुबा-छिपा हुआ है भी, तो उसको रात-दिन यही चिन्ता लगी रहती है कि 'अब गये, अब गये।' ऐसी दशामें विरले ही दृढ़ मनुष्य होंगे जो '**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः**' पर दृढ़ रहकर काम करते हों। सारांश यह कि अब हमलोग सब प्रकारसे अपमानित और पीड़ित हो चुके हैं। यदि हमलोगोंके उद्धारका कोई उपाय नहीं हो सकता हो तो, फिर जीवनकी अपेक्षा दैत्यराजके क्रोधरूपी अग्निमें हमलोगोंको अपनी आहुति ही दे देनी चाहिये।'

देवताओंकी करुण-कथा सुनकर बुद्धिमान् बृहस्पतिजीने बड़े ही शान्तभावसे सान्त्वना देते हुए कहा कि—'हे देवताओ! अपने पदको पुनः पाने तथा अपने साम्प्रतिक कष्टोंके निवारणके सम्बन्धमें अधीर मत होओ। काल बड़ा बलवान् है, तुमलोगोंको धैर्य धारण करना चाहिये और इस बातका विश्वास रखना चाहिये कि जब तुम्हारा वह सर्वाधिपत्य सुख नहीं रहा, तब यह दैत्योंकी दासताका दुःख भी न रहेगा। सुख-दुःख तो रथके चक्रके आरेके समान आते-जाते रहते हैं। इनका घूमना कभी बन्द नहीं हो सकता। जो इस कालचक्रकी गतिको जानते हैं और धीरज

धारण कर अपने दुःखोंको सह लेते हैं, वे पुनः सुख प्राप्त करते हैं, इसमें सन्देह नहीं। संसारका यह साधारण नियम है कि जब दुःख होता है तब लोग करुणावरुणालय केशवका स्मरण करते और दीनानाथके शरण जाते हैं, उनके हृदय दुःखी होनेसे शान्त, दयालु और सहिष्णु हो जाते हैं। अतएव दीनबन्धु भगवान् उनकी प्रार्थना सुनते और उनके दुःखोंको दूर करते हैं। इसी प्रकार जब अधिकार प्राप्त होता है और संसारके सारे सुख अपने चेरे बने हुए-से दिखलायी पड़ने लगते हैं, तब लोग अभिमानी हो जाते हैं, वे अभिमानके वशीभूत हो दीन-दुःखियोंको अपना विपक्षी मान सताने लगते हैं तथा मदोन्मत्त हो भगवान्के स्वरूप इस जगत्को अपनी इच्छानुसार प्रकृति-विरुद्ध चलानेकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं तथा अपने नियन्ता परमात्माको भूल जाते हैं। ऐसी दशामें भगवान् उनके उद्धारके लिये तथा अपने सांसारिक नियमोंकी रक्षाके लिये भी उनको दण्ड देते हैं, क्योंकि अभिमान भगवान्का आहार है। इसीलिये वे उनके ऐश्वर्यका नाश करते, उनके परिजनोंका संहार करते और अन्ततोगत्वा न सुधरते देख, उनका भी वध करके उद्धार करते हैं। अतएव घबड़ानेकी कोई बात नहीं। अब दैत्यराजके अभिमानकी सीमा नहीं रही। उसके अत्याचारकी इति हो गयी है, वह शीघ्र ही अपने अत्याचारों और अभिमानका शिकार होगा। आप लोग कुछ दिनोंतक और धैर्य धारण करें।'

देवतागण— 'आचार्यजी महाराज! हमलोगोंको तो दिनोंदिन उसकी शक्ति बढ़ती ही दिखलायी देती है। हमारे दुःखका भी कभी अन्त होगा, इसपर हमें विश्वास ही नहीं होता। फिर उसके वरदानका बल सुनकर तथा अन्य कोई बुरे लक्षण दिखलायी न देनेसे हमलोग अधीर हो रहे हैं।'

देवगुरु बृहस्पति— 'हे देवगण! यही समय तो धैर्य धारण करनेका है। जो मनुष्य विपत्तिमें धैर्य धारण करते हैं वे अपने अपार दुःख-सागरसे अनायास ही तर जाते हैं। इस समय आप दुःखी हैं, अतएव आप लोगोंको दैत्यराजके बुरे लक्षण दिखलायी नहीं देते। हमारी समझसे इस समय उसके बड़े बुरे लक्षण हैं। उसका अन्त समय समीप आ गया है और आपलोगोंके अच्छे दिन अब दूर नहीं हैं। देवगण! दैत्यराज हिरण्यकशिपु अब प्रायः क्षीणभाग्य हो गया है, क्योंकि उसके हृदयमें शोकरूपी शत्रुने अधिकार जमा लिया है। शोकरूपी शत्रु ऐसा प्रबल होता है कि उसपर विजय पाना

हिरण्याक्षको वाराहभगवान्ने मारा है तभीसे वह शोकानलमें जल रहा है और उसी शोकके आवेशमें उसने विष्णुभगवान्से और उनके भक्तोंसे शत्रुता ठानी है। अभी हालमें एक नयी घटना और हुई है, उसके छोटे पुत्र प्रह्लादने 'विष्णु-भक्ति' की दुन्दुभी बजायी और उसकी राजसभामें उसीके सामने जाकर विष्णुकी स्तुति की, उनकी ईश्वरता सिद्ध की और दैत्यराजकी ईश्वरताको तृणके समान भी न समझा। इस कारण अब उसके अपने ही अङ्गमें रोग लग गया है, जिसके शोकसे वह व्याकुल हो रहा है और रात-दिन उसको यह चिन्ता घेरे रहती है कि प्रह्लादकी बुद्धि कैसे पलटे? प्रह्लादकी बुद्धि पलटनेवाली नहीं, अतएव उसका शोक भी घटनेवाला नहीं। जब घरहीमें वैरी है तब दैत्यवंशके नष्ट होनेमें और उनके आधिपत्यके अन्त होनेमें क्या सन्देह है? इस बातको दैत्यराज हिरण्यकशिपु भलीभाँति जानता है। इसीलिये उसको शोक है और बहुत बड़ा शोक है। हे देवगण! अवसर सदा नहीं मिलता और अवसरपर काम न करना आयी हुई सफलताका अपने-आप तिरस्कार करना है। इस समय दैत्यराज शोकाकुल है। शोकके आवेशमें वह ऐसे घोर अत्याचार कर रहा है जिनको देखकर दयानिधान भगवान् लक्ष्मीनारायणका भी आसन डोल गया होगा। अतएव इसी समय यदि तुमलोग भगवान्के शरण जाकर उन्हें अपनी विपदा सुनाओगे, तो वे तुरन्त दैत्यराजके विनाशका उपाय करेंगे। तुमलोग जैसे ही जाओगे वैसे ही वे प्रसन्न होकर तुम्हारा कार्य साधेंगे, इसमें सन्देह नहीं।'

देवताओंने गुरुवर बृहस्पतिजीके आदेशानुसार शीघ्र ही जाकर विष्णुभगवान्से अपनी विपदा सुनानेका आयोजन किया। यात्राकी सुन्दर तिथिमें सविधि पुण्याहवाचन और स्वस्तिवाचन कराकर देवताओंने यात्रा की और सिफारिशके लिये देवदेव भगवान् शङ्करको भी साथ लेकर आगे कर लिया। सब क्षीरसागरके उत्तर किनारेपर जा पहुँचे तथा स्तुति करने लगे।

स्तुति

विष्णु जिष्णु विभु देव मखेशा। यज्ञपाल प्रभु विष्णु सुरेशा॥
लोकात्मा ग्रसिष्णु जन-पालक। कीजै कृपा शत्रु-कुल-घालक॥
केशव कल्प केशिहा स्वामी। सब कारण-कारण खग-गामी॥
कर्मकारि वामता अधीशा। वासुदेव पुरु-संस्तुत ईशा॥
माधव मधुसूदन वाराहा। आदिकर्तृ नारायण काहा॥

नर अरु हंस हुताशन नामा। विष्णुसेन सब पूरण कामा॥
ज्योतिष्मन् द्युतिमन् श्रीमाना। आयुष्मन् पुरुषोत्तम भाना॥
कमलनयन वैकुण्ठ सुरार्चित। कृष्ण सूर्य भव-भव-भय-भर्जित॥
नरहरि महाभीम नख आयुध। वज्रदंष्ट्र जगकर्ता वरबुध॥
आदिदेव यज्ञेश मुरारी। गरुणध्वज पावन असुरारी॥
गोपति गोप्ता भूपति गोविंद। भुवनेश्वर कजनाभ नमित इंद॥
हृषीकेश दामोदर विभु हरि। पालहु सदा कृपा अपनी करि॥
वामन दुष्टदमन ब्रह्मेशा। गोपीश्वर गोविंद रमेशा॥
प्रीतिवर्द्ध त्रैविक्रम देवा। करैं त्रिलोकप तुम्हरी सेवा॥
भक्तिप्रिय अच्युत शुचि व्यासा। सत्य सत्यकीरति भव-वासा॥
ध्रुव कारुण्य पापहर कारुण। शान्ति-विवर्धन पूजित सारुण॥
संन्यासी बदरी बनवासी। शान्त तपस्वी शास्त्र-प्रकाशी॥
मन्दरगिरि केतन चपलाप्रभ। करहु कृपा हमपर श्रीवल्लभ॥
भूतनिकेतन रमानिवासा। गुहावास श्रीपति भयनासा॥
तपोवास दमवास सनातन। सत्यवास मम हरहु दुरितगन॥
पुरुष पुण्य पुष्कल कमलेक्षण। पूर्ण महेश्वर पूर्ति विचक्षण॥
पुण्य विवर्द्धन विज्ञ पुराना। सब पुण्यज्ञ तुम्हें श्रुति भाना॥
शंखी चक्री गदी हवीशा। मुशली हारी ध्वजी कवीशा॥
शार्ङ्गी कवची लाङ्गलधारी। मुकुटी कुण्डलि मेखलि भारी॥
जेता जिष्णु महावीरेशा। शान्त शत्रुतापन देवेशा॥
शान्तिकरण शत्रुघ्न सुशास्ता। शंकर संतनुनुत विख्याता॥
सारथि सात्त्विक स्वामी प्रियतम। सामवेद सावन समृद्धिसम॥
सम्पूर्णांश साहसी बलकर। रमानिवास हरहु सुरवर-दर॥
स्वर्गद कामद कीर्तिद श्रीप्रद। मोक्षद कीर्ति विनाशन गतमद॥
पुण्डरीक लोचन भवमोचन। क्षीर जलधिकृत केतन शोचन॥
सुरासुर स्तुत ईशरु प्रेरक। पाप विनाशन शुभ गुण हेरक॥
यज्ञ वषट्कृत तुम ओङ्कारा। तुम ही अग्नि विदित संसारा॥
स्वाहा स्वधा देव पुरुषोत्तम। तुम हौ सब नहि अपर महत्तम॥

देवदेव शाश्वत भगवन्ता। विष्णु नमत तव चरण अनन्ता॥
अप्रमेय नहि अन्त तुम्हारा। यासों प्रणमत देव उदारा॥
इतने नाम उदार बखानी। विनती कीन्ह महेश भवानी॥

देवताओंकी ओरसे शङ्करजीद्वारा गायी हुई स्तुतिको सुनकर भगवान् विष्णु प्रकट हुए और बड़ी प्रसन्नताके साथ सभी देवताओंका विशेषकर भगवान् शङ्कर तथा महारानी जगदम्बा पार्वतीका स्वागत और यथोचित अभिवादन करते हुए बोले—'हे देवगण! तुमलोगोंकी ओरसे भगवान् देवादिदेव महादेवजीने हमारे इन सौ नामोंके द्वारा हमारी जो अपूर्व स्तुति की है, इससे हम अत्यन्त प्रसन्न हैं। तुमलोग क्या चाहते हो, बतलाओ, हम तुम्हारा काम करनेके लिये तैयार हैं।'

देवगण— 'नाथ! आप तो अन्तर्यामी हैं, हमारे सभी अर्थोंको भलीभाँति जानते हैं। हे हृषीकेश! हे पुण्डरीकाक्ष! हे माधव! आप सब जानते हैं। आपसे हम अपना कार्य क्या बतलावें?'

भगवान् विष्णु— 'अच्छा, देवगण! यदि आप स्वयं कुछ कहना नहीं चाहते तो आपलोग जाइये। हम आपलोगोंके अभिप्रायके अनुसार आपके शत्रु हिरण्यकशिपुका शीघ्र ही वध करेंगे और साथ ही हम यह भी कहते हैं कि भगवान् शङ्करकृत इस सौ नामवाली स्तुतिको जो करेगा, उसका मनोरथ सिद्ध होगा। किन्तु हे देवगण! धैर्य धारण करो। अभी आपके कार्यके पूर्ण होनेमें कुछ विलम्ब है। अभी आपलोग कुछ कालतक इन कष्टोंको सहन करें। शीघ्र ही उसका नाश होगा। हिरण्यकशिपुके छोटे पुत्रका नाम प्रह्लाद है, वह हमारा परम भक्त है, उसको हिरण्यकशिपु हमारी भक्ति करनेसे बरजने लगा है, किन्तु वह माननेवाला नहीं। वह न मानेगा तो दैत्यराज उससे द्रोह करेगा, उसको विविध प्रकारसे मारनेकी चेष्टा करेगा और सतावेगा। जब प्रह्लादको वह अधिक सतावेगा, तब हम नृसिंहरूप धारण कर, उसको मारेंगे और तभी सारे दैत्योंका अत्याचार मिटेगा। अतएव अब इस समय हे देवादिदेव महादेव! आप अपने देवताओंको साथ ले अपने स्थानको पधारिये।'

भगवान् विष्णुके वचनोंसे भगवान् शङ्कर देवताओंसहित बड़े ही प्रसन्न हुए और अपना मनोरथ सफल समझ, सब देवताओंने अपने-अपने स्थानके लिये प्रस्थान किया।
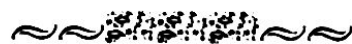
अठारहवाँ अध्याय

प्रह्लादका पुनः गुरुकुल-वास

आचार्यका कठोर शासन

प्रह्लादजी गुरुकुलमें इस बार बड़ी निगरानीके साथ रखे गये। उनके आचार्य साम, दाम और भेदकी नीतिसे उनको अपने वशमें करनेकी चेष्टा करने लगे। बीच-बीचमें दण्डका भी भय दिखलाने लगे। जो प्रह्लाद संसारमें किसी भी प्राणीके चित्तको किसी प्रकारसे भी दुखाना नहीं चाहते थे, वे भला अपने गुरुवरोंके तथा अपने जन्मदाता पिताके चित्तको दुखाना कैसे उचित समझते? अतएव वे बारम्बार इस बातकी चेष्टा करने लगे कि मेरी हरिभक्तिका दुःख गुरुओंको तथा पिताजीको न होने पावे। इसी अभिप्रायसे वे गुरुके सम्मुख न करके उनके परोक्षमें हरिभजन तथा उनका ध्यान करने लगे, किन्तु कभी-कभी उनके हृदयकी भक्ति इतनी बढ़ जाती थी कि वे उसे सँभाल न सकते, इससे वे सहसा गुरुवरोंके सामने भी भगवान्‌के प्रेममें मग्न हो जाते और जोर-जोरसे हरिकीर्तन करने लगते थे। प्रह्लादके साथ ही न जाने कितने और भी बालक उन्हींके स्वर-में-स्वर मिलाकर गाने लगते कि—

माता पिता गुरुरशेषकुलानुयायी
स्वेष्टामरः सुहृदभीष्टपदार्थदायी।
नान्योऽस्ति नाथ भवतः क्वचिदेव कश्चित्
तच्छ्रीनिवास कृपया क्षमतां ममैनः॥

(श्रीकामदः)

अर्थात् हे मेरे नाथ भगवान् श्रीनिवास! कृपा करके मेरे अपराधको क्षमा कीजिये। क्योंकि आपके अतिरिक्त संसारमें माता, पिता, गुरु, कुलके असंख्य लोग, हमारे इष्टदेव एवं मित्रगण कोई भी हमारे मनोरथरूपी मुक्तिपदके देनेवाले नहीं हैं।

इतना ही नहीं, वे बालकोंको सर्वदा भगवद्भक्तिकी शिक्षा देने लगे और न जाने

उनके कितने सहपाठी असुर-बालक उनके अनुयायी होने लगे। धीरे-धीरे विद्यालयमें उनके अनुयायी छात्रोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी। विरोधियोंकी संख्याका ह्रास हो गया। जो छात्र उनके विरोधी थे, उन लोगोंने एक दिन गुरुजीको प्रह्लादजीके इस गुप्त चरित्रका हाल बतलाया। शण्ड और अमर्क प्रह्लादके साथ ही अधिकांश विद्यार्थियोंकी हरिभक्तिकी बातें सुन आगबबूला हो गये। उनकी आँखें लाल हो गयीं तथा ओठ फड़कने लगे। आवेशमें भर उन लोगोंने प्रह्लादको अपने सामने बुलाया। प्रह्लादजी सामने आकर हाथ जोड़ खड़े हो गये। उन्होंने कहा—'आचार्यचरण! क्या आज्ञा है?'

आचार्य— 'प्रह्लाद! हमने तुम्हारी शिकायत सुनी है। क्या यह सत्य है कि तुम स्वयं हरिभक्ति और हरिकीर्तन किया करते हो तथा अपने अन्यान्य सहपाठियोंको भी हरिभक्तिका उपदेश दे उनसे हरिकीर्तन कराते हो? क्या तुम अपने पिता दैत्यराजका आदेश भूल गये? क्या तुम जान-बूझकर मृत्युके मुखमें पैर रखते हो?'

प्रह्लाद— 'गुरुजी महाराज! आपने जो कुछ सुना है, चाहे उसे आप मेरी शिकायत समझें और चाहे प्रशंसा, किन्तु है सर्वथा सत्य। जिन मेरे भाइयोंने मेरे छिपे हुए आन्तरिक भावोंको आपतक पहुँचानेकी चेष्टा की है उनका मैं बड़ा ही अनुगृहीत हूँ। क्योंकि 'गुरुसे कपट' करना घोर पाप है। आपका चित्त दुःखी न हो, इसलिये हमलोग आपकी अनुपस्थितिमें ही सदैव हरिकीर्तन और हरिका ध्यान किया करते हैं।'

आचार्य— 'रे दुष्ट राजकुमार! तू क्या करनेपर उतारू है? अपने पिताके वचनोंकी अवहेलना करके संसारमें तू क्या जीवित रह सकता है? गुरुकी अवज्ञाका पाप क्या तुझे नहीं मालूम? बड़ा ज्ञानी और धर्मात्मा बनता है, किन्तु यह किस धर्मशास्त्रमें लिखा है कि पिता और गुरुजनोंकी आज्ञाकी अवहेलना करना धर्म है? अपने पिताके स्वभावको तू भलीभाँति जानता है। जिस समय उनको यह विदित होगा कि केवल तू ही नहीं, न जाने कितने तेरे सहपाठी इसी पाठशालाके छात्र भी हरिभक्ति और हरिकीर्तन कर घोरतर राजद्रोही बन रहे हैं; उस समय हमलोगोंकी क्या गति होगी? क्या हमलोग उसी समय शूलीपर न चढ़ा दिये जायँगे अथवा फाँसीपर न लटका दिये जायँगे? क्या इतने दिनोंतक हमलोगोंसे विद्याध्ययन करके तू हमलोगोंको अपने पिताजीसे प्राणदण्डरूपी गुरुदक्षिणा दिलाकर ही प्रसन्न होगा?

और इसीसे संसारमें तेरी सुकीर्ति होगी और परलोकमें तेरे 'हरि' तुझे मोक्ष देंगे? क्या तूने गुरु-शिष्यसम्बन्धको ध्यानपूर्वक कभी पढ़ा है?'

प्रह्लाद— 'आचार्यचरण! आपलोग मेरे अपराधोंको क्षमा करें। आपको घबड़ाना नहीं चाहिये। शान्तिके साथ मेरी बातोंको सुनकर ईश्वरपर भी कुछ विश्वास रखना चाहिये। मैं आपको सिखलानेवाला नहीं, नम्रतापूर्वक आपसे प्रार्थना करनेवाला हूँ। भगवन्! आप न तो अपने प्राणोंका भय करें और न मेरे एवं मेरे सहपाठियोंके प्राणोंका ही भय रखें। आप भी उन परमपिता भगवान् विष्णुकी भक्ति करें। उनको हृदयमन्दिरमें स्थान दें। फिर देखें आपका कौन बाल-बाँका कर सकता है? विष्णु संसारके आश्रयस्थल हैं, जगद्बन्धु हैं। वे सभीके प्राणोंके रक्षक हैं, किसीके प्राणका नाश नहीं करते। वे सर्वथा प्रेममय हैं और इसी कारण सबमें अभेदभाव रखते तथा सबकी रक्षा करते हैं। उनका स्नेह सबपर समान रहता है। इस बातको सभी ज्ञानीलोग जानते हैं और इसीसे उनसे प्रेम रखते हैं। हाँ, मूढ़लोग इस रहस्यको नहीं जानते। अतएव उनसे द्वेष करते हैं। आपलोग इस बातको निश्चय जानें और उनकी भक्ति करके निर्भय रहें। जो उनके भक्त हैं उनका एक नहीं, दस दैत्यराज भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते। गुरुवर! क्या आपलोग उनकी महिमासे अनभिज्ञ हैं? फिर आपलोग मुझको अनजान बनाकर क्यों बहकाते हैं? क्या गुरुओंका धर्म यही है कि यथार्थ ज्ञानको छिपावें और मिथ्या ज्ञान सिखावें?'

आचार्य— 'बेटा प्रह्लाद! तुम जो कुछ कह रहे हो वह सत्य होनेपर भी तुम उसके अधिकारी नहीं हो। विष्णुभक्ति और शिवभक्तिमें जो भेदबुद्धि रखते हैं, उनकी मुक्ति नहीं होती। फिर तुम अपने पिताके आदेशानुसार भगवान् शिवको परब्रह्मके रूपमें क्यों नहीं मानते और उनकी भक्ति करके पिता और परमपिता दोनोंके अनन्यभक्त क्यों नहीं बन जाते? तुम्हारा जन्म असुरकुलमें हुआ है। इस कुलमें भगवान् शङ्करकी ही अनन्य उपासना होती है। तुम उनकी उपासनाको छोड़ विष्णुकी उपासना करके अपने कुलके विरुद्ध चलते हो। शास्त्रके आज्ञानुसार कुलाचार और देशाचारका पालन करना धर्म है, फिर तुम क्यों उसको छोड़ते हो? तुमको यह भी जान लेना चाहिये कि—

हरे रुष्टे विधिस्त्राता विधौ रुष्टे हरिस्तथा।
हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन॥

अर्थात् 'यदि भगवान् शङ्कर रूठ जायँ तो ब्रह्माजी रक्षा कर सकते हैं। यदि ब्रह्माजी रूठ जायँ तो भगवान् विष्णु रक्षा कर सकते हैं और यदि विष्णु रूठ जायँ तो गुरुजन रक्षा कर सकते हैं और यदि गुरुजन रूठ जायँ तो संसारमें कोई रक्षा नहीं कर सकता। क्या फिर भी तुम हमलोगोंकी आज्ञा भङ्ग करके हमारे क्रोधके पात्र बननेमें अपना कल्याण समझते हो?'

प्रह्लाद— 'भगवन्! आपलोगोंके उपदेश और आदेश हम सब बालक शिरोधार्य करनेके लिये तैयार हैं; किन्तु जो विष्णु हमलोगोंको सारे चराचरमें दिखलायी देते हैं। वृक्षोंके एक-एक पत्तेमें और प्राणियोंके रोम-रोममें विराजमान हैं। जो हमलोगोंके प्रतिश्वासके साथ-साथ आते और जाते हैं, जिनके नाम और रूपका ही सारा संसार बना हुआ है, उन परमपिता परमात्माको हमलोग भुलावें तो किस उपायसे और किसलिये? हृदयपटलपर जिस मनमोहनकी मूर्ति एक बार खिच चुकी है वह मिटे तो कैसे मिटे? जबतक वह नहीं मिटती तबतक उसीकी सही, किसी दूसरी मूर्तिको बैठावें तो कहाँ बैठावें? वहाँ तो स्थान ही नहीं है।* आचार्यचरण! आप मुझको हठी मानते हैं, मूर्ख मानते हैं और उच्छृङ्खल मानते हैं, किन्तु बात कुछ और ही है। मैं हठी, मूर्ख और उच्छृङ्खल नहीं। हाँ, परवश अवश्य हूँ और जैसे तीर जब धनुषसे छूटकर निकल जाता है, तब उसे वापस बुलाना कठिन ही नहीं असम्भव है; वैसे ही मन भी जब अपने हाथसे निकल गया और भगवान् विष्णुके चरणारविन्दका मधुकर बन गया तब उसको लौटाना

---

*भगवान् विष्णु और भगवान् शिवमें कोई भेद नहीं है, परन्तु अनन्योपासना ऐसी ही होती है। रामचरितमानसमें कथा है कि भगवान् शिवको प्राप्त करनेके लिये कठोर तप करनेवाली पार्वतीके परीक्षार्थ सप्तर्षियोंने भगवान् विष्णुके रूप-गुणकी महिमा सुनाकर प्रलोभित करना चाहा था, परन्तु पार्वतीने बड़ी ही दृढ़तासे उत्तर दिया—'महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम। जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥' 'जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥' यह इष्टमें अनन्यताके भाव हैं। यही भाव यहाँ प्रह्लादजीमें समझने चाहिये।

तथा उसे दूसरी ओर लगाना असम्भव है, कम-से-कम मेरी शक्तिके तो बाहरकी बात है। अतएव अब आपलोग मेरे अपराधोंको क्षमा करें और मुझे परतन्त्र जान मेरा पिण्ड छोड़ दें।'

आचार्य— 'राजकुमार! तुमको यह भी तो समझना चाहिये कि तुमको दैत्यराजके सिंहासनका उत्तराधिकारी बनना है। विष्णुभक्त बनकर वैरागी नहीं बनना है। अभी तुम बालक हो, बालकपनेमें त्यागकी मात्रा अधिक होती है। ज्यों-ज्यों संसारके शासनका भार तुम्हारे ऊपर पड़ेगा, त्यों-ही-त्यों तुम अपनी आजकी भूलपर पछताओगे। अध्यापनकार्य भी बड़ा ही भयकारी होता है, जिसमें अपनी नहीं, छात्रोंकी त्रुटियोंका उत्तरदायित्व अपने ही सिर लादा जाता है। यदि अब भी तुम और तुम्हारे सहपाठी बालक हरिकीर्तन और हरिभक्ति न छोड़ेंगे, तो हमारा किसी प्रकारसे कल्याण नहीं। हमलोग दैत्योंके गुरु हैं देवताओंके नहीं। देवताओंके यहाँ गुरुओंका जितना सम्मान होता है, उतना दैत्योंके यहाँ नहीं। अतएव हमलोग दैत्यराजके कोपानलसे किसी प्रकार बच नहीं सकते। यदि पिताजीके प्रभावके कारण वे अधिक न करेंगे तो हमारी सारी सम्पत्ति अपहृत (जब्त) कर अपमानके साथ देशनिकालेका दण्ड तो हमें अवश्य ही देंगे। इसीलिये हम तुमसे अपने प्राणोंकी गुरुदक्षिणा माँगते हैं।'

प्रह्लाद— 'गुरुवर! पूज्यपाद पिताजीका मुझपर प्रेम अवश्य अधिक है, किन्तु मैं उनके राजसिंहासनका उत्तराधिकारी नहीं हूँ। मेरे ज्येष्ठ भ्राता उसके उत्तराधिकारी हैं। फिर मुझे शासनकी यन्त्रणा देखकर बड़ा त्रास होता है, उससे दूर रहना ही मेरे लिये अधिक कल्याणकारी है। मुझे 'तपसे राज्य और राज्यसे नरककी बातका बारम्बार स्मरण होता है।' यह बात वास्तवमें ठीक ही है। किन्तु फिर भी आप निश्चय मानें कि मैं आजसे आपकी आज्ञाका इतना तो पालन अवश्य करूँगा कि अपने-आप जान-बूझकर आपको तथा पिताजीको अपने मनकी बात 'हरिभक्ति' को प्रकट करके क्रुद्ध एवं दुःखी करनेकी चेष्टा नहीं करूँगा। अवश्य ही उसका छोड़ना तो मेरी शक्तिसे बाहरकी बात है।'

आचार्य— 'बेटा प्रह्लाद! वैष्णवधर्ममें सबसे अधिक महत्त्व गुरुका ही माना गया है।' ऋषियोंने कहा है कि—

बालमूकजडान्धाश्च पङ्गवो वधिरास्तथा।
सदाचार्येण संदृष्टाः प्राप्नुवन्ति परां गतिम्॥
गुरुणा योऽभिमन्येत गुरुं वा योऽभिमन्यते।
तावुभौ परमां सिद्धिं नियमादुपगच्छतः॥

(नारदपाञ्चरात्र)

अर्थात् 'शिष्य चाहे बालक हो, मूक हो, जड़ हो, अन्ध हो, पङ्गु हो और चाहे वधिर हो; किन्तु मदीयत्वके अभिमानके साथ यदि उसको अच्छे आचार्य कृपादृष्टिसे देखते हैं तो वे शिष्य अवश्य ही परमपद—मोक्षको प्राप्त होते हैं। जिस शिष्यको गुरु अपना रक्ष्य मानते हैं अर्थात् जिस शिष्यकी रक्षाका भार सद्गुरु अपने ऊपर समझते हैं और जो शिष्य सद्गुरुको अपना रक्षक—मोक्षप्रदाता समझते हैं, व दोनों ही शिष्य-प्रपत्तिके नियमानुसार परमसिद्धि—मोक्षको प्राप्त होते हैं। अतएव हे राजकुमार! तुम हम गुरुओंको अपना रक्षक मानो, हमलोग यदि तुमको अपना और अपना रक्ष्य न समझते तो तुम्हारे साथ इतनी मत्थापच्ची न करते और अबसे बहुत पहले ही तुमको तथा तुम्हारे दूसरे साथियोंको दैत्यराजके कठोर हाथोंमें सौंपकर यह कह देते कि ये पागल हो गये हैं और इनको सँभालना हमारी शक्तिके बाहर है। परन्तु हम तुम्हारा वध नहीं, कल्याण चाहते हैं, तुमको अपना समझते हैं, तुम हमपर विश्वास करो। वैष्णव-धर्मके अनुसार ही तुम विश्वास करो, तुम्हारे हरि तुमको परमपद अर्थात् मोक्ष देंगे।'

प्रह्लाद— 'आचार्यचरण! इसमें सन्देह नहीं कि आपने हमको शास्त्रज्ञान दिया है, आपलोग हमलोगोंके गुरु हैं और पिताके पदसे भी अधिक पूज्य हैं, किन्तु वैष्णवताके गुरु नहीं।' वैष्णवधर्ममें उसके उपदेशके लिये, सद्गुरुकी आपने जो महिमा कही है, उसके लिये भी आप सद्गुरु-पदके योग्य हो जायँ, तो मेरे हर्षका वारापार न रहे। इसी अभिप्रायसे तो मैं आपलोगोंसे बारम्बार कहता हूँ कि आपलोग भी हरिभक्त होकर एक बार कहें तो—

'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्'

फिर देखें हमलोग आपको अपना विद्यागुरु ही नहीं, धर्मगुरु भी मानने लगें और फिर आपकी यह पाठशाला वैष्णवशाला बन, संसारके न जाने कितने पतित-

उन्नीसवाँ अध्याय

दैत्य-बालकोंसे प्रह्लादकी बातचीत

प्रह्लादका सहपाठी बालकोंको ज्ञानोपदेश

प्रह्लाद पुनः अपना पाठ पढ़ने लगे, गुरु-पुत्रोंने उनको शुक्रनीतिके तत्त्वोंको भलीभाँति पढ़ाया और अर्थ, धर्म तथा काम इन त्रिवर्गोंको समझाया। साथ ही आचार्य-पुत्रोंने शिवपरत्वके न जाने कितने दार्शनिक सिद्धान्तोंकी शिक्षा दी और धीरे-धीरे उनको यह विश्वास होने लगा कि अब प्रह्लाद ठीक रास्तेपर आ गये हैं, विष्णुभक्तिका भूत उनके ऊपरसे उतर गया है। क्योंकि अब प्रह्लादजी उनके सामने हरिकीर्तन करना उचित न समझ उनकी अनुपस्थितिमें ही सब कुछ करते थे। उनकी पाठशालाके वे सब छात्र भी अब प्रह्लादके अनुगामी बन गये जो पहले प्रह्लादकी शिकायत करते थे। अतएव गुरुवरोंको प्रह्लादकी भगवद्भक्तिकी खबर ही नहीं मिलती थी। अब उन्हें विश्वास हो गया था कि प्रह्लादकी वह लड़कपनकी सनक थी, जो अब मिट गयी। इसी कारण वे उसकी चर्चा करके पुनः प्रह्लादको उसका स्मरण दिलाना उचित नहीं समझते थे।

इधर गुरुवर इस प्रकार निश्चिन्त हो बैठे थे, उधर ब्रह्मचारी प्रह्लादकी भगवद्भक्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही थी। उनके सहपाठी उनको पूज्य दृष्टिसे देखने लगे और उन्हींके उपदेशानुसार हरिभक्तिके अमृत-रसका आस्वादन करने लगे। क्या असुर-बालक और क्या द्विजातियोंके बालक, सभी प्रह्लादके अनुगामी बन अपने-आपको कृतकृत्य मानने लगे। एक दिन आचार्यगण अपने गृहकार्यसे बाहर चले गये थे। पीछेसे सभी लड़के आकर प्रह्लादके समीप बैठ गये। प्रह्लादजीसे उन लोगोंने प्रार्थना की कि आप हमको कुछ हमारे जीवनके लिये हितकर उपदेश दें। बालकोंके प्रार्थनानुसार प्रह्लादजीने कहा—

'संसारमें भगवद्भक्तिसे बढ़कर आत्मोद्धारका उपाय दूसरा कोई नहीं, इस

बातको तो तुमलोग खूब ही जान चुके हो। इस समय मैं तुमलोगोंसे केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि इस कुमार-अवस्थासे ही भगवान्‌की शरणागति करनी चाहिये। जो इस अवस्थासे भक्ति करते हैं, वे ही पण्डित हैं। जो यह सोचते हैं कि अभी खेलने-कूदनेका समय है, फिर भक्ति कर लेंगे या जो सोचते हैं कि अभी पढ़ने-लिखनेका समय है, फिर भक्ति कर लेंगे और जो यह समझते हैं कि अभी गृहस्थधर्मका पालन करें,पीछे भगवद्भक्ति कर लेंगे, वे तीनों ही भूलते हैं। जो समझते हैं कि प्रथम अवस्थामें विद्या पढ़ें, दूसरी अवस्थामें धनोपार्जन करें और तीसरी अवस्थामें धर्मोपार्जनके समय भगवद्भक्ति कर लेंगे, वे अपने आत्माको ठगते और सर्वथा भूल करते हैं। भक्ति-जैसे अमृतपानके लिये किसी अवस्थाविशेषकी बाट देखना मूर्खता है। अतएव हे मेरे सहपाठी बन्धुओ! असुरों और द्विजातियोंके सुपूतो! भगवद्भक्तिहीमें लग जाओ और जो लगे हो तो अपने अन्यान्य बन्धुओंको भगवान्‌के भक्त बनानेमें लग जाओ और सब लोग कहो तो—*'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'* थोड़ी देर इस प्रकार बड़े ही प्रेमसे हरिकीर्तन होता रहा, पश्चात् जब प्रह्लाद चुप हो गये तब बालकोंने फिर कहा—'राजकुमार! यद्यपि हम-आप सहपाठी हैं, सहधर्मी हैं, सजातीय हैं और समवयस्क हैं, तथापि आपकी दैवीशक्ति , आपकी अपूर्व भक्ति तथा आपकी अपने ऊपर अनुरक्ति देखकर हमलोग आपके चरणोंके दास बन रहे हैं और आचार्य-पुत्रोंके स्थानमें हमलोग आपहीको अपना पूज्य गुरु मानते हैं। हमलोग जन्मसे अद्यावधि एक ही साथ रहे, किन्तु हमलोगोंको यह पता न चला कि आपने यह अमृतोपम भगवद्भक्तिरूपी ज्ञान कब और किस गुरुसे प्राप्त किया?'

प्रह्लाद— 'प्रिय बन्धुवर्ग! मुझको भगवद्भक्तिका ज्ञान महर्षि नारदजीके द्वारा प्राप्त हुआ था, जो संसारमें सर्वश्रेष्ठ त्यागी और परमभागवत हैं।'

बालकगण— 'हे राजकुमार! जन्मकालसे तो आप अपने अन्त:पुरमें रहते थे, जबसे गुरुकुलमें आये तबसे हमलोगोंका और आपका रात-दिन साथ रहता है, कभी एक क्षणको भी साथ नहीं छूटता, फिर महर्षि नारद कब आये और कब आपको उन्होंने उपदेश दिया? यह बात हमलोगोंकी समझमें नहीं आती।'

प्रह्लाद— 'हे मित्रगण! आपलोगोंका सन्देह ठीक है, मैंने जन्म ग्रहण करनेके बाद आजतक महर्षि नारदजीसे या अन्य किसी महात्मासे भगवद्भक्तिका उपदेश नहीं पाया। मैंने यह उपदेश उस समय पाया था जब मैं अपनी माताके पवित्र गर्भमें था।'

बालकगण— 'राजकुमार! आपकी जैसी सभी बातें कौतूहलकारक होती हैं, वैसे ही यह बात भी बड़े अचरजकी है। लोग पहले अक्षरारम्भ करते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं और तब कहीं उनको भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है। आपने गर्भहीमें कैसे इस ज्ञानको प्राप्त कर लिया? गर्भमें तो जीव अज्ञानदशामें रहता है। उसके ऊपर ज्ञानोपदेशका प्रभाव ही कैसे पड़ सकता है?'

प्रह्लाद— 'भाइयो! आप मेरी बातको हँसी न समझें। मैंने आपसे सत्य ही कहा है कि मुझको हरिभक्तिकी शिक्षा गर्भमें मिली है। इसका इतिहास इस प्रकार है कि मेरे पिताजी जब मन्दराचलकी कन्दरामें तप कर रहे थे, तब देवराज इन्द्रने उनको निर्जीव-सा समझकर 'हिरण्यपुर' पर अकारण आक्रमण करके उसे तहस-नहस कर डाला। पिताजीके सारे सेनापति और हमारे भाईलोग, आत्मसमर्पणकर देवराजके बन्दी बन गये थे और कायर कुपूत असुर भाग-भागकर अपनी-अपनी जान बचाते फिरते थे। युद्ध-विशारद वीर सैनिक युद्धमें काम आ गये तथा विशाल अन्तःपुर अनाथ-सा हो गया। अनन्तर मदान्ध देवराज मेरी माताको अंन्तःपुरसे बलात् अपने साथ ले जानेके लिये तैयार हो गये, उस समय मैं माताके गर्भमें था और वह बहुत ही दीन एवं दुःखित दशामें थीं। बारम्बार अनुनय-विनय करनेपर भी इन्द्रने उनका पिण्ड नहीं छोड़ा, इसलिये वह बड़े ही करुण-स्वरसे रो रही थीं। उनके करुणापूर्ण रुदनको महर्षि नारदजीने सुन लिया। अतः मार्गहीमें आकर देवराजको समझा-बुझाकर उनसे माताजीका पिण्ड छुड़ाया। उस समय सारा 'हिरण्यपुर' मटियामेट हो चुका था। अन्तःपुर भी निर्दयी देवताओंकी करतूतोंसे निर्जन खँड़हरके रूपमें शेष रह गया था। असुरगण या तो मारे जा चुके थे या बन्दी हो चुके थे अथवा भाग-भागकर देश-देशान्तरोंमें लुक-छिप रहे थे। ऐसी दशामें माताजीको कौन आश्रय देता? महर्षि नारद अपनी दिव्यदृष्टिसे यह जान चुके थे कि मैं गर्भमें हूँ अतएव उन्होंने मेरी अनाथा माताको उस समय अपने आश्रममें ले जाकर आश्रय

दिया और जबतक मेरे पिताजी तपस्या करके नहीं लौटे, तबतक वहींपर उनको सुरक्षित रखा। उस समय माताजीके व्याजसे महर्षि नारदजी मुझ गर्भस्थको नित्य ही भगवद्भक्ति एवं भागवत-धर्मका उपदेश करते थे, जो मुझे अबतक स्मरण है। मैंने अबतक जो उपदेश आपलोगोंको सुनाया है वह सब उन्हींका है। माताजी तो कदाचित् उन उपदेशोंको भूल गयीं, किंतु मुझे वे सब अक्षरशः याद हैं और ऐसे याद हैं मानो अभी-अभी महर्षि नारदजी सुनाकर गये हैं।'

बालकगण— 'राजकुमार! अपने अनुभव तथा महर्षि नारदजीके उपदेशका आप जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान समझते हों, कृपया हमलोगोंको वही सुनाइये।'

प्रह्लाद— 'हे प्रिय बन्धुगण! तुमलोगोंने जो पूछा है उसको मैं संक्षेपमें कहता हूँ, ध्यान लगाकर सुनो—

विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोः सर्वमिदं जगत्।
द्रष्टव्यमात्मवत् तस्मादभेदेन विचक्षणैः॥
समुत्सृज्यासुरं भावं तस्माद्यूयं तथा वयम्।
तथा यत्नं करिष्यामो यथा प्राप्स्याम निर्वृतिम्॥
या नाग्निना न चार्केण नेन्दुना च न वायुना।
पर्जन्यवरुणाभ्यां वा न सिद्धैर्न च राक्षसैः॥
न यक्षैर्न च दैत्येन्द्रैर्नोरगैर्न च किन्नरैः।
न मनुष्यैर्न पशुभिर्दोषैर्नैवात्मसम्भवैः॥
ज्वराक्षिरोगातीसारप्लीहगुल्मादिकैस्तथा।
द्वेषेर्ष्यामत्सराद्यैर्वा रागलोभादिभिः क्षयम्॥
न चान्यैर्नीयते कैश्चिन्नित्या यात्यन्तनिर्मला।
तामाप्नोत्यमले न्यस्य केशवे हृदयं नरः॥

असारसंसारविवर्तनेषु
मा यात तोषं प्रसभं ब्रवीमि।
सर्वत्र दैत्यास्समतामुपेत
समत्वमाराधनमच्युतस्य॥
तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं

धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते ।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्ता-
न्निःसंशयं प्राप्स्यथ वै महत्फलम्॥

(विष्णु० १। १७। ८४—९१)

अर्थात् 'यह सारा विश्व भगवान्‌का विस्तृत रूप है। अतएव बुद्धिमानोंको चाहिये कि सबको अभेद-दृष्टिसे अपने ही समान देखें। हम और तुमलोग आसुरभावको छोड़कर ऐसा यत्न करें कि जिससे इस अपार संसारसे निवृत्त हो शान्ति लाभ कर सकें। भगवान् केशवमें हृदय अर्पण करके मनुष्य जिस शान्तिको प्राप्त करता है वह अत्यन्त निर्मल है। उसको न वायु नष्ट कर सकता है, न अग्नि नष्ट कर सकता है, न सूर्य नष्ट कर सकता है और न चन्द्रमा नष्ट कर सकता है। पर्जन्य और वरुण भी उस शक्तिको नष्ट नहीं कर सकते, न सिद्धगण और न राक्षसगण ही उसकी ओर देख सकते हैं। यक्ष लोग भी उसका कुछ बिगाड़ा नहीं सकते और न दैत्यराज ही कुछ कर सकते हैं। सर्प, किन्नर, मनुष्य और पशु भी उसे कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते। इतना ही नहीं, अपने ही दोषसे उत्पन्न ज्वर, अतिसार, प्लीहा, गुल्म आदि रोग तथा द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर, राग और लोभ आदि विकार भी उसको नष्ट नहीं कर सकते। हे दैत्यपुत्रो! इस असार संसारके उलट-फेरके फेरमें मत पड़ो! सर्वत्र समताका पवित्र-भाव हृदयमें रखो। सर्वभूतोंमें समता रखना ही सबसे बड़ा भगवान्‌का आराधन है। उन भगवान्‌को इस प्रकार भक्तिद्वारा प्रसन्न कर लेनेपर संसारमें कौन-सा पदार्थ अलभ्य है? उस परब्रह्म परमात्मारूपी अनन्त कल्पवृक्षके आश्रित होनेपर धर्म, अर्थ और काम-जैसे अल्प अर्थसे क्या? तुमलोग निस्सन्देह परमपद मोक्षरूपी महाफलको प्राप्त कर लोगे।'

प्रह्लादजीके ज्ञानोपदेशको सुन उनके सहपाठी सभी छात्र आनन्दमग्न हो गये और भक्तिरसके अगाध सागरमें गोते खाने लगे, थोड़ी देरतक सब मौन रहे, फिर प्रह्लादके आदेशानुसार सब-के-सब एक स्वरसे हरिकीर्तन करने लगे। हरिकीर्तनके अनन्तर सभी छात्र अपने-अपने विश्राम-स्थलको चले गये।
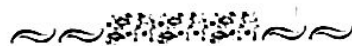
बीसवाँ अध्याय

प्रह्लादका पुनः राजसभामें प्रवेश

प्रथम बारका आक्रमण, पुरोहितोंकी प्रार्थनापर मुक्ति

कुछ समयके पश्चात् दैत्यराजने अपना दूत भेजकर गुरुपुत्रोंके साथ ब्रह्मचारी प्रह्लादको बुलवाया और बड़े प्रेमके साथ उनको अपनी गोदमें बिठाकर पूछा—'बेटा' इतने दिन हो गये, तुमने जो विद्याका सार अपने आचार्य-चरणोंसे प्राप्त किया हो, उसको हमें सुनाओ। बेटा प्रह्लाद! तुम्हारे गुरु तुम्हारी बड़ी प्रशंसा करते हैं और तुम्हारी माता तो तुम्हारे समान देवबालकोंके ज्ञानको भी नहीं मानती। इस प्रकार हम बारम्बार दूसरोंसे तुम्हारी प्रशंसा सुनते रहे हैं, आज स्वयं तुम्हारे ही मुखसे ज्ञान-चर्चा सुनना चाहते हैं, कहो।'

प्रह्लाद— 'पितृचरण! सबसे प्रथम मैं आपके पूज्य-चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, तत्पश्चात् अपने गुरुओंके चरण-कमलोंमें सादर प्रणाम करके आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। पिताजी—

श्रवणं कीतर्नं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् भगवान्‌की कथा-वार्ता सुनना, उनके गुणानुवादका कीर्तन करना, उन्हींका स्मरण करना, उनकी परिचर्या करना, उन्हींकी दृढ़ विश्वासपूर्वक पूजा करना—उनके चरणकमलोंमें अपने समस्त सत्कर्मोंका अर्पण करना, उन्हींको अपना उद्धारकर्ता मानना, उन्हींकी वन्दना करना, उन्हींको अपना एकमात्र परम स्वामी

मानना, उन्हींको परम प्रिय मित्र समझना और उन्हींके शरणागतिमें अपने-आपको अर्पण कर देना—यही भगवान्‌की नवधा-भक्ति है। यदि पुरुष इस भक्तिको उन्हींके चरणकमलोंमें अर्पण करके करे तो मैं इसीको उत्तम अध्ययन समझता हूँ।' जिस प्रकार बेची हुई गौओंके पालन-पोषणका भार विक्रेता अपने ऊपर नहीं समझता, उसी प्रकार जो आत्मसमर्पणकर्ता आत्मसमर्पण करके किसी भी बातकी कोई भी चिन्ता नहीं करता, वही ज्ञानी है और इसी ज्ञानको मैंने स्वयं सर्वोत्तम ज्ञान समझा और पढ़ा है।

दैत्यराज— 'हे ब्रह्मबन्धो! हे कृतघ्न गुरुपुत्रो! तुमलोगोंने हमारे पुत्रको यह क्या पढ़ा दिया है? तुमलोगोंने ब्रह्मचारीको सीधा-सादा देखकर ये असार बातें, जो हमारे विरुद्ध और हमारा अपमान करनेवाली हैं, पढ़ाकर कितनी बड़ी मूर्खता की है। अवश्य ही संसारमें बहुतेरे शत्रु ऐसे होते हैं जो छिपे हुए और मित्रके रूपमें रहते हैं, किंतु जिस प्रकार समय और संयोग पाकर पापियोंके पापजनित रोग प्रकट हो ही जाते हैं, उसी प्रकार उन प्रच्छन्न शत्रुओंकी शत्रुता भी संयोग पाकर प्रकट हो ही जाती है। आज हम देख रहे हैं कि जिन आचार्यचरणको हम अपना सर्वस्व समझते हैं, उन्हींके सुपुत्र तुमलोगोंने हमारे उपकारोंको भुलाकर हमारे ही भविष्यको बिगाड़नेके लिये एक सीधे-सादे ब्रह्मचारीको कैसी भयङ्कर शिक्षा दी है? क्या इस कृतघ्नताका फल तुमलोगोंके लिये अच्छा होगा?'

गुरुपुत्र— 'दैत्यराज! आप क्रोध न करें, इस बालककी यह विरोधिनी बुद्धि न तो हमलोगोंकी शिक्षाका फल है, न किसी दूसरेकी शिक्षाका ही फल है। यह तो इसकी स्वाभाविकी बुद्धि है। हमारी बातपर आप विश्वास करें और सन्देह हो तो स्वयं परीक्षा करके देख लें।'

दैत्यराज— 'हे पुत्र! तुम्हीं सत्य-सत्य बतलाओ, तुमको बालक समझकर किसने अपने जाति, कुल एवं स्वयं पिताके शत्रु विष्णुकी भक्ति सिखलायी है? बेटा! तुमको ब्राह्मणोंने जिस प्रकार बहकाया है, इसी प्रकार बालकपनमें हमको भी इन लोगोंने ही बहकाया था, किन्तु ज्यों-ज्यों हमारी अवस्था और बुद्धि परिपक्व हुई, त्यों-ही-त्यों हम उनकी असार बातें छोड़, अपनी पदमर्यादाके अनुसार काम करने लगे। आज तुम हमको जो तीनों लोकके स्वामी देख रहे हो, यह ब्राह्मणोंकी शिक्षाका

फल नहीं है, हमारे पुरुषार्थका फल है। अभी तुम इन ब्राह्मणोंकी मायाको नहीं समझते। ये बड़े ही कृतघ्न, राजद्रोही एवं आत्माभिमानी होते हैं। भिक्षाटन करनेवाला ब्राह्मण भी अपने-आपको चक्रवर्ती सम्राट्से भी ऊँचे पदका महाराज समझता है। अतएव इनके संसर्गसे तुमको अब हम दूर ही रखेंगे। बेटा! यह तो बतलाओ कि तुमको पाठशालामें या बाहर, कहाँ किसने ऐसी शिक्षा दी है कि तुम शत्रुकी सेवा और भक्ति करो। यह तो एक मूर्ख भी जानता है कि यदि सर्प चूहेकी भक्ति करने लगे, बिल्ली चूहोंके चरण-रजको सिर चढ़ाने लगे और मोर सर्पकी आवभगत करने लगे तो सर्प, बिल्ली और मोरकी इज्जत मिट्टीमें मिल जायगी तथा चारों ओर उनके पौरुषकी निन्दा होने लगे। जो मनुष्य शत्रुकी सेवा करता है उसको लोग कायर, अकर्मण्य और कुपूत कहते हैं, इसलिये बेटा! बतलाओ तो तुमको किसने राजकुमारके योग्य शिक्षा न देकर कुपूतोंके योग्य शिक्षा दी है?'

प्रह्लाद— 'पिताजी! आप मेरे गुरुओंकी बात सत्य मानें। मुझे न तो गुरुओंने शिक्षा दी है कि विष्णुभक्ति सर्वोपरि है और न किसी अन्य ब्राह्मणने ही। आप ब्राह्मणोंपर क्रोध न करें, मुझे जिसने शिक्षा दी है वह मेरे अन्तरात्मामें, आपके भी अन्तरात्मामें और सारे संसारके अन्तरात्माओंमें बैठा है। वह एक है, अनेक है, सर्वव्यापी है और विश्वरूप है। आप उस विष्णुकी भक्तिको बुरा न समझें। उसकी भक्तिसे आपके सभी मनोरथ सिद्ध होंगे। आप अब अविलम्ब उसीकी शरणागतिको स्वीकार करनेकी कृपा करें।'

दैत्यराज— 'हा दैव! यह कैसा अनर्थ है? जिस अपने हृदयके टुकड़ेको हम तथा महारानी कयाधूने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय समझा था, आज उसकी दुर्बुद्धिके कारण क्या हमें उसको—कोमल कमलकी-सी कलीको अपने हाथों मसलना पड़ेगा। यह हृदयविदारक कार्य विवश होकर क्या हमको करना ही पड़ेगा? हे शङ्कर! इस बालकका कल्याण करो और इसकी बुद्धिको शुद्ध करो। बेटा प्रह्लाद! अब भी तुम्हारी बुद्धि ठिकाने नहीं आयी यह कितने दुःखकी बात है? तुम जिस विष्णुकी भक्ति करते हो वह हमारा घोर शत्रु है, देवताओंका बड़ा पक्षपाती है। उसकी जितनी ही निन्दा की जाय थोड़ी है। उसने तुम्हारे चचाको जो हमारा परम प्रिय भ्राता था, अकारण ही पातालमें जाकर मार डाला था। क्या अपने चचाके वध

करनेवाले आततायीकी भक्ति करनेसे संसारमें तुम्हारी अपकीर्ति न होगी? तुमको लोग या तो कुलद्रोही कुपूत कहेंगे या कायर! अतएव अभी समय है, तुम उस हमारे शत्रुका नाम लेना छोड़, अपने कुलकी मर्यादाके अनुसार वीर पुत्रके समान हमारी शिक्षा ग्रहण करो।'

प्रह्लाद— 'पितृचरण! संसारमें न तो कोई किसीका मित्र है और न शत्रु है, जो व्यक्ति किसीको शत्रु मानकर उसपर क्रोध करते हैं वे वास्तवमें अपनी ही हानि करते हैं। संसार विष्णुमय है, अतएव यह विश्व उसका शरीर है, जिसे विराट्-पुरुष कहते हैं। शरीरका एक अंग दूसरे अंगका शत्रु कैसे हो सकता है? आप उस निर्विकार परब्रह्म विष्णुको अपनी पक्षपातिनी बुद्धिहीसे पक्षपाती, अपनी शत्रुताभरी बुद्धिसे शत्रु एवं अपनी न्यायरहित बुद्धिसे अन्यायी कहते और समझते हैं; वास्तवमें वह सर्वेश्वर न पक्षपाती है, न अन्यायी है और न आपका शत्रु है। आप मेरे जन्मदाता पिता हैं। आपकी आज्ञा मेरे लिये सर्वथा शिरोधार्य है, किन्तु कृपापूर्वक न तो उस परम पिताकी भक्तिको छुड़ानेकी चेष्टा करें और न आप मेरे अन्त:करणको चोट पहुँचानेवाली उनकी निन्दा ही करें।'

प्रह्लादकी बातें सुन दैत्यराज क्रोध और पुत्रवात्सल्यके द्वन्द्वसे उन्मत्त-सा हो उठा। अन्तमें उसने कहा कि 'हे असुरो! मैं अपने हृदयको पाषाणके समान कठोर करके तुमलोगोंको आज्ञा देता हूँ, इस असुरकुलके कुलाङ्गारको ले जाओ और अपने तीक्ष्णधार शस्त्रों और अस्त्रोंसे इसका तुरंत अन्त कर डालो। मेरे सामनेसे इसे तुरंत हटाओ और निर्दय होकर इसका वध कर डालो। सावधान, महारानी कयाधू इस बातको न जानने पावें, जब इसका वध हो जाय तभी उनके कानोंतक यह समाचार पहुँचे।'

दैत्यराजकी आज्ञा पाते ही न जाने कितने असुर अपनी भयङ्कर भाषा और भेषसे भयभीत करनेकी चेष्टा करते हुए एकाएक ब्रह्मचारी प्रह्लादकी ओर दौड़ पड़े और सहसा उनको उठाकर एक ऐसे निर्जन एवं भयावने स्थानपर ले गये जहाँका दृश्य श्मशानके समान महान् भयावना था। उस विस्तृत निर्जन स्थानमें असुरगण अपनी आसुरी-प्रकृतिकी निर्दयताका परिचय देने लगे। ब्रह्मचारी प्रह्लादपर वे अपने तीक्ष्णधार हथियारोंसे एक-एक करके आक्रमण करने लगे

और ऐसा कोलाहल मचाने लगे कि जिससे एकका शब्द दूसरेको सुनायी न पड़े। शस्त्रोंकी मारसे प्रह्लादका बाल भी बाँका न होते देख दैत्यराजकी आज्ञाका स्मरण कर असुर बारम्बार खिसिया-खिसियाकर एक ही साथ आक्रमण करने लगे, किन्तु भगवान्‌के भक्त प्रह्लाद अपने अन्तरात्मा विष्णुकी भक्तिमें निमग्न खड़े रहे। भगवत्-कृपासे उन्हें अपने शरीरपर किये गये असुरोंके शस्त्रास्त्रोंके आक्रमण पुष्पवृष्टिके समान प्रतीत होते थे। उनपर जितने शस्त्रास्त्र चलाये गये, वे सभी नष्ट-भ्रष्ट हो गये। एक भी कामका न रह गया। अन्तमें उन असुरोंने हताश हो असुरेश्वरकी राजसभामें जाकर अपने निष्फल आक्रमणोंकी कथा बड़ी लज्जा और बड़े आश्चर्यके साथ सुनायी। असुरेश्वर भी क्रोध और आश्चर्यवश उसी निर्जन-स्थानमें अपने असुर-वीरोंके साथ जा पहुँचे और उन्होंने वहाँ प्रह्लादकी कोमल कमल-जैसी कमनीय मूर्तिको स्थिर, ध्यान-मग्न एवं स्तब्ध बैठे देखा।

हिरण्यकशिपुने असुरोंको पुन: अपने सामने प्रह्लादपर आक्रमण करनेकी आज्ञा दी। उन लोगोंने पुन: घोर आक्रमण किया, किन्तु इस बार भी फल कुछ भी न हुआ। सारे-के-सारे शस्त्रास्त्र प्रह्लादके शरीरसे टकरा-टकराकर चूरमूर हो दूर गिर पड़े। बड़े-बड़े वज्र-समान शस्त्रास्त्रोंको इस प्रकार तृणके सदृश टूटते तथा मिट्टीके समान फूटते देख, दैत्यराजके आश्चर्यकी सीमा न रही। उसने ध्यानावस्थित, निस्तब्धमूर्ति प्रह्लादको सम्बोधित करके कहा—'प्रह्लाद! प्रह्लाद! तू यह क्या बाजीगरी कर रहा है?' उत्तर कुछ नहीं मिला। प्रह्लाद ज्यों-के-त्यों निस्तब्ध ही बैठे रहे। उनका ध्यान नहीं टूटा। इस घटनाको देख सारे-के-सारे असुर वीर और उनके स्वामी असुरेश्वर हिरण्यकशिपु चित्रके समान खड़े रह गये। सब पत्थरकी मूर्ति-से बन एक-दूसरेकी ओर देख रहे थे, कोई किसीसे कुछ भी नहीं बोलता था। कुछ देर बाद भक्त प्रह्लादका ध्यान टूटा और उन्होंने आँखें खोलीं तो सामने अपने पिताको असुर वीरोंसहित खड़े देखा। प्रह्लादने पिताको सादर प्रणाम किया और मधुर-स्वरसे मोहितसे करते हुए कहा कि 'पिताजी! क्या आज्ञा है?'

दैत्यराज— 'प्रह्लाद! तुमको इन दैत्योंने वज्र-समान तीखे हथियारोंसे न जाने कितनी बार मारनेकी चेष्टा की; किन्तु तुम्हारे कमल-सदृश कोमल शरीरसे टकरा-टकराकर सारे-के-सारे हथियार बेकार हो गये, पर वे तुम्हारे एक रोमको भी हानि

नहीं पहुँचा सके, इसका क्या कारण है? क्या तुमने कोई अस्त्र-शस्त्र-निवारण-मन्त्र सिद्ध किया है? अथवा इसका कोई अन्य कारण है?'

प्रह्लाद— 'पिताजी! इसमें अचरजकी कोई बात नहीं है। आप सत्य समझें, यह केवल भगवान् विष्णुकी महिमा है—

विष्णुः शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः।
दैतेयास्तेन सत्येन माक्रमन्त्वायुधानि मे॥

(विष्णु० १। १७। ३३)

अर्थात् 'हे पिताजी! जो सर्वव्यापी विष्णुभगवान् आपके शस्त्रोंमें वर्तमान हैं वे ही मेरे शरीरमें हैं। दोनोंहीमें वे मुझे समानरूपसे दिखलायी देते हैं। इसी सत्य ज्ञानके कारण ये आपके हथियार मुझपर आक्रमण नहीं करते।'

दैत्यराज— 'रे मूर्ख राजकुमार! अब भी कुशल है, तू शत्रुपक्षको छोड़ दे, हम तुझको अभय प्रदान करते हैं।'

प्रह्लाद—

'भयं भयानामपहारिणी स्थिते
मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरान्तकादि-
भयानि सर्वाण्यपयान्ति तात॥'

(विष्णु० १। १७। ३६)

अर्थात् 'हे पिताजी! जिन भगवान् विष्णुके स्मरणसे इस संसारके जन्म, जरा और यम आदिसे उत्पन्न भय भाग जाते हैं, उन भयहारी विहारीके मेरे मनमें रहते मेरे लिये भय कहाँ है?'

प्रह्लादजीकी बातें सुनकर दैत्यराज पुनः क्रोधसे उन्मत्त हो गया और बोला—'हे सेवको! इस दुष्ट बालकको तुमलोग तुरन्त अपने विषकी ज्वालासे भस्म करके हमारे आन्तरिक शत्रुको नष्ट कर दो।' दैत्यराजकी आज्ञा सुनते ही कुहक, अन्ध, तक्षक आदि महाविषधर सर्पोंने सहसा ब्रह्मचारी प्रह्लादपर आक्रमण किया और उनके सारे शरीरमें लिपटकर वे उसे काटने लगे, किन्तु भक्त प्रह्लादके शरीरमें न तो उनके विषधर दाँत गड़े और न उनके विषकी ज्वालाका ही उनपर कोई प्रभाव पड़ा, प्रत्युत

उन सर्पोंके हृदय काँपने लगे, दाँत टूक-टूक हो गये, मणि फूटने लगी और फण फूटने लगे। सर्पोंने अपनी यह दशा दैत्यराजसे कही, जिसे सुनकर दैत्यराजको बड़ा आश्चर्य हुआ एवं चिन्ता उत्पन्न हो गयी। उसने अपने बड़े-बड़े मतवाले दिग्गजोंको आज्ञा दी कि 'हे दिग्गजो! तुमलोग जिस प्रकार रणमें शत्रुओंको धूलमें मिला देते हो, अपने कोपानलसे भस्म कर देते हो, उसी प्रकार इस राजकुमारको भी शत्रुपक्षी हो जानेके कारण तुरन्त नष्ट कर दो।' आज्ञा पाते ही पर्वत-शिखरके समान ऊँचे दिग्गज चिग्घारते हुए भक्त प्रह्लादपर एकदम टूट पड़े और उन्हें पैरोंसे कुचलने तथा दाँतोंसे पीस डालनेकी चेष्टा करने लगे। गजराज बारम्बार प्रहार करते थे, किन्तु प्रह्लादके शरीरपर उनका तनिक भी आघात नहीं लगता था; उलटे दिग्गजोंके दाँत टूट गये, उनके पैर बेकार हो गये और उनकी सारी मस्ती बात-की-बातमें उतर गयी। लाचार हो दिग्गजोंने भी जाकर दैत्याराजसे अपनी दुर्दशाका वर्णन करते हुए अपने घावोंको दिखलाया। दिग्गजोंकी दुर्दशा देख दैत्यराजने पुनः प्रह्लादको बुलाकर पूछा कि—'रे हठी प्रह्लाद! तेरी यह क्या बाजीगरी है? अब भी कुशल है, तू हठ छोड़ अपने जीवनको सफल कर।' पिताके वचनोंको सुनकर प्रह्लादने पिताको सादर प्रणाम किया और कहा—

दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः
शीर्णा यदेते न बलं ममैतत्।
महाविपत्तापविनाशनोऽयं
जनार्दनानुस्मरणानुभावः ॥

(विष्णु० १। १७। ४४)

अर्थात् 'पिताजी! कुलिशके समान ये गजराजोंके निष्ठुर दाँत जो मेरे शरीरपर आघात करनेसे टूट गये हैं और फट गये हैं इसमें मेरा भी कुछ भी बल या पौरुष नहीं है। यह तो महाविपत्ति और क्लेशोंके नाश करनेवाले भगवान् जनार्दनके नाम-स्मरणका प्रभाव है।'

पुत्रकी दृढ़ता और अपने उद्योगोंकी असफलता देख, दैत्यराजके क्रोधाग्निमें मानो घृतकी आहुति पड़ने लगी। दैत्यराजने असुरोंको आदेश दिया कि 'इस राजद्रोही राजकुमारको काष्ठकी महाचिता बनाकर उसमें फूँक दो।' असुरोंने दैत्यराजके आज्ञानुसार एक महाचिताकी रचनाकर उसमें आग लगा दी। जब महापवनकी

प्रेरणासे आग धधक उठी तब उन लोगोंने प्रह्लादको उसमें झोंक दिया। असुरगण चारों ओर घेरे खड़े थे और यह देख रहे थे कि प्रह्लादकी एक हड्डी भी अब न बचेगी; किन्तु जब आग शान्त हुई और उसकी लपटें निकलनी बन्द हो गयीं तब देखा गया कि अग्निके बीचमें प्रह्लाद भगवान्के ध्यानमें मग्न खड़े हैं। उनके शरीरपर और उनके किसी वस्त्रपर अग्निका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। वे ऐसे विराजमान हैं मानो शीतल कमलकी लाल-लाल पंखुरियोंके बीचमें उसका फलपुञ्ज शोभायमान हो।

इसी प्रसङ्गमें यह कथा भी प्रचलित है कि ढुण्ढा नामकी एक राक्षसी थी, जो दैत्यराजकी बहिन कही जाती थी। उसको यह सिद्धि थी कि वह जिसको गोदमें लेकर आगकी चितामें बैठ जाय, वह जल जाय, किन्तु वह राक्षसी स्वयं न जले। प्रह्लादको जलानेके लिये भी वह बुलायी गयी और ज्यों ही वह प्रह्लादको गोदमें लेकर चितामें बैठी और चितामें आग लगायी गयी, त्यों ही ढुण्ढा तो भस्म हो गयी, परन्तु प्रह्लादजी नहीं जले। ढुण्ढाने अपनी प्रकृतिकी दुष्टतासे न जाने कितने बालकोंको जलाया था, अतएव बालसमाज उसका घोर शत्रु था। इसलिये ज्यों ही ढुण्ढा भस्म हो गयी त्यों ही बालकोंमें आनन्द छा गया और सब लोगोंने जाकर अग्निकी पूजा की तथा उसकी चिता-भस्म सिरमें लगायी। वह दिन फाल्गुनी पूर्णिमाका और वार्षिक अग्न्याधानका था। अतएव उस दिनको लोग पवित्र तथा बालघातिनी ढुण्ढाके नाशका स्मारक समझ ढुण्ढेरीके नामसे मनाने लगे, जिसका शुद्ध नाम 'ढुण्ढारी' कहा जाता है।

बात कुछ भी हो किन्तु प्रबल पवनप्रेरित महाचितामें भी जब प्रह्लाद नहीं जले, तब उन्होंने दैत्यराजसे हाथ जोड़कर कहा कि—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि
न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि
शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि॥

(विष्णु० १। १७। ४७)

अर्थात् 'हे पिताजी! यह महापवनसे प्रेरित प्रज्वलित अग्नि मुझे नहीं जलाती, मुझको तो सभी दिशाएँ ऐसी शीतल प्रतीत हो रही हैं मानो मेरे चारों

ओर कमल बिछे हों।'

प्रह्लादको अग्निमें न जलते हुए देख दैत्यराजने असुरोंको आज्ञा दी कि 'इस बालकको ले जाकर बड़ी ऊँची पहाड़की भयावनी चोटियोंपरसे नीचे पटक दो, जिससे इसका शरीर चूर्ण-विचूर्ण हो जाय।' असुरोंने वैसा ही किया; किन्तु वहाँ भी प्रह्लादका बाल-बाँका न हुआ। वे ज्यों-के-त्यों सानन्द शान्तस्वरूप पहाड़की चोटियोंके नीचे जा खड़े हुए। जब दैत्यराजसे असुरोंने वहाँका सारा समाचार सुनाया, तब तो वे अत्यन्त क्रोध और आश्चर्यके सागरमें डूबने-उतराने लगे। दैत्यराजकी चिन्ता और विकलता देख, पुरोहितोंने उसकी स्तुति करते हुए कहा कि 'आप अपने इस देवतुल्य पुत्रपर क्रोध न करें और न इसके सम्बन्धकी चिन्ता करें। आपके उपाय इसके ऊपर सफल नहीं हुए, इसकी भी चिन्ता आप न करें; इससे आपका कोई अपमान नहीं है। नीतिशास्त्रमें लिखा है कि '**सर्वतो विजयं हीच्छेत् पुत्रादिच्छेत्पराभवम्**।' अर्थात् बुद्धिमानोंको चाहिये कि सबसे विजयकी इच्छा रखे, किन्तु पुत्रसे तो यही इच्छा रखे कि वह महान् बली होकर हमको ही हरा दे। राजन्! आप प्रसन्न हों, अब हम इसको फिर अपने साथ ले जाते हैं और इस बार इसको हमलोग ऐसी शिक्षा देंगे, ऐसा तैयार करेंगे कि यह विपक्षियोंका पक्षपाती न होकर शत्रुओंका दृढ़नाश करनेवाला होगा। आप इस अपने छोटे पुत्र और अपने हृदयके टुकड़ेपर अब क्रोध न करें! इसमें इसका नहीं इसकी अवस्थाका दोष है। बालपनमें सभी दोष घेरे रहते हैं। इसीसे बालपनको नीतिकारोंने दोषोंका आश्रय कहा है और इसीसे बालपनके दोषोंसे बचानेके लिये ही बालकोंको ब्रह्मचर्यव्रत तथा सद्गुरुद्वारा शिक्षा देनेका नियम चला आता है। 'दैत्यराज! यदि इस बार भी यह बालक हमारी शिक्षासे न सुधरेगा और आपकी आज्ञाकी अवहेलना कर शत्रुओंका गुणानुवादी एवं राजद्रोही बना रहेगा तो हमलोग एक ऐसी 'कृत्या'को उत्पन्न करेंगे कि जो फिर किसीके लौटानेसे भी न लौटेगी और इसको भस्म ही करके छोड़ेगी।'

पुरोहितोंकी प्रार्थना दैत्यराजने स्वीकार कर ली और प्रह्लादको पुन: पाठशालामें जानेके लिये आज्ञा दे दी। पुरोहितोंके साथ प्रह्लादजी पुन: विद्यालयमें पधारे और वहाँ उन्हें नीतिशास्त्रकी शिक्षा दी जाने लगी।
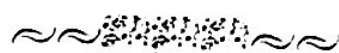
तो दूर रहा उससे पिण्ड छुड़ाना भी यदि असम्भव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है। शोक बुद्धिको नाश कर देता है और पढ़े-लिखे लोगोंके वेद-शास्त्र आदिके ज्ञानको भी भुला देता है। शोक सभी प्रकारसे मतिमानोंकी मतिको नाश करता है। शोक बड़ा ही प्रबल है। इसके आक्रमणको सहन करनेकी शक्ति प्राय: किसीमें नहीं। दारुण शस्त्रास्त्रोंके आघातको मनुष्य सहन कर सकता है, अग्निकी उष्णताको सह सकता है किन्तु शोकरूपी दावानलको मनुष्य सहन नहीं कर सकता। शोकको कालका सन्देशा समझना चाहिये, जिसको शोकरूपी शत्रुने आ घेरा, समझना चाहिये कि उसकी मृत्यु समीप आ गयी है। इसी कारण हमलोग यह अनुमान करते हैं कि हिरण्यकशिपुके मृत्युके दिन समीप आ गये हैं। क्योंकि उसको शोकरूपी प्रबल शत्रुने आ घेरा है। इतना ही नहीं, आजकल जो दिव्य, आन्तरिक्ष और भौतिक शकुन हो रहे हैं वे भी यही सूचित करते हैं कि दैत्योंके आधिपत्यका विनाश होनेवाला है और धर्मप्राण देवताओंका पुन: आधिपत्य स्थापित होनेवाला है। यही बात पण्डितलोग भी कहते हैं कि अब दैत्यराजके अत्याचारी शासनके दिन समाप्त हो चले हैं। शीघ्र ही देवता अपने अधिकारोंको प्राप्त करेंगे।'

देवगण— 'आचार्यचरण! आपके अमृततुल्य वचनोंसे हमलोगोंको बड़ी शान्ति मिली है और आशा भी हो रही है कि हमारे दु:ख मिटेंगे, किन्तु आपने दैत्यराजके शोककी जो बात कही, वह हमलोगोंके समझमें नहीं आयी। उसको शोक किस बातका हो सकता है? उसके विरोधी बड़े-से-बड़े देवता और दिक्पाल या तो कारागारकी दारुण यातनाएँ भोग रहे हैं या उसीकी दासतामें अपना नारकीय-जीवन बिता रहे हैं। जो उग्र विचारके लोग उसके विरोधी थे, वे या तो फाँसीपर लटका दिये गये हैं या कन्दराओंमें छिपे हुए अपने मृत्युके दिन गिन रहे हैं। सारे संसारमें उसीका एकाधिपत्य है। सब ओर उसके विजयका डंका बज रहा है। उसका न तो कोई ऐसा शत्रु है जिससे उसको भय हो और न आजकल उसका शत्रु बनना ही सरल काम है। ऐसी दशामें उसको किस बातका शोक होगा यह हमारी समझमें नहीं आया। इस समय उसको दूध-पूत दोनों ही प्रकारके सुख प्राप्त हैं। उसको कष्ट है ही किस बातका? कृपया इसका रहस्य हमलोगोंको समझाइये।'

बृहस्पति— 'देवतागण! आपलोग उसके आन्तरिक दु:खको नहीं जानते। उसके शोकको आप नहीं पहचानते यह आश्चर्यकी बात है। जबसे उसके भाई

पामर प्राणियोंकी उद्धारशाला बन जाय। गुरुजी! वैष्णव-शास्त्रोंमें जहाँ सद्गुरुकी इतनी महिमा कही गयी है, वहाँ उनके लक्षण और आचार भी तो कहें हैं। ऋषियोंने लिखा है कि—

स्वयं वा भक्तिसम्पन्नो ज्ञानवैराग्यभूषितः।
स्वकर्मनिरतो नित्यमर्हत्याचार्यतां द्विजः॥
नाचार्यः कुलजातोऽपि ज्ञानभक्त्यादिवर्जितः।
न च हीनवयोजातिः प्रकृष्टानामनापदि॥

(भारद्वाजसंहिता)

अर्थात् 'वे ब्राह्मण, आचार्यपदके योग्य होते हैं जो स्वयं भक्त हों, ज्ञान एवं वैराग्यके गुणोंसे भूषित अपने कर्मके करनेवाले हों; ब्राह्मण एवं गुरुकुलमें उत्पन्न होनेपर भी ज्ञान, भक्ति आदिसे रहित व्यक्ति आचार्यपदके योग्य नहीं होते और उत्कृष्ट जाति एवं उत्कृष्ट वयके शिष्यके लिये हीन वय एवं हीन जातिका व्यक्ति आचार्यपदके योग्य नहीं होता।' इसी कारण हमलोग चाहते हैं कि आप भगवद्भक्त होकर हमलोगोंके सर्वथा आचार्य बन हमलोगोंका उद्धार करें।

प्रह्लादके शास्त्र एवं नीतियुक्त वचनोंको सुन और यह जानकर कि यह समझाने-बुझानेसे माननेवाला नहीं, आचार्य लोगोंने अधिक बात बढ़ाना उचित नहीं समझा और यह कहकर बातको टाल दिया कि 'अब अधिक पण्डिताई न दिखलाओ, जाओ पढ़ो, किन्तु इतना स्मरण रखो कि यदि हमलोगोंके सामने अथवा अपने पिताजीके सामने तुम भविष्यमें हरिकीर्तन अथवा हरिभक्तिकी चर्चा करोगे तो तुम्हारा कुशल नहीं है, फिर तुम्हारी अच्छी तरह खबर ली जायगी।'

इक्कीसवाँ अध्याय

दैत्य-बालकोंको प्रह्लादका उपदेश

नगरमें घर-घर हरि-कीर्तन, कयाधू माताकी चिन्ता और पिताका क्रोध

विद्यालयमें पहुँचकर प्रह्लादने अपना कार्य फिर आरम्भ कर दिया। नगरभरमें, विशेषकर विद्यार्थियों और बालकोंमें प्रह्लादके प्रति बड़ी ही सहानुभूति तथा भक्ति दिखलायी देने लगी। गुरुवरोंके सामने ही, ज्यों ही प्रह्लादजी पिताके यहाँसे छुटकारा पाकर विद्यालयमें पहुँचे, त्यों ही सभी छात्रोंने आनन्द-ध्वनि की और उनका जय-जयकार मनाया। एक दिन गुरुजी अपने नित्यकर्ममें लगे हुए थे, इधर विद्यार्थियोंने आकर प्रह्लादजीको चारों ओरसे घेर लिया। कुछ विद्यार्थियोंने कहा कि 'राजकुमार! अब आप अपने पिताजीसे हठ न करें, उनकी बातें मान लें। पिताजी सदा बने थोड़े ही रहेंगे, उनके बाद आपकी जैसी रुचि हो, वैसे ही कार्य करना। '**आत्मानं सर्वतो रक्षेत्**' की नीतिसे ही आपको काम लेना चाहिये।' किसीने कहा कि 'भैया प्रह्लाद! तुम्हारे ऊपर आक्रमणोंका हाल सुन-सुनकर हमलोग तड़प रहे थे, किन्तु तुम्हारे पिताजीके भयसे हमलोग मुखसे कुछ बोल नहीं सकते थे।' एकने कहा—'प्यारे प्रह्लाद! तुम्हारे ऊपर होते हुए आक्रमणोंका समाचार माताजीको आरम्भमें नहीं विदित हुआ; किन्तु जैसे ही उनको समाचार मिला; वे बेहोश होकर गिर पड़ीं और कई दिनोंतक उनका चित्त सावधान नहीं रहा।' इसके पश्चात् एक बालक जो भगवद्भक्तिमें डूबा हुआ था, बोला—'मित्र! इन सब चर्चाओंको बन्द करो, कुछ भगवत्सम्बन्धी चर्चा होने दो, जिससे हम सबका भविष्य सुधरे और जीवन सफल हो।' अपने प्रेमी सहपाठी बालकोंकी बातें प्रह्लादजी बड़े प्रेमसे सुनते थे और मन-ही-मन यह सोचते थे कि अभी इनपर भगवानकी भक्तिका सच्चा प्रभाव नहीं पड़ा। अभी ये अधकचरे हैं, अतएव इनको ऐसा उपदेश देना चाहिये कि जिसमें इनका और इन्हींके द्वारा संसारका भी कल्याण हो।

प्रह्लाद— 'हे भाइयो! धन, जन, स्त्री-विलास आदि विषयोंसे शोभित यह जो मनको मोहित करनेवाला संसारका विभव है, भला विचारकी दृष्टिसे देखो तो कि ज्ञानियोंके सेवन करनेयोग्य हैं अथवा त्याग करनेयोग्य हैं। मित्रो! प्राणी जब गर्भमें आता है तब विष्ठा, कृमि, मूत्रके बीच एक प्रकारके चर्मबन्धनमें किस प्रकार टेढ़ा-मेढ़ा बँधा रहता है और उसे कितने दु:ख भोगने पड़ते हैं, इसका अनुमान आपलोग कर सकते हैं। उसके बाद बाल्यावस्था खेल-कूदमें और माता-पिता एवं गुरुकी परतन्त्रतामें व्यतीत होती है, उसमें भी कोई आनन्द नहीं। युवा अवस्थामें स्त्रीके मायाजाल गार्हस्थ्य-जीवनके अपार भारसे जो कष्ट होता है, उसका अनुभव भुक्त-भोगी प्राणी ही भलीभाँति कर सकता है। वृद्धावस्था तो मानो नाना प्रकारकी आपत्तियोंका आगार ही है, शरीर अशक्त एवं रोगसे पीड़ित रहता है और घरके लोग कोई भी उसकी बातोंपर ध्यान ही नहीं देते। इधर अपमान और उधर ममता, इन दोनोंके बीच यह अवस्था नारकीय यातनाओंका आदर्श बन जाती है। अतएव जीवनमें कभी किसी भी अवस्थामें सुख नहीं, किसीने कहा है ***'सुखकी तो बौछार नहीं है, दुख का मेह बरसता है।'*** ऐसी दशामें आपलोग सोचें तो, यह संसारका असार वैभव मानवजीवनके सेवन करनेयोग्य है या नहीं? प्रिय मित्रो! हम जैसे-जैसे अधिक विचार करते हैं, वैसे-ही-वैसे यह संसार दु:खोंकी खानि ही प्रतीत होता है। इसीलिये ज्ञानीलोग इसके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये व्याकुल रहते हैं। जो प्राणी इस मायाजालकी भयङ्करता नहीं जानते और इसमें मोहित हो जाते हैं वे ही इसमें फँसते और नीचे गिरते हैं। संसाररूपी अग्निमें पतङ्गके समान प्राणी गिरते और अपने-आप अपने अमूल्य जीवनको जलाकर खाक कर डालते हैं। बड़े अचरजकी बात है कि लोग सुखकी आशामें जान-बूझकर दु:ख भोगते हैं और अपना भविष्य अन्धकारमय बना देते हैं। भाइयो! अन्न न मिले तो चूनी-चोकर खाकर जीवन-यापन करना अनुचित नहीं, किन्तु समस्त सुखोंके आधार भगवान् विष्णुके अभयदायक चरण-कमलोंसे विमुख होना सर्वथा अनुचित है। उन चरणोंकी सेवामें न कोई श्रम है,न कष्ट है और न कोई बाधा है, उनको छोड़ जो संसारके विषयोंमें सुख समझकर उनके पीछे भटकते हुए अपने प्राणतक गँवा देते हैं, वे वैसे ही मूर्ख हैं जैसे किसीके हाथपर सारी पृथ्वीका साम्राज्य रख दिया जाय और वह उसे दूर फेंककर दीन मन हो, अपने उदर भरनेके लिये भिक्षा माँगता फिरे।

अतएव मित्रो! अब व्यर्थ समय बिताना ठीक नहीं। तुम सब लोग स्वयं विष्णुभगवान्‌की भक्ति करो और अपने हित-मित्र एवं सम्बन्धियोंको भी भक्त बनानेका प्रयत्न करो। रात-दिन उन भव-भय-हारी मुरारीका ध्यान करो। वे तुमलोगोंकी सदा रक्षा करेंगे और तुम्हारे परम अर्थकी सिद्धि होगी। अब मैं सबका सारांश कहता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। आस्तिकभावके साथ तुमलोग सारे जगत्‌के प्रति प्रीति रख, किसीके प्रति भी वैर-भाव न रखो। यही सबसे बड़ी भगवद्भक्ति है।'

उपदेश समाप्त करते हुए प्रह्लादजीने कहा कि 'सम्भव है अब तुम-हम सब फिर एक स्थानपर इस प्रकार न मिल सकें, किन्तु तुम्हारा-हमारा चित्त एक रहना चाहिये। मेरा उपदेश तुम भूलना नहीं। मेरी प्रार्थना तुमलोगोंने सुनी और मानी है यह मैं तभी समझूँगा जब कि कलसे ही सारा नगर प्रातः और सायंकाल 'हरि-कीर्तन'की गगन-भेदी मधुर-ध्वनिसे गूँज उठेगा। प्रह्लादजीके उपदेशोंको सुनकर असुर-बालकोंने कहा, अवश्य ही हमलोग आपके उपदेशानुसार ही कार्य करेंगे। अन्तमें बालकोंने नित्यके समान ही अपना हरि-कीतर्नन आरम्भ किया। सब लोग हरि-कीर्तनमें मग्न थे। इसी बीचमें गुरुपुत्र शण्ड और अमर्क आ गये। गुरुपुत्रोंके क्रोधकी सीमा न रही, हरि-कीर्तन सुन उनको बड़ा रोष आया और उन लोगोंने बालकोंको बहुत कड़ी ताड़ना दी तथा प्रह्लादसे कहा कि 'रे मूर्ख राजकुमार! क्या तेरा काल ही आ गया है? जिसको अपने प्राणोंका भय नहीं, उसे हम क्या कहें? तू न जाने इस दैत्यकुलरूपी चन्दनवनमें कहाँसे बबूरके वृक्षके समान उत्पन्न हो गया। तेरी माता हमलोगोंसे बारम्बार तेरी प्राणरक्षाके लिये प्रार्थना करती है, किन्तु तेरी मूर्खताके कारण हमलोग अब तेरे प्राणोंकी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं। तेरी माताको आज हम तेरे इस काण्डका समाचार भेज देते हैं। तदनन्तर हमलोग अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कृत्याद्वारा तेरा वध करेंगे, इसमें सन्देह नहीं।'

गुरुओंने प्रह्लादका सारा वृत्तान्त महारानी कयाधूके पास एक विश्वासपात्र छात्रद्वारा कहला भेजा। वृत्तान्त ले जानेवालेको यह बात समझा दी गयी कि यह सन्देश महारानीको ही एकान्तमें सुनाया जाय, दैत्यराजको इसकी खबर न होने पावे। छात्रने वैसा ही किया। महारानी कयाधू सन्देशको पाकर व्याकुल हो उठीं और तुरन्त ही दैत्यराजकी आज्ञा ले पुत्रसे मिलनेके लिये पाठशालामें जा पहुँचीं। ब्रह्मचारी प्रह्लाद पढ़ रहे थे, किन्तु माताजीको आयी देख सहसा उठ खड़े हुए और सादर उन्हें

प्रणाम किया। माताने प्रिय पुत्रको सस्नेह आशीर्वाद देकर हृदयसे लगा लिया और प्रेमाश्रुओंकी धारासे उसके मस्तकको सींचने लगीं। तदनन्तर गुरुके चरणोंमें प्रणाम कर महारानी उनकी आज्ञासे प्रह्लादको एकान्तमें ले गयीं और बड़ी चिन्ता और व्याकुलताके साथ पुत्रको इस प्रकार समझाने लगीं।

महारानी कयाधू— 'बेटा प्रह्लाद! अब तुम्हारा बालपन बीत गया, तुमको कुछ ही दिनों बाद राज्यभार अपने ऊपर लेना है। अतएव बड़ी सावधानीसे काम करना चाहिये। तुम अपने पिताजीके स्वभावकी उग्रता, हठीलापन और आज्ञा न माननेवालोंके प्रति हृदयकी निर्दयता आदिसे परिचित हो, अतएव तुम्हें उनकी आज्ञाके विरुद्ध नहीं चलना चाहिये। मैं तुमको हरिभक्ति करनेसे नहीं रोकती, किन्तु इतनी भिक्षा माँगती हूँ कि मेरे जीते-जी तुम उन्हें असन्तुष्ट करके मेरा अकल्याण न करो। बेटा! यह बात तुमसे छिपी नहीं है कि मेरा हृदय तुमको देखे बिना अत्यन्त व्याकुल हो उठता है। जब मैं तुम्हारे ऊपर मार पड़नेके समाचार सुनती हूँ तो मेरे हृदयकी गति रुक जाती है और मुझे संसार अन्धकारमय प्रतीत होने लगता है। बेटा! तुमने कहा था कि 'माता! तुम डरो नहीं, जब पिताजी मुझसे कहेंगे तब मैं उनको समझा लूँगा।' अब वही समय आ गया है। परन्तु जब तुम्हारे समझानेपर भी वे नहीं समझे तो अब तुमको ही अपना हठ छोड़ देना चाहिये। बेटा! एक ओर जिसको मैंने अपने प्राणोंसे अधिक माना वह मेरे रक्तसे सींचा हुआ कोमल पौधा तू प्रह्लाद है और दूसरी ओर मेरे ईश्वरस्वरूप प्राणपति दैत्यराज हैं। तुम दोनोंके झगड़ोंमें मेरी कैसी शोचनीय दशा हो रही है। बेटा! इस बातको तुम ही एक बार सोचो। एक पतिव्रता पत्नी और पुत्रवत्सला माताकी पिता-पुत्रके वैरभावमें, नहीं, नहीं, दोनोंके जीवन-मरणवाले वैरभावमें कैसी सङ्कटापन्न दशा हो सकती है, यह तुम जानते हो। इस अवस्थाके उत्पन्न करनेवाले भी बेटा! तुम हीं हो। इसीसे मैं तुमसे प्राण-भिक्षा माँगती हूँ। तुम मुझपर दया करो। प्रिय पुत्र! संसारको तुम दयाकी दृष्टिसे देखते हो, संसारके कष्टोंको मिटानेके लिये तुम सब कुछ करते हो, किन्तु जिस माताने तुमको अपने हृदयमें रखा, अपना दूध पिलाकर पाला और इसी आशासे पाला कि वृद्धावस्थामें तुम मेरी रक्षा करोगे, मरनेपर साम्परायिक कर्मद्वारा उद्धार करोगे? क्या उसके प्रति तुम्हारा यही कर्तव्य है? क्या तुम्हारा यही धर्म है कि तुम उस माताको विपत्तिमें डालो और पितासे विरोध करो। प्रह्लाद! तुम विष्णुभक्ति नहीं छोड़ना

चाहते हो तो न छोड़ो; किन्तु दैत्यराजको चिढ़ानेवाले काम तो मत करो। उनको उपदेश देनेकी अपेक्षा उनकी ही बातें सुनो। यदि तुमको उनकी बातें प्रिय न हों तो न मानो, किन्तु उनके सामने तो उनकी बातोंको अस्वीकार न करो। यह मेरी शिक्षा यदि तुम न मानो तो लो इस तलवारसे मेरा सिर काट धड़से अलग कर दो। मैं तुम्हारे और तुम्हारे पिताके पहले ही तुम दोनोंकी मूर्तियोंको हृदयमें रखकर मरना चाहती हूँ। यदि तुम मेरी बातें नहीं मानोगे तो मैं आत्महत्या करके नरकगामिनी बनूँगी। बेटा! क्या तुम यही चाहते हो?'

स्नेहमयी व्याकुलहृदया जननीकी शोकभरी बातें सुनकर दृढ़निश्चयी प्रह्लाद विनम्र भावसे माताको सान्त्वना देते हुए बोले कि 'माताजी! तुम इतनी बड़ी बुद्धिमती होकर भी साधारण स्त्रियोंके सदृश अजानकी-सी बातें कैसे करती हो? तुम घबड़ाती क्यों हो? न तो मेरे पिताजी मेरे शत्रु हैं, न मैं ही उनका शत्रु हूँ। उनका क्या, मैं तो किसीका भी शत्रु नहीं हूँ। हम दोनोंके बीच कोई भी झगड़ा-फसाद नहीं है। तुम जो देखती हो सो यह तो एक स्वाभाविक घटना है। जब रोगीको रोग-शान्तिके लिये ओषधि दी जाती है तब रोगके परमाणुओंसे ओषधिके परमाणुओंका युद्ध अथवा संघर्ष होता ही है, पर उनमें कोई किसीका शत्रु नहीं होता। इसी प्रकार मेरे और पिताजीके विचारोंका संघर्ष है। इसका परिणाम अच्छा ही होगा। तुम चिन्ता न करो। मा! तुम सुशिक्षिता होकर भी क्यों अजान बन रही हो? मैं, तुम और पिताजी ही नहीं सब-के-सब जीव अजर और अमर हैं। शरीर तो सभीके नाशवान् हैं। अमर मर नहीं सकता और नाशवान् रह नहीं सकता। चाहे वह आज नाश हो और चाहे चार दिनके बाद। फिर ऐसे निश्चित सिद्धान्तको भुलाकर तुम न सोचनेकी बातका सोच क्यों कर रही हो? जाओ, माताजी जाओ, शान्तिके साथ हरिभजन करो। वह तुम्हारा कल्याण करेंगे।'

पुत्रकी बातें सुन महारानी कयाधूको विश्वास हो गया कि प्रह्लाद माननेवाला नहीं। अतएव इसको समझानेकी अपेक्षा दैत्यराजको ही समझा लेना कदाचित् सरल और सम्भव हो। प्रह्लादको हृदयसे लगाकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे कयाधूने विदा माँगी। प्रह्लादने साष्टाङ्ग प्रणामकर माताको विदा किया। महारानी कयाधू प्रह्लादसे विदा हो गुरुजीके समीप गयीं और उनसे प्रह्लादकी सारी बातें कह सुनायीं। साथ ही उन्होंने अपनी इच्छा दैत्यराजसे कहनेकी भी प्रकट की। गुरुजीने उनकी इच्छाकी पुष्टि की

और कहा कि इसके लिये आप शीघ्रता करें, क्योंकि प्रह्लादकी बातें दैत्यराजतक पहुँचनेमें विलम्ब नहीं है। गुरुके चरणोंमें प्रणामकर महारानी कयाधू विदा हुईं। गुरुवरोंने आशीर्वाद दिया।

इधर महारानी कयाधू अन्त:पुरमें पहुँची ही थीं कि उधर दैत्यराजके गुप्त दूतोंने प्रहलादकी सारी कथा दैत्यराजको सुना दी। दैत्यराजको बड़ा क्रोध आया और उसने अपने सूपकारों (रसोइयों)को बुलाकर कहा कि आज प्रह्लादके लिये जो भोजन जाय उसमें ऐसे-ऐसे कठिन विष मिलाकर देना जिसमें उसको खाते ही वह सदाके लिये शान्त हो जाय। किंतु खबरदार! उसको विषका पता न लगने पावे। तुमलोग विषवाले भोजनको देकर उससे कहना कि यह तुम्हारी माताजीने तुम्हारे लिये भेजा है, क्योंकि उसकी माताके प्रति बड़ी भक्ति है और माताके नामसे उसको विषका सन्देह ही न होगा। सूपकारोंने वैसा ही किया। वे महाविष-मिश्रित मोदक लेकर गये और उन्होंने प्रह्लादसे कहा कि 'माताजीने इन मोदकोंको तुम्हारे लिये भेजा है।' प्रह्लादने माताके प्रेमका आदर करते हुए उन विषभरे लड्डुओंको भगवान्‌के अर्पणकर खा लिया, परन्तु इससे अकाल-मृत्यु-हरण भगवान्‌के चरणारविन्दके प्रेमी भक्तका बाल भी बाँका नहीं हुआ। सूपकारोंने विषका परिणाम जाननेके लिये कुछ समयतक वहाँ ठहरकर प्रतीक्षा की। किन्तु जब प्रह्लादपर कोई असर नहीं हुआ तब आश्चर्यचकित हो सारी कथा जाकर दैत्यराजको सुनायी। इधर सूपकारोंने अपनी कथा सुनायी और उधर राजदूतोंने आकर फिर अपना रोना रोया। राजदूतोंने कहा कि 'महाराज! अब अति हो गयी है। नाथ! जिस विष्णुनामके एक बार उच्चारण करनेके अपराधमें हमलोगोंने असंख्य ब्राह्मणोंको मार डाला है, अब नगरभरके बालक उसी विष्णुके नामोंका प्रात:काल और सन्ध्याकाल नित्य ही कीर्तन करते हैं। यदि आप उन बालकोंको दण्ड देंगे तो आपके भाई-बन्धु और सेनाके ऊँचे-ऊँचे कर्मचारी सब बगावत कर बैठेंगे; क्योंकि वे सब उन्हीं लोगोंके लड़के हैं और यदि आप दण्ड नहीं देंगे तो यह रोग आगे चलकर घोर राजद्रोहका रूप धारण कर लेगा।

गुप्त-दूतोंकी बातें सुन दैत्यराजने पुरोहितोंके पास एक दूत भेजकर कहला दिया कि 'प्रह्लादका शत्रुपक्षी विष दिनोंदिन बढ़ रहा है, उसके प्रभाव और शिक्षासे नगरके लड़के हरि-कीर्तन करने लगे हैं। नगरभरके लड़कोंके वधकी अपेक्षा केवल प्रह्लादका वध उचित और सरल है। अतएव अब आपलोग अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार

'कृत्या' उत्पन्न करके उसका तुरन्त वधकर डालें। सावधान! इस आज्ञाके पालनमें विलम्ब न हो। यदि इस आज्ञाकी तुमलोग किसी अंशमें अवहेलना करोगे तो तुमलोगोंको हम इस राजद्रोहप्रचारका कारण समझेंगे और उस दशामें बिना किसी रू-रियायतके कठोर दण्ड दिया जायगा।'

आचार्योंके पास आज्ञा भेजकर दैत्यराज क्रोध और क्षोभके आवेशमें बैठे ही थे कि इतनेमें समाचार मिला कि महारानी कयाधू आ रही हैं। दैत्यराजने समझा कि असमयमें महारानीके आनेका कारण कदाचित् प्रह्लादकी रक्षाकी बात हो। इतनेहीमें सभामें महारानी जा पहुँचीं। महारानीके आते ही सभासदोंने उठकर उनका उचित स्वागत किया। तदनन्तर महारानी दैत्यराजको सादर प्रणामकर अपने नियत स्थानपर जा बैठीं।

दैत्यराज— 'प्रिये! इस समय तुम कैसे आयी? क्या कोई विशेष कारण उपस्थित है?'

महारानी— 'हाँ, कारण तो विशेष है किन्तु नाथ! आपके चरणोंकी कृपासे वह विशेष भी साधारण ही हो जायगा।'

दैत्यराज— 'वल्लभे! क्या तुम कुछ कहना चाहती हो? क्योंकि तुम्हारे आधी बात कहकर चुप हो जानेसे जान पड़ता है तुम अपनी बात इस सभामें नहीं कहना चाहती।'

महारानी— 'हाँ, प्राणपति! कुछ ऐसी ही बातें हैं कि जो केवल आपहीकी सेवामें कहनेयोग्य हैं।'

महारानीके साथ दैत्यराज सभाके एकान्त भवनमें गये और वहाँ जाकर महारानीने दैत्यराजके चरणोंको पकड़कर प्रह्लादके प्राणोंकी रक्षाके लिये भिक्षा माँगी। बारम्बार अस्वीकार करनेपर जब महारानी कयाधूने हठ नहीं छोड़ा, तब दैत्यराजको क्रोध आ गया। दैत्यराज पहलेहीसे क्रोध और क्षोभमें व्याकुल थे, फिर महारानी कयाधूके हठने उसको दूना कर दिया। क्रोधवश दैत्यराजने महारानीकी पीठपर एक लात मारी। बेचारी रोती हुई पुत्र-वात्सल्य और पातिव्रत्यके भावोंसे परिपूर्ण दु:खी हृदयको लेकर अपने अन्त:पुरको चली गयी।

इसी प्रसङ्गमें पुराणान्तरकी कथा है कि जिस समय दैत्यराजने साध्वी सती स्त्री कयाधूको लात मारी, उसी समय कैलासपर महारानी सतीका आसन डोल

उठा। सतीजीने अपनी प्रियतमा सखी विजयाके पूछनेपर आसन डोलनेका कारण बतलाया। जगन्माता सतीने कहा—'हतभाग्य हिरण्यकशिपुने अपनी परम सती साध्वी स्त्री कयाधूको लात मारकर मेरा घोर अपमान किया है। इसी कारण मेरा आसन डोल उठा है।' विजयाने देखा तो जगन्माता सतीके पीठपर पदाघातका चिह्न पड़ा है। महादेवजीके पूछनेपर सतीने पदाघातके चिह्नका कारण बतलाया और कहा—'नाथ! आप क्या यह नहीं जानते कि जगत्‌की सारी सती स्त्रियाँ मेरा ही अंश हैं। '**स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु**' को कौन नहीं जानता? अतएव किसी भी सती स्त्रीका अपमान मेरा अपमान है और उसका सम्मान मेरा सम्मान है।'

बात कुछ भी हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सती स्त्रियोंका वास्तवमें बड़ा ही ऊँचा पद है। इस बातका ध्यान न रखकर जो उनका अपमान करते हैं, उनको दैत्यराज हिरण्यकशिपुसे ही हम तौल सकते हैं और उनका कदाचित् परिणाम भी उससे अच्छा न होता होगा।
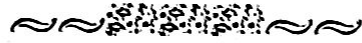
बाईसवाँ अध्याय

विद्यालयमें कृत्याकी उत्पत्ति

प्रह्लादकी दयालुता,

राजसभामें तीसरी बार प्रह्लादका बुलावा

दैत्यराजकी आज्ञा पाते ही आचार्यपुत्रोंने प्रह्लादको अपने पास बुलाकर उनसे कहा—'हे राजकुमार! तीनों लोकमें विख्यात ब्रह्मकुलमें तुमने जन्म लिया है और दैत्यराज हिरण्यकशिपु तुम्हारे पिता हैं। किसी देवता, अनन्त भगवान् अथवा और किसीके आश्रयी बननेकी तुमको क्या आवश्यकता है? तुम्हारे पिताजी स्वयं तीनों लोकके स्वामी हैं और तुम भी एक दिन उत्तराधिकारद्वारा तीनों लोकके स्वामी बनोगे। अतएव विपक्षी लोगोंकी स्तुति छोड़, अपने पिताकी आज्ञाको सुनो। पिता समस्त गुरुओंके गुरु हैं। अतः तुम उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करो।'

प्रह्लाद— 'आचार्यचरण! आपने अधिकांश बातें यथार्थ ही कही हैं। मेरा कुल महर्षि मरीचिका जगत्-विख्यात कुल है, पिताका प्रभुत्व भी यथार्थ ही है और पिता परम गुरु हैं यह भी मिथ्या नहीं है, किन्तु आपने जो अनन्त भगवान्के आश्रयकी अनावश्यकता बतलायी, सो ठीक नहीं है। गुरुजी, आप यदि क्रुद्ध न हों और मेरे अपराधको क्षमा करें, तो मैं यह बतलाऊँ कि केवल मुझको ही नहीं, प्रत्युत सभी प्राणियोंको भगवान् अनन्तके आश्रयकी कितनी बड़ी आवश्यकता और उसके आश्रयसे कितना बड़ा कल्याण होता? जिन अनन्त भगवान्से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनके आश्रयकी आवश्यकता वास्तवमें क्या बतलायी जाय? महर्षि मरीचि, दक्षप्रजापति तथा अन्यान्य ऋषियोंने अपने-अपने तपोबलसे अर्थ, धर्म तथा कामकी प्राप्ति की है, परन्तु उनमेंसे अन्तमें कुछ लोगोंने समाधि-ध्यानद्वारा अनन्तकी आराधना करके ही तत्त्वज्ञान होनेपर मुक्ति

प्राप्त की है। सारांश यह कि त्रिवर्गके देनेवाले भले ही अनेक हों, किन्तु चतुर्वर्गके देनेवाले तो एकमात्र भगवान् अनन्त ही हैं। उनके आश्रयकी आवश्यकताके सम्बन्धमें भी सन्देह हो तो बड़े अचरजकी बात है। मैं तो अल्पबुद्धि बालक हूँ, किन्तु आप विद्वान् हैं। आप जो कुछ कहते हैं, वही यथार्थ होना चाहिये। किन्तु मेरे विवेकमें तो यही आता है कि सबसे बड़ा आश्रय भगवान् अनन्तका ही है।'

शण्ड और अमर्क— 'बेटा प्रह्लाद! ये हमारे अन्तिम वचन हैं। अब हमारा-तुम्हारा गुरु-शिष्यका सम्बन्ध छूटता है और यदि अब भी तुम हमारी आज्ञा मानकर विष्णुकी चर्चा नहीं छोड़ोगे तो हम 'कृत्या'* को उत्पन्न करके तुमको भस्म कर देंगे।'

प्रह्लाद— 'हे गुरुवर! आपलोग बुद्धिमान् होकर मुझको क्यों भ्रममें डालते हैं? भला, बतलाइये तो, कौन किसको मार सकता है और कौन किसकी रक्षा कर सकता है? मारने और रक्षा करनेवाला तो आत्मा ही है जो अपने-आप, 'असाधु' और 'साधु' कर्मद्वारा अपनेको मारता और अपनी रक्षा करता है।'

प्रह्लादजीका उत्तर सुन पुरोहितोंका क्रोध सीमोल्लङ्घन कर गया और उन्होंने तुरन्त ही मन्त्रबलसे एक महान् विकराल ज्वालामयी 'कृत्या'को उत्पन्न किया। कृत्याने क्रुद्ध होकर प्रह्लादजीकी छातीमें एक शूल मारा, परन्तु जिनके हृदयमें भक्त-भय-हारी सर्व शक्तियोंके आधार भगवान् विष्णु विराजते हैं, उनका 'कृत्या'के शूलसे क्या बिगड़ सकता था? शूल प्रह्लादके वज्र-हृदयमें लगते ही टूक-टूक हो गया और सैकड़ों टुकड़ोंमें परिणत होकर भूमिपर गिर पड़ा। प्रह्लादके ऊपर जब कृत्याका आघात सफल नहीं हुआ, तब उसने अपने उत्पन्न करनेवाले पुरोहितोंपर आक्रमण किया और उनका वध कर स्वयं भी नष्ट हो गयी। अपने हेतुसे पुरोहितोंका मरना प्रह्लादके लिये असह्य हो गया, दयार्द्रहृदय प्रह्लादने कातर कण्ठसे अपने मारनेवालोंके लिये परमात्मासे दया-भिक्षाकी याचना करते हुए कहा—

सर्वव्यापिन् जगन्नाथ! जगत्स्रष्टर्जनार्दन।

---

* मारणके प्रयोगमें एक मन्त्रद्वारा उत्पन्न की गयी राक्षसी होती है, जो मृत्युके समान ही भयानक होती है।

त्राहि विप्रानिमानस्माद्दुःसहान्मन्त्रपावकात्॥
यथा सर्वेषु भूतेषु जगद्व्यापी जगद्गुरुः।
विष्णुरेव तथा सर्वे जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥

(विष्णु० १। १८। ३९-४०)

अर्थात् 'हे सर्वव्यापी! जगन्नाथ! हे जगत्स्रष्टा जनार्दन! आप इन विप्रोंकी इस दुःसह मन्त्ररूपी अग्निसे रक्षा करें। जिस प्रकार समस्त भूतोंमें आप जगद्व्यापी जगद्गुरु—विष्णु अवस्थित हैं, उसी प्रकार आप इन ब्राह्मणोंमें भी हैं, अतएव ये पुरोहित जीवित हो जायँ।' इतनी स्तुति करनेपर भी जब पुरोहित लोग नहीं उठे तब प्रह्लादने फिर कहा—

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानो न पापकम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
यथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥

(विष्णु० १। १८। ४१-४३)

अर्थात् 'यदि मैं आप विष्णुभगवान्‌को सर्वगत अनुभव करके शत्रुपक्षमें भी अनिष्ट होना नहीं सोचता तो ये पुरोहित जीवित हो जायँ। जो मुझे मारने आये, जिन्होंने विष दिया, आगमें जलाया, जिन दिग्गजोंने मुझे रौंदा और जिन सर्पोंने मुझे डँस लिया, उन सबको यदि मैं मित्र समझता होऊँ और उनका मैं किञ्चित् भी अनिष्ट न चाहता होऊँ तो इसी सत्यके प्रभावसे हे भगवन्! ये पुरोहित जीवित हो जायँ।' धन्य क्षमाके सागर भक्तवर प्रह्लाद! और धन्य तुम्हारी भक्तिका अनुपम आदर्श!

सत्यवादी, अहिंसामय, सर्वभूतोंमें विष्णुदर्शी प्रह्लादकी स्तुति समाप्त होते ही भगवत्कृपासे पुरोहित उठ बैठे और परम प्रसन्न होकर कृतज्ञ-हृदयसे प्रह्लादजीको आशीर्वाद देने लगे—

दीर्घायुरप्रतिहतो बलवीर्यसमन्वितः।
पुत्रपौत्रधनैश्वर्यैर्युक्तो वत्स भवोत्तम॥

(विष्णु० १। १८। ४५)

अर्थात् 'बेटा प्रह्लाद! तुमने हमारे प्राण बचाये हैं इसलिये तुम दीर्घायु होओ। तुम्हारा बलवीर्य अप्रतिहत—किसीके जीतनेयोग्य न हो। हे उत्तम विचारके बालक! तुम पुत्र, पौत्र एवं धन-ऐश्वर्यसे युक्त होकर सदा सुखी रहो।'

पुरोहितोंने आशीर्वाद दे दैत्यराजके पास जाकर उनको सारा वृत्तान्त सुनाया। दैत्यराजने पुरोहितोंके वचनोंको सुनकर प्रह्लादको राजसभामें बुलवाया। प्रह्लादने जाकर अपने पिताजीको तथा पूज्य जनोंको सादर प्रणाम किया। पिताकी आज्ञासे प्रह्लादके आसनपर बैठ जानेके अनन्तर दैत्यराजने उनसे कहा कि—

प्रह्लाद सुप्रभावोऽसि किमेतत्ते विचेष्टितम्।
एतन्मन्त्रादिजनितमुताहो सहजं तव॥

(विष्णु० १। १९। २)

अर्थात् 'हे प्रह्लाद! तुम बड़े प्रभावशाली हो, भला यह तो बतलाओ कि तुम्हारे यह जो अद्‌भुत चरित्र दिखलायी देते हैं, ये सब मन्त्र-तन्त्रादिजनित कार्य हैं अथवा यह तुम्हारा स्वाभाविक प्रभाव है?'

प्रह्लादजीने दैत्यराजके प्रश्नोंके उत्तरमें कहा कि—

न मन्त्रादिकृतं तात न च नैसर्गिकं मम।
प्रभाव एष सामान्यो यस्य यस्याच्युतो हृदि॥
अन्येषां यो न पापानि चिन्तयत्यात्मनो यथा।
तस्य पापागमस्तात हेत्वभावान्न विद्यते॥
कर्मणा मनसा वाचा परपीडां करोति यः।
तद्बीजं जन्म फलति प्रभूतं तस्य चाशुभम्॥
सोऽहं न पापमिच्छामि न करोमि वदामि च।
चिन्तयन् सर्वभूतस्थमात्मन्यपि च केशवम्॥
शारीरं मानसं दुःखं दैवं भूतभवं तथा।
सर्वस्य शुभचित्तस्य तस्य मे जायते कुतः॥
एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम्॥

(विष्णु० १। १९। ४—९)

अर्थात् 'हे पिताजी! जिन कार्योंको आप अचरजकी दृष्टिसे देखते हैं ये न तो किसी मन्त्र-यन्त्र आदिके द्वारा किये गये हैं और न इनमें मेरे व्यक्तित्वका ही नैसर्गिक प्रभाव है; प्रत्युत यह प्रभाव उन सभी प्राणियोंमें रहता है, जिनके हृदयमें भगवान् अच्युत विराजमान होते हैं। जो प्राणी दूसरोंका अनिष्ट करना नहीं चाहते और दूसरोंके कष्टको अपने ही कष्टके समान जानते हैं, उनके ऊपर किये गये आक्रमण उनको कष्टदायी नहीं होते, क्योंकि उनके अन्दर कष्टके हेतुका अभाव रहता है। जो मनुष्य मन, वचन और कर्मसे दूसरोंको पीड़ा देनेवाले कर्म करते हैं, उनके कर्मरूपी बीजके वृक्षका फल अत्यन्त अशुभ होता है। मैं न तो किसीको कष्ट देनेकी इच्छा करता हूँ, न कष्ट देनेवाला काम करता हूँ और न ऐसी बात ही कहता हूँ जिससे किसीको कष्ट पहुँचे। क्योंकि मैं जैसे अपने अन्दर भगवान्का अस्तित्व मानता हूँ वैसे ही समस्त प्राणियोंमें उनका अस्तित्व समझता हूँ। इसलिये मुझ-जैसे सबके शुभचिन्तकको शारीरिक, मानसिक, दैविक और भौतिक दु:ख कैसे हो सकते हैं? अतएव भगवान् हरिको सर्वभूतमय जानकर अपना हित चाहनेवाले सभी लोगोंको खास करके सज्ञान मनुष्योंको तो 'सर्वभूतहितैषितारूप' भगवान्की अव्यभिचारिणी भक्ति अवश्य करनी चाहिये।'

प्रह्लादजीके युक्तियुक्त उपदेशमय धार्मिक वचन दैत्यराजके हृदयमें तीक्ष्ण वाणोंके समान लगे। कुछ समयतक क्रोध और चिन्तामें चुप रहनेके पश्चात् वह अपने मन्त्रीकी ओर देखकर कहने लगा—'अब यह रोग असाध्य हो गया है। इसकी ओषधि करना ठीक नहीं। हमने जितना ही पुत्र-वात्सल्य प्रदर्शित किया, उतना ही उसका बुरा परिणाम हुआ। अब इस बालकका—नहीं-नहीं, इस दैत्य-कुलाङ्गारका अन्त कर देनेहीमें हमारा भला है। हे असुरवीरो! इसी समय इसको इस सतमञ्जिले महलके ऊपरसे इस प्रकार नीचे पटको कि जिसमें इसकी एक-एक हड्डी चूर हो जाय।' दैत्यराजकी आज्ञा मिलते ही असुरोंने बड़े हर्ष एवं क्रोधके साथ प्रह्लादको उठाकर प्रासादके ऊपरसे इतने जोरसे फेंका कि जिसमें नीचे गिरनेपर उनका नाम-निशानतक शेष न रह जाय, किन्तु जिन प्रह्लादके हृदयमें जगत्को धारण करनेवाले भगवान् केशव विद्यमान हैं, जो सर्वत्र अपने प्रियतम भगवान्को देखते हैं उनके लिये तो सारा संसार समान है, वहाँ ऊँचे-

इसको अपने साथ ले जाइये और जबतक आचार्यजी तीर्थयात्रासे लौटकर नहीं आवें तबतक वहीं बड़ी सावधानीके साथ रखिये। समय-समयपर इसे राजनीतिकी शिक्षा देते रहिये, परन्तु इसपर किसी मन्त्र-यन्त्रका प्रयोग करनेकी चेष्टा भूलकर भी न कीजिये। अवश्य ही इसको असुर-सैनिकोंके पहरेमें रखिये, जिससे यह किसी बाहरी आदमीसे मिलने न पावे। सम्भव है दिन पाकर इसकी मति बदले। नहीं तो आचार्यजी आनेपर इसको ठीक कर लेंगे। यदि उनके सुधारनेपर भी यह न सुधरेगा तो वे इसको तुरन्त मार डालेंगे। उनके सामने इसकी एक भी माया न चलेगी।' हिरण्यकशिपुके इतना कहनेपर प्रह्लाद अपने गुरुवरोंके साथ पुनः विद्यालयको चले गये।

तेईसवाँ अध्याय

भक्तवत्सल भगवान्‌का दर्शन

प्रह्लादको वरदान

चतुर्थ बार राजसभामें प्रह्लादकी परीक्षा, प्रह्लादके प्रति पिताका प्रेम

प्रह्लादजी इस बार गुरुकुलमें राजनीतिकी शिक्षा पाने लगे और उनके सहपाठी दैत्यबालक भगवद्भक्तिके रहस्योंकी शिक्षामें लीन होने लगे। गुरुओंको राजकुमारकी बुद्धि-प्रखरता देख बड़ी प्रसन्नता हुई। उन लोगोंने समझा कि अब ये राजनीतिके चक्करमें पड़कर भक्ति-भावनाको भूल गये हैं। जब-जब गुरुवरोंने प्रह्लादकी परीक्षा ली तब-तब उन्हें राजनीतिमें पूरा पण्डित पाया। अतएव शण्ड और अमर्क अब फूले नहीं समाते थे। उन लोगोंने समझा कि इस बार राजकुमारके पिताजीसे हमको पूरा-पूरा पारितोषिक मिलेगा। इसी आनन्दमें एक दिन दोनों राजपुरोहित प्रह्लादको साथ लेकर राजदरबारमें जा पहुँचे। उस समयकी राजसभाका वर्णन पुराणोंमें बड़ा ही मनोहर और विस्तृत किया गया है। सभाकी शोभा, उसके अङ्गोंपाङ्ग-स्वरूप उपवनों, सरोवरों, निर्झरनों और उनमें विहार करनेवाले तरह-तरहके पक्षियों एवं पालतू वनचरोंकी शोभा, सभाभवनकी सजावट, उसके उपकरणोंकी सुषमा तथा सभासदों एवं सभामें बैठे हुए असुर-वीरोंका ऐसा सुन्दर वर्णन किया गया है कि जिसको यहाँपर सविस्तर पूर्णरीत्या उद्धृत करनेका अवकाश नहीं है; किन्तु इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि जिस दैत्यराजके अधीन तीनों लोक और चौदहों भुवन हों, जिसके सामने आठों सिद्धि और नवों निधि हाथ जोड़े खड़ी रहती हों तथा जिसके कारागारमें देवराज इन्द्र एवं धनपति कुबेर आदि

दिक्पाल बन्दी बन रहे हों, उसके ऐश्वर्य तथा उसकी सभाकी शोभाका वर्णन करना ही व्यर्थ है। पुराणोंमें जो वर्णन किया गया है* वह भी अधूरा ही होगा। पूरा-पूरा वर्णन करना तो असम्भव ही है।

राजसभा ठसाठस भरी हुई थी। उसी समय राजकुमारसहित दोनों राजपुरोहित वहाँ जा पहुँचे। राजकुमारके सहित पुरोहितोंको देख सारी सभा आनन्दित हो उठी और उनके स्वागतमें सब सभासद् सहसा उठ खड़े हुए। राजकुमारने दैत्यराजके चरणोंमें विनीत भावसे साष्टाङ्ग प्रणाम किया तथा अन्यान्य सभासदोंके प्रति भी यथोचित सम्मान प्रदर्शित किया। हिरण्यकशिपुने राज-पुरोहितोंको सादर प्रणाम कर, उच्च स्थानपर बिठा, पुत्र प्रह्लादको अपने समीप बिठाया। प्रह्लादकी शान्तिमयी मूर्तिको देख तथा पुरोहितोंकी भी प्रसन्नता देखकर दैत्यराज मन-ही-मन बड़े ही प्रसन्न हुए। उसने समझा कि राजकुमार अब ठीक मार्गपर आ गया है और इसकी भक्ति-भावनाकी सनक मिट गयी-सी प्रतीत होती है। इसी प्रसन्नतामें दैत्यराजने कहा—'हे बेटा प्रह्लाद! हे देवताओंके नाशक राजकुमार! तुम अज्ञानकी खानि बाल्यावस्थासे छूटकर अब कुमार-अवस्थाको प्राप्त हुए हो, यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। बेटा! देखो, इस समय तुम वैसे ही शोभायमान हो रहे हो जैसे घनान्धकारसे निकलनेवाले भगवान् भास्कर प्रकाशित होते हैं। बालपनेकी अज्ञानतासे मुक्त हो तुम आज राजनीति-विशारद राजकुमारके रूपमें दिखलायी दे रहे हो। इससे हमारा मन आनन्दमग्न हो रहा है। बेटा! अब राज्यभारको सँभालनेकी योग्यतावाले तुमको निष्कण्टक राज्यभार सौंपकर हम तुम्हारी राज्यलक्ष्मीको देख-देखकर प्रसन्न होंगे। जो पिता अपने पुत्रकी प्रशंसा सुनता है उसके मनकी सारी व्यथा दूर हो जाती और वह परम आनन्दको प्राप्त होता है। प्रह्लाद! तुम्हारी नीति-निपुणताकी तुम्हारे गुरुवर बड़ी प्रशंसा करते हैं। अतएव हमारे कान तुम्हारे मुखसे नीति-चर्चा सुनना चाहते हैं। यह स्वभाविक बात है कि लोग नेत्रोंसे शत्रुकी दरिद्रता और पराजय देखना चाहते हैं और कानोंसे पुत्रके सुन्दर वचन सुनना चाहते हैं।'

दैत्यराजके वचनोंको सुनकर निःशङ्क हो प्रह्लादने कहा कि 'महाराज! आपने सत्य ही कहा है कि पुत्रके सुन्दर वचन सभीके कान सुनना चाहते हैं, किन्तु जिन

---

*सबसे अधिक सभाकी शोभाका वर्णन 'हरिवंश'में पाया जाता है।

नीचेका भाव कहाँ है? वे गिरें तो कैसे और कहाँ गिरें तथा उनके शरीरपर आघात लगे तो किसका? जैसे ही प्रह्लादके रूपमें जगद्धाता भगवान् केशवको जगद्धात्री माता पृथ्वीने ऊपरसे आते देखा वैसे ही उसने उछलकर उनको अपनी गोदमें ले लिया। प्रह्लाद पूर्ववत् स्वस्थ होकर प्रासादके नीचे प्रसन्नवदन खड़े हो गये और तन्मय होकर भगवान्का ध्यान करने लगे। यह अद्भुत लीला देखकर दैत्यराजके हृदयमें बड़ा विस्मय उत्पन्न हुआ। उसने समझा कि अवश्य ही इसमें कोई जादू है, अतएव उसने अपने जादूगर—मायावी शम्बर नामक असुरसे कहा कि—'इस बालकमें मायाजाल मालूम पड़ता है। मैंने इसको मारनेकी अनेक चेष्टाएँ कीं, किन्तु यह अबतक अपनी मायासे बचता जा रहा है। आप मायाके आचार्य हैं। अतएव अब इसकी मायाको भलीभाँति समझकर अपने मायाबलसे शीघ्र ही इसका वध कर डालिये।'

दैत्यराजकी आज्ञा पाते ही शम्बरने अपनी मायासे प्रह्लादको मारनेकी न जाने कितनी असफल चेष्टाएँ कीं। कभी वह उनको आकाशमें उड़ा ले जाता तो कभी तलातलमें जा घुसता था, कभी शीत उत्पन्न करके प्रह्लादको यों ही ठण्ढा कर देना चाहता तो कभी बारहों सूर्यके तेजपुञ्जके समान भयानक अग्नि-ज्वाला उत्पन्न करके उसमें उन्हें भस्म करनेकी चेष्टा करता था। कभी एकदम वायुको बन्दकर प्रह्लादकी दम घोंट देना चाहता था, तो कभी ऐसी तेज हवा उत्पन्न करता था कि जो प्रह्लादके शरीरको न केवल सुखा दे, प्रत्युत उसके एक-एक परमाणुको ले जाकर न जाने कहाँ फेंक दे। इस प्रकार शम्बरने मायाबलसे बहुत-से उपाय किये, किन्तु जिन प्रह्लादके हृदयमें महामायेश्वर भगवान् विष्णु स्वयं विराजमान हैं, शम्बर-सरीखे दैत्योंकी लाखों माया उनका क्या कर सकती हैं? शम्बरकी मायाका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। उसके उत्पन्न किये वायुको भगवान् विष्णुने ऐसे पान कर डाला कि उसका कहीं पता भी न रह गया। ऐसी विलक्षण माया भी जब न चल सकी तब दैत्यराजकी चिन्ता और अधिक बढ़ गयी। दैत्यराजने विचार किया कि अब इससे अधिक छेड़-छाड़ करना ठीक नहीं। इसके सुधारने अथवा मारनेका उपाय आचार्य शुक्रजी ही कर सकेंगे। अब यह दूसरेके बूतेकी बात नहीं रही। इसी विचारसे दैत्यराजने अपने पुरोहितोंसे कहा कि—'अब आपलोग

वचनोंमें कुछ वास्तविक सार हो वे ही वचन सुन्दर कहने और सुननेयोग्य होते हैं। जिन वचनोंमें सांसारिक दु:खसमूहरूपी बन्धनको जलाकर भस्म कर देनेवाले भगवान् विष्णुके गुण गाये जाते हैं उन्हींमें सार है। अन्य तो सभी नि:सार हैं। जिन वचनोंमें भगवान्‌के गुणानुवाद हैं वे ही वचन कथा हैं, वे ही श्रवण करनेयोग्य हैं और वे ही वचन श्रवणीय काव्य हैं। हे पिताजी! जिस शास्त्रमें भक्तोंके वाञ्छित फल देनेवाले भगवान् विष्णुकी स्तुति की जाती है वही शास्त्र है, अन्यान्य सांसारिक प्रपञ्चोंसे रचे गये अर्थशास्त्र, शास्त्र कहलानेयोग्य नहीं हैं। जिस नीति-शास्त्रमें साम, दाम, भेद और दण्ड-नीतिकी शिक्षा दी जाती है, जिसमें एक भाई दूसरे भाईका शत्रु माना जाता है और जिसमें अपने भाइयोंपर तरह-तरहके पापमय अत्याचार करनेकी शिक्षा दी जाती है, उसमें बहुत बड़ा भय है। उस शास्त्रसे आत्मा ही मारा जाता है। क्योंकि विष्णुभगवान्‌के विश्वरूपमें सभी आत्मा उसके रूप हैं। यदि किसी आत्माको आप मारेंगे, सतावेंगे, जीतेंगे और कष्ट देंगे तो अपने विष्णुभगवान्‌के विश्वरूपको ही मारेंगे, सतावेंगे, जीतेंगे और कष्ट देंगे। अतएव जिस नीतिशास्त्रको गुरुवरोंने मुझे पढ़ाया है वह विवेकशून्य पापमूलक है। इसी कारणसे मैं उसको आपके सामने कहनेकी इच्छा नहीं करता। अतएव मैं एकामात्र वैष्णव-धर्मकी इस उदार नीतिको, कि सभी प्राणियोंमें परमात्माको मानो और समताके भावसे सबके आत्माको अपने आत्माके समान समझो एवं '**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**'को मानकर अनन्यभावसे उस सर्वव्यापी सर्वभूतमय परम पिता परमात्मा विष्णुकी आराधना करो—कहता हूँ।

देवा मनुष्याः पशवः पक्षिवृक्षसरीसृपाः।
रूपमेतदनन्तस्य विष्णोर्भिन्नमिव स्थितम्॥
एतद्विजानता सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
द्रष्टव्यमात्मवद्विष्णुर्यतोऽयं विश्वरूपधृक्॥
एवं ज्ञाते स भगवाननादिः परमेश्वरः।
प्रसीदत्यच्युतस्तस्मिन् प्रसन्ने क्लेशसङ्क्षयः॥

(विष्णु० १।१९।४७—४९)

अर्थात् 'देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और सरीसृप—ये सभी विष्णुके रूपसे

तो रहे थे साथ ही भक्तवत्सल भगवान्‌के गुणानुवाद भी गा रहे थे। क्योंकि उन लोगोंको प्रह्लादजीके मृत्यु-संवादपर विश्वास नहीं था। कहीं-कहीं असुरोंमें प्रह्लादके मारे जानेकी बातपर खुशी मनायी जा रही थी तथा लोग दैत्यराजके साहस और उन असुरोंके कौशलकी प्रशंसा कर रहे थे, जिन्होंने प्रह्लादजीको समुद्रमें डुबोया था। इधर तो इस प्रकार सारे-के-सारे हिरण्यपुरवासी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार आनन्द तथा शोकमें जागरण कर रहे थे और उधर भक्तवर प्रह्लादजीकी बड़ी ही विलक्षण स्थिति थी। ज्यों ही प्रह्लादजी नागपाशमें बाँधे जाने लगे, त्यों ही वे ध्यानावस्थित हो भगवान्‌के दर्शन करने लगे थे। जिस समय वे अगाध समुद्रमें डुबोये गये उस समय भी वे ध्यानमग्न थे। उन्हें भगद्दर्शनानन्दके गम्भीर सागरमें निमग्न रहनेके कारण किसी भी बातका पता नहीं था। प्रह्लाद ध्यानमग्न स्तुति कर रहे थे—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥
ब्रह्मत्वे सृजते विश्वं स्थितौ पालयते पुनः।
रुद्ररूपाय कल्पान्ते नमस्तुभ्यं त्रिमूर्तये॥

(विष्णु० १। १९। ६५-६६)

मय्यन्यत्र तथान्येषु भूतेषु भुवनेषु च।
तवैव व्याप्तिरैश्वर्यगुणसंसूचिकी प्रभो॥

(विष्णु० १। १९। ७२)

सर्वभूतेषु सर्वात्मन् या शक्तिरपरा तव।
गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै सुरेश्वर॥
यातीतगोचरा वाचां मनसां चाविशेषणा।
ज्ञानिज्ञानपरिच्छेद्या तां वन्दे स्वेश्वरीं पराम्॥

(विष्णु० १। १९। ७६-७७)

नमोऽस्तु विष्णवे तस्मै यस्याभिन्नमिदं जगत्।
ध्येयः स जगतामाद्यः स प्रसीदतु मेऽव्ययः॥
यत्रोतमेतत्प्रोतं च विश्वमक्षरमव्ययम्।
आधारभूतः सर्वस्य स प्रसीदतु मे हरिः॥

ॐ नमो विष्णवे तस्मै नमस्तस्मै पुनः पुनः।
यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वसंश्रयः॥
सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः।
मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने॥
अहमेवाक्षयो नित्यः परमात्मात्मसंश्रः।
ब्रह्मसंज्ञोऽहमेवाग्रे तथान्ते च परः पुमान्॥

(विष्णु० १।१९।८२-८६)

अर्थात् 'जिन भगवान् कृष्णके ब्राह्मण ही देवता हैं, जो गोविन्द गौओंके, ब्राह्मणोंके और समस्त जगत्‌के हित हैं उनको मेरा नमस्कार है। जो सृष्टिके आदिमें ब्रह्माके रूपसे सबको उत्पन्न करते हैं, जो स्थितिकालमें विष्णुरूपसे पालन करते हैं, और जो कल्पान्त-समयमें रुद्ररूपसे संहार करते हैं, उन त्रिमूर्तिधारी तुमको मेरा नमस्कार है। मुझमें तथा अन्य सभी भूतप्राणियोंमें और सारे भुवनमें तुम्हारे ऐश्वर्य और गुणको सूचित करनेवाली तुम्हारी ही व्याप्ति दिखलायी देता है। हे सर्वात्मन्! तुम्हारी गुणाश्रया जो अपराशक्ति समस्त प्राणियोंमें शाश्वतरूपसे विद्यमान है, हे सुरेश्वर! उसको मेरा नमस्कार है। जो गोचरातीत है अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा देखी-सुनी नहीं जा सकती, वचन एवं मनसे जो कही और जानी नहीं जा सकती तथा जो ज्ञानियोंके ज्ञानद्वारा परिच्छेद्य है, उस परमेश्वरीको मेरा नमस्कार है। यह जगत् जिससे अभिन्न है, उस विष्णुको मेरा नमस्कार है; वह जगत्‌के आदिकारण अविनाशी ध्यान करनेयोग्य भगवान् मुझपर प्रसन्न हों। जो अक्षय और अव्यय हैं, यह सारा विश्व जिनमें ओतप्रोत है, जो सबके आधार हैं, वह हरि मुझपर प्रसन्न हों। जिनके विराट्‌रूपके भीतर सब संसार है, जिनसे सब उत्पन्न हुए हैं, जो स्वयं सब हैं, जो सबके आश्रय हैं, जिनमें सब लीन होते हैं, उन विष्णुभगवान्‌को मेरा नमस्कार है। बारम्बार नमस्कार है। उन अनन्तकी सर्वव्यापकताके कारण वह मैं ही हूँ; सब मुझसे ही उत्पन्न हैं, मैं ही सर्वरूपसे वर्तमान हूँ एवं सनातनरूप मुझमें ही सब लीन होंगे। वह अक्षय मैं ही हूँ, मैं ही नित्य हूँ, आत्मसंश्रय ब्रह्म नामक परमात्मा मैं ही हूँ और सृष्टिके आदि-अन्तमें परमपुरुष भी मैं ही हूँ।'

इस प्रकार अभेदबुद्धिसे स्तुति करते-करते प्रह्लादजी तन्मय हो गये और

अपनेको ही अच्युत समझने लगे। इसके सिवा अन्य सब कुछ भूल गये। ऐसी भावनाके उत्पन्न होते ही उनके सारे कर्मजनित पाप नष्ट हो गये और उनके शुद्ध अन्तःकरणमें भगवान् विष्णुका आविर्भाव हो गया। प्रह्लादके योगप्रभावसे जैसे ही भगवान् विष्णुका साक्षात्कार होनेहीको था, वैसे ही अगाध समुद्रमें एक ऐसी वेगकी लहर आयी कि प्रह्लादजीके ऊपर फेंके हुए पहाड़ और जङ्गल न जाने कहाँ जा गिरे और प्रह्लादजी समुद्र-तटपर जा विराजे। प्रह्लादजीके नागपाशोंको भगवान्‌के वाहन गरुड़जीने छिन्न-भिन्न कर दिया। भक्तकी महिमा देख समुद्रने उनको भाँति-भाँतिके रत्नोंकी भेंट दी एवं भगवद्भक्त और भगवान्‌में अभेदबुद्धि रख, उनकी स्तुति की। समुद्रके अन्तर्धान हो जानेपर उसके उपदेशानुसार भगवान्‌के दर्शनके लिये प्रह्लादजी स्तुति करने लगे। स्तुति करते-करते ही वे अधीर होकर भूमिपर गिर पड़े। उन्होंने सोचा कि बड़े-बड़े वेदान्ती अपने तपोबलसे भी जिनके दर्शन नहीं पाते और सदा लालायित रहते हैं, उन भगवान् विष्णुके दर्शन मुझ-जैसे दैत्यकुलके दोषागार बालकको कैसे मिल सकते हैं? जिनकी छाया ब्रह्मादि देवता बड़ी-बड़ी स्तुतियोंद्वारा कठिनतासे पकड़ पाते हैं और कभी-कभी दर्शन पाते हैं, उनकी दिव्य माधुरी मूर्तिके दर्शनकी आशा करना मेरे लिये धृष्टताकी बात है। हा! मैं तो उनके दर्शनके सर्वथा अयोग्य हूँ।

जैसे ही प्रह्लादजी मूर्च्छित होकर भूमिपर गिरे, वैसे ही सर्वव्यापी भगवान् विष्णुने प्रकट होकर अपने परमभक्त प्रह्लादको चारों भुजाओंसे उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया। भगवान्‌के स्पर्शसे प्रह्लादकी मूर्च्छा जाती रही। जैसे ही प्रह्लादकी आँखें खुलीं, उन्होंने देखा कि शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान् विष्णु, जिनका वे सदा ध्यान करते थे, उन्हें अपनी गोदमें लिये बैठे हैं। वैसे ही वह थर-थर काँपने लगे। उन्होंने सोचा कि मैं यह स्वप्न देख रहा हूँ और इसी भावनामें वे आनन्द-मग्न हो फिर अचेत हो गये। मूर्च्छित प्रह्लाद प्रभुकी गोदीमें पड़े हैं और भगवान् अपने कर-कमलसे उनके मुखपर मानो पंखा झल रहे हैं। बारम्बार प्रेमवश उनके मुखको चूमते हुए अपनी भक्तवत्सलताकी महिमा दिखला रहे हैं। कुछ ही समयमें प्रह्लादने अपनी आँखें खोलीं। प्रह्लादजीने देखा कि शेष-शय्या एवं महालक्ष्मीकी गोदमें शयन करनेवाले भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे मुझे गोदमें लिये हुए भूमिपर बैठे और

अपने कर-पल्लवसे मेरे मुखपर हवा कर रहे हैं। प्रह्लाद गोदसे सहसा उठकर अलग खड़े हो गये और प्रणाम करनेके लिये पुनः भूमिपर गिर पड़े। आनन्दविह्वलताके कारण उनके मुखसे कोई शब्द नहीं निकलते हैं। वे अवाक् पड़े हैं। प्रह्लादजीकी यह दशा देख भक्तवत्सल भगवान्‌ने अपने हाथोंसे उनको उठाया। प्रह्लादजी भगवान्‌के कर-स्पर्शके आह्लादसे आनन्दाश्रु बहाते और काँपते हुए चित्रलिखे-से रह गये। विष्णुभगवान्‌ने हँसते हुए कहा—'हे वत्स! सब प्रकारके भय और भ्रमको छोड़ो, हमारे भक्तोंमें तुम्हारे समान प्रिय हमको दूसरा कोई नहीं है, अब तुम हमको अपने ही अधीन समझकर जो कुछ 'वर' तुम्हें माँगना हो, माँग लो।'

प्रह्लाद—'भगवन्! यह वरदानका समय नहीं है, आप सदा प्रसन्न रहें। मुझे आपके चरणोंके दर्शनामृतके सिवा दूसरा कोई वर अभीष्ट नहीं है। ब्रह्मादि देवताओंको बड़ी कठिनाईसे मिलनेवाला दर्शन आप अपनी अहैतुकी कृपासे मुझे दे रहे हैं, इससे जैसी मेरी तृप्ति हुई है वैसी तृप्ति लाखों कल्पकल्पान्तरोंमें किसी भी वरसे नहीं हो सकती।'

भगवान् विष्णु— 'वत्स! ठीक है, तुमको हमारे दर्शनोंसे अधिक प्रिय और कुछ नहीं है, किन्तु हमारी इच्छा है कि हम तुमको कुछ दें। अतएव हमारे अनुरोधसे ही तुम इस समय कुछ माँगो।'

प्रह्लाद— 'नाथ! यदि आप देना ही चाहते हैं, तो मुझे यह वर दें कि मैं जन्म-जन्मान्तरमें कहीं भी क्यों न उत्पन्न होऊँ, सदा ही आपके चरणोंका अनन्य दास बना रहूँ।'

भगवान् विष्णु— 'प्रह्लाद! तुमने जो कुछ माँगा उसे तो हमने दिया, किन्तु अभी हमारा हृदय संतुष्ट नहीं है; तुम और कुछ माँगो।'

प्रह्लादने भगवान् विष्णुके बारम्बार आज्ञा देनेपर अपने पूर्व वरको दुहराते हुए कहा कि—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

अर्थात् 'हे भगवन्! मैं जिस-जिस योनिमें सहस्रों जन्मतक जाऊँ, उस-उस योनिमें मेरे हृदयमें हे अच्युत! सदा आपकी अच्युता भक्ति—अनन्य भक्ति बनी रहे। अविवेकियोंके हृदयमें जो विषयोंमें अनपायिनी प्रीति होती है वही अनपायिनी प्रीति आपके चरणारविन्दको स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी न जाय।'

विष्णुभगवान्— 'वत्स! यह भी हमने तुमको दिया। अब और क्या चाहते हो सो माँगो।'

प्रह्लाद— 'भगवन्! आपके इस अव्यभिचारिणी भक्तिके दानसे मैं कृतकृत्य हो गया। अब मुझे क्या चाहिये?' क्योंकि—

धर्मार्थकामैः किं तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता।
समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि॥

अर्थात् 'धर्म, अर्थ एवं कामकी प्राप्तिसे क्या अधिक लाभ हो सकता है? जिसके हृदयमें समस्त जगत्के मूलभूत आपके चरणारविन्दकी भक्ति स्थिर है। जिसके हृदयमें भगवद्भक्ति है उसीके हाथमें मुक्ति है, इसमें सन्देह नहीं।' परन्तु आपकी ऐसी ही आज्ञा है तो मैं एक वर और माँगता हूँ—

मयि द्वेषानुबन्धोऽभूत्संस्तुतावुद्यते तव।
मत्पितुस्तत्कृतं पापं देव तस्य प्रणश्यतु॥
शस्त्राणि पातितान्यङ्गे क्षिप्तो यच्चाग्निसंहतौ।
दंशितश्चोरगैर्दत्तं यद्विषं मम भोजने॥
बद्ध्वा समुद्रे यत् क्षिप्तो यच्चितोऽस्मि शिलोच्चयैः।
अन्यानि चाप्यसाधूनि यानि पित्रा कृतानि मे॥
त्वयि भक्तिमतो द्वेषादघं तत्सम्भवं च यत्।
त्वत्प्रसादात्प्रभो सद्यस्तेन मुच्येत मे पिता॥

अर्थात् 'हे प्रभो! मेरे पिताजीने आपकी स्तुति करनेके कारण मुझपर द्वेष करके जो पाप किये हैं, वे नष्ट हो जायँ, हे देव! मेरे अङ्गोंमें जो शस्त्र चलाये गये हैं, मैं जो अग्निकी चितामें फेंका गया हूँ, सर्पोंसे कटाया गया हूँ, मुझे भोजनमें जो विष दिया गया है, नागपाशमें बाँधकर मैं जो समुद्रमें डुबाया गया हूँ, ऊँचे पहाड़परसे

गिराया गया हूँ और आपके भक्त होनेके कारण मेरे प्रति अन्यान्य असाधु-व्यवहार करके पिताजीने जो आपका अपराध किया है, उन सब पापोंसे, हे नाथ! मेरे पिताजी शीघ्र ही मुक्त हों।' धन्य प्रह्लाद! तुम-सरीखे भक्त ही ऐसा वर माँग सकते हैं।

भक्तराज प्रह्लादके इस अद्‌भुत वरको सुन भगवान् विष्णुने मुसकुराते हुए 'एवमस्तु' कहा। तदनन्तर भगवान् अन्तर्धान हो गये। भगवान्‌के अन्तर्धान होते ही प्रह्लाद व्याकुल हो उठे। जैसे मणिके छिन जानेपर सर्प व्याकुल हो जाता है, वैसी ही दशा प्रह्लादकी हो गयी। 'हा नाथ! कहाँ गये? हा नाथ! कहाँ गये?' कहकर छटपटाते हुए प्रह्लादको आकाशसे एक शब्द सुनायी पड़ा—'हे प्रह्लाद! हमारे पुनः दर्शनके लिये शोक मत करो! इस रूपमें तो इस समय अब तुमको दर्शन नहीं होगा, पर शीघ्र ही नरहरिरूपसे हम तुम्हें दर्शन देंगे और दैत्योंके अत्याचारका अन्त करेंगे।' आकाशवाणी सुनकर प्रह्लादका चित्त शान्त हुआ और इधर रात्रिका भी अन्त हो गया। प्रातःकाल हो जानेपर प्रह्लादजी पुनः अपने घरकी ओर चले और थोड़ी ही देरमें वे सुदूर अपने नगर हिरण्यपुरमें अनायास ही जा पहुँचे और राजसभामें जाकर पितृचरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए पुत्रको हिरण्यकशिपुने दौड़कर सस्नेह गोदमें उठा लिया और सिरका आघ्राण करते हुए आशीर्वाद दिया। दैत्यराजका गला प्रेमवश भर गया और पुत्रवात्सल्यके भावसे नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहने लगी। दैत्यराजने कहा—'बेटा! तुम जीते हो, यह परम आनन्दकी बात है। उस समय विष्णुभगवान्‌के वर-प्रभावसे निष्पाप दैत्यराजकी बुद्धि शुद्ध थी और प्रह्लादके प्रति उसकी प्रीति उमड़ रही थी, प्रह्लादके वर-प्रभावसे मानो अब कोई शत्रुता न रही। पिताकी आज्ञासे प्रह्लादजी पुनः अपने आचार्योंकी सेवामें गुरुकुल भेजे गये और पूर्ववत् अध्ययन करने लगे।

चौबीसवाँ अध्याय

प्रह्लादका व्याख्यान

भगवान् श्रीनृसिंहका अवतार, दैत्यराजका वध

यत्पादपद्ममवनम्य महाधमोऽपि
पापं विहाय व्रजति स्वमनोऽभिलाषम्।
तं सर्वदेवमुकुटेडितपादपीठं
श्रीमन्नृसिंहमनिशं मनसा स्मरामि॥*

प्रह्लादजीका समावर्तन-संस्कार अभी नहीं हुआ था, अतएव शिक्षालाभ करनेपर भी अभी वे गुरुजीके आश्रममें निवास करते तथा पठन-पाठनके व्यसनमें ही लगे रहते थे। एक दिन गुरुजीकी अनुपस्थितिमें प्रह्लादजीके सहपाठी दैत्यबालकोंने उनसे पूछा कि—'राजकुमार! आपके मारनेके लिये इतने प्रबल प्रयत्न किये गये, किन्तु आपका बाल भी बाँका नहीं हुआ, इसका क्या कारण है? ऐसी कठिन आपत्तियोंमें आपकी किसने रक्षा की?' बालकोंके वचनोंको सुनकर प्रह्लादजीने ईश्वरकी महिमाका सविस्तर वर्णन किया और अन्तमें कहा कि हे असुरबालको! भगवान् हरि ही सबके रक्षक और सहायक हैं, तुम लोग ध्यान देकर सुनो, मैं उनकी और उनकी भक्तिकी कुछ महिमा तुम लोगोंको सुनाता हूँ—

बड़ोंकी सेवा, भक्ति, समस्त प्राप्त वस्तुओंका समर्पण, साधु-भक्तोंका संग, ईश्वरका आराधन, भगवान्की कथामें श्रद्धा, भगवान्के गुण और कर्मोंका कीर्तन, भगवान्के चरणकमलोंका ध्यान, भगवान्की मूर्तियोंके दर्शन और उनका पूजन

---

* अर्थात् जिनके चरण-कमलको प्रणाम करके महानीच प्राणी भी सकल पापोंको छोड़ अपने मनोरथको प्राप्त होते हैं, उन सब देवोंके मुकुटसे पूजित चरणारविन्दवाले भगवान् श्रीनृसिंहजी महाराजको मैं सदा स्मरण करता हूँ।

एवं हमारे ईश्वर भगवान् श्रीहरि ही सर्वभूतप्राणियोंमें विराजमान हैं, इस निश्चयसे सब जीवोंमें समदृष्टि रखना। इन सब साधनोंके द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छहों शत्रुओंको जीतकर भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये, ऐसा करनेसे वासुदेव भगवान्‌में अनन्य रति पैदा होती है। भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर, भगवान्‌ने अपनी लीलासे अवतार धारण करके जो विलक्षण कर्म किये हैं, उन्हें सुन-सुनकर जब अति हर्षके कारण मनुष्यका शरीर पुलकित हो जाता है, उसके आनन्दके आँसू बहने लगते हैं, कण्ठ गद्गद हो जाता है, तब वह ऊँचे स्वरसे कभी नाचता, गाता हुआ आनन्दकी ध्वनि करता है, कभी पागलकी भाँति हँसता है, कभी रोता है, कभी ध्यान करता है, कभी सबमें हरि जानकर सभी लोगोंको प्रणाम करने लगता है, कभी बारम्बार साँस लेता हुआ लाज छोड़कर—'हे हरे, हे जगत्पते, हे नारायण' पुकारता है। उस दशामें वह समस्त बन्धनोंसे छूट जाता है। भगवान्‌की भावनासे उसका अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है, अनन्य भक्तिके प्रयोगसे उसके वासनारूप संसारका बीज दग्ध हो जाता है और वह पूर्णरूपसे अधोक्षज भगवान् श्रीहरिको प्राप्त होता है। भगवान् विष्णुका आश्रय ही संसारासक्त मनवाले लोगोंके लिये संसार-चक्रका नाश करनेवाला है, इसीको विद्वान् लोग ब्रह्मनिर्वाण-सुख कहते हैं, अतएव तुमलोग अपने-अपने हृदयमें हृदीश्वर भगवान्‌का ध्यान करते हुए उनका भजन करो। हे असुरबालको! सबके हृदयमें आकाशके समान स्थित, आत्माके परम सुहृद् श्रीहरिकी उपासनामें प्रयास ही कौन-सा है? सांसारिक विषयोंके उपार्जनसे क्या प्रयोजन है? धन, स्त्री, पशु, पुत्रादि, घर, जमीन, हाथी, खजाना आदि सभी अर्थ और काम क्षणभङ्गुर हैं, इन चञ्चल पदार्थोंसे मनुष्यको क्या प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है? इन्हीं विषयोंकी भाँति यज्ञ आदि कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्गादि लोक भी स्थायी और निर्मल नहीं हैं। अतएव जिसमें कोई भी दोष देखने या सुननेमें नहीं आता, आत्मस्वरूपकी उपलब्धिके लिये उस परमेश्वरको ही अनन्य भक्तिसे भजो। अर्थ, काम और धर्म सब जिसके अधीन हैं, तुमलोग निष्कामभावसे उस निरीह आत्मा हरि ईश्वरका ही भजन करो।

सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः।
भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां जीवसञ्ज्ञितः॥

देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च।
भजमुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्॥
नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वाऽसुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥
ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे॥
दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्॥

अर्थात् 'हे असुर-बालको! समस्त प्राणियोंके आत्मा, ईश्वर और सबसे अधिक प्रिय एकमात्र हरि भगवान् हैं, वे अपने उत्पन्न किये हुए पञ्चमहाभूतोंद्वारा रचित प्राणियोंके अन्तर्यामी जीवसंज्ञक हैं। तुमलोग इस बातका सन्देह न करो कि हम दैत्य हैं, अत: ईश्वरकी भक्ति करनेके योग्य नहीं हैं, क्योंकि जिस प्रकार हम भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे कल्याणको प्राप्त हुए हैं इसी प्रकार देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व आदि समस्त योनियोंके प्राणी, भगवान् मुकुन्दके चरण-कमलोंको भजते हुए कल्याणभाजन होते हैं। भगवान् मुकुन्दके प्रसन्नार्थ न तो केवल ब्राह्मण होना और न देवता होना और न ऋषि-महर्षि होना ही पर्याप्त है और न किसी वृत्त, बहुज्ञता, दान, तप, यज्ञ, आचार, विचार और केवल व्रत करना आदि ही पर्याप्त है। वे भगवान् तो विशुद्धा अच्युता भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। भक्तिरहित होकर अन्यान्य कर्मोंको करना तो विडम्बना—तमाशामात्र है। हे असुर-बालको! इसी कारण मैं कहता हूँ कि तुमलोग अपने कल्याणके लिये भगवान् 'हरि'में भक्ति करो और सारे प्राणियोंको अपने आत्माके समान ही मानकर उन सबके अन्तर्यामी भगवान् हरिका भजन करो। हे मित्रो! केवल उनकी भक्तिके प्रभावसे न जाने कितने दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, व्रजवासी, पशु, पक्षी तथा अन्यान्य पापी जीव अमृतत्वको प्राप्त हो चुके हैं। अतएव इस लोकमें

मनुष्योंका सबसे बड़ा स्वार्थ यही है कि वे भगवान् गोविन्दकी एकान्त (अनन्य) भक्ति करें जो उन्हें भगवान्‌की दृष्टिमें सबसे बड़ा सम्मान प्रदान करनेवाली है।'

पुरोहितलोग छिपे हुए प्रह्लादजीका व्याख्यान सुन रहे थे। जैसे ही उनका व्याख्यान समाप्त हुआ वैसे ही वे सामने आकर कहने लगे कि 'राजकुमार! अब आप हमलोगोंपर कृपा करें और अपने स्थानको चलें। क्योंकि आपके यहाँ रहनेसे हमारे अन्यान्य छात्र भी भक्ति-भावनाके पागलपनमें पड़ न जाने किस दिन किस यातनाको प्राप्त हो जायँगे।' इतना कहकर पुरोहितजीने प्रह्लादको साथ लेकर राजसभाके लिये प्रस्थान किया। प्रह्लादजीके सहपाठी असुर-बालकोंको पुरोहितोंका बर्ताव कितना अप्रिय लगा होगा इसका अनुमान सहजहीमें किया जा सकता है, किन्तु उनमें छात्रधर्म था और गुरुकी गुरुताका आदर था। इसका कारण यह था कि उन्हें योग्य धर्मशिक्षा मिली थी। इसीलिये असुर होनेपर भी वे आजकलके धर्महीन विदेशी शिक्षाके पात्र स्वेच्छाचारी भूसुर विद्यार्थियोंसे ऊँचे विचारके छात्र थे। उनमें आजकलके छात्रोंकी-जैसी धृष्टता, उच्छृङ्खलता और गुरुद्रोहिताके भाव नहीं थे। उस समय गुरुकुलमें न कोई पुलिस थी और न पलटन थी। तथापि राजकुमार-जैसे प्रभावशाली विद्यार्थीको अकेले गुरुजी राजद्रोहके अपराधमें अपनी पाठशालासे निकालकर राजसभामें उनको प्राणदण्डके समान कोई भयङ्कर दण्ड दिलानेके लिये ले जा रहे हैं। इतनेपर भी पाठशालामें कोई अशान्ति नहीं हुई। वहाँ शान्तिहीका राज्य रहा और हृदयमें चञ्चलता होनेपर भी उन भगवद्भक्त निर्भीक छात्रोंमेंसे किसीका शरीर इतनी बड़ी घटना होनेपर भी चञ्चल नहीं हुआ। आज हमको यह आश्चर्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु यही उस समयके विद्यालयों, गुरुओं और छात्रोंका आदर्श था। प्रह्लादजीके साथ उनके गुरुलोग राजसभाको चले गये और पाठशालामें छात्रगण मर्यादाके अनुसार शान्त बैठे अपना-अपना पाठ पढ़ते रहे।

उधर पाठशालामें यह सब कुछ हो ही रहा था कि उधर तीर्थयात्रासे लौटकर शुक्राचार्यजी महाराज हिरण्यपुरमें आ गये। वे सबसे पहले राजसभामें न जाकर, राजमहलमें पहुँचे। गुरुके शुभागमनका समाचार सुन दैत्यराजने पाँवपियादे राजद्वारपर जाकर उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और आचार्यको अपने साथ

राजमहलमें ले जाकर अर्घ्य-पादार्घ्य आदिके द्वारा उनका यथोचित पूजन किया। शुक्राचार्यजीने भी आशीर्वाद देकर कुशल-प्रश्न पूछा। दैत्यराजने प्रह्लादजीके सारे चरित्रोंका वर्णन किया और अन्तमें कहा कि 'महाराज! आज रातको मैंने बहुत ही विचित्र स्वप्न देखे हैं। मैंने देखा कि राजसभामें मेरे सामने ही वज्रपात हुआ, जिससे सारी सभा नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। मैं शिकार खेलने गया तो मुझे जंगली हाथियोंने खदेड़ा, जिससे मुझे भागना पड़ा। सबसे बुरी बात मैंने यह देखी कि महारानी कयाधू बड़ी ही विकलतासे विलाप करती हुई रो रही हैं। यह तो स्वप्नकी बातें हुई, इसके सिवा आजकल शकुन भी अच्छे नहीं हो रहे हैं, इन सबका क्या कारण है और क्या फल है? आपके अतिरिक्त यह सब मुझे और कौन बतला सकता है?'

शुक्राचार्य— 'हे वत्स! तुमको जो स्वप्न हुए हैं न तो वे ही मङ्गलकारी हैं और न ये भौम, आन्तरिक्ष और दिव्य शकुनरूप उत्पात ही शुभ हैं।

यस्यैते सम्प्रदृश्यन्ते राज्ञो राष्ट्रे महासुर।
देशो वा ह्रियते तस्य राजा वा वधमर्हति॥
अतो बुद्ध्या समीक्षस्व यथा सर्वं प्रणश्यति।
बृहद्भयं हि न चिराद्भविष्यति न संशयः॥

अर्थात् 'हे महा असुर हिरण्यकशिपु! जिस राजाको ऐसे स्वप्न दिखलायी देते हैं और जिस राजाके देशमें ऐसे उत्पात एवं अपशकुन होते हैं, उस राजाका या तो देश छीना जाता है या वह स्वयं मारा जाता है। अतएव इस बातको तुम खूब सोच लो कि बहुत ही शीघ्र कोई बहुत बड़ा भय उपस्थित होनेवाला है, जिससे सर्वनाश हो जायगा।' इतना कहकर शुक्राचार्यजीने बिना अरिष्ट-शान्ति बतलाये ही दैत्यराजको आशीर्वाद दे अपने आश्रमको जाना चाहा। दैत्यराजकी दशा बुरी थी, वे अरिष्ट-शान्तिका उत्तर न पानेसे विकल थे, किन्तु गुरुजीसे कुछ कह भी नहीं सकते थे, अतएव भय एवं शोकसे व्याकुल दैत्यराजने उनको सादर साष्टाङ्ग प्रणामकर विदा किया। इस समय दैत्यराजके चित्तपर अत्यन्त विषाद छाया था, भय एवं शोकका पूर्ण आवेश था। इसी समय ब्रह्मशापका भी काल आकर उपस्थित हो गया। शापके प्रभावसे उसके हृदयमें पुनः अपने पुत्र प्रह्लादकी हरिभक्तिकी ओर ध्यान गया। यह स्वाभाविक बात है कि भयातुर व्यक्तिको चारों ओर भय-ही-भय दिखलायी देने लगता है। यही दशा हिरण्यकशिपुकी थी। भय एवं शोकसे व्याकुल दैत्यराज कुछ

देर बाद राजसभाको गया, वहाँ पहुँचते ही उसने देखा कि शोक एवं चिन्तायुक्त गुरुपुत्र शण्ड और अमर्क प्रह्लादको साथ लिये चले आ रहे हैं।

दैत्यराज एवं पुरोहितसहित राजकुमार, सब लोग एक ही साथ सभामें पहुँचे और सबका यथोचित स्वागत-अभिवादन आदि हुआ। प्रह्लादजीने पिताके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। दैत्यराजने उनको आशीर्वाद दे अपने आसनपर बैठनेकी आज्ञा दी। राजसभा ठसाठस भरी थी, हिरण्यकशिपुकी राजसभा समस्त ऐश्वर्यकी मूर्तिमान् छटा थी, परन्तु दैत्यराजकी उदासीनतासे सारी-की-सारी सभा उदासीन-सी प्रतीत हो रही थी। भावी शोककी छाया मानो सबके हृदयोंपर पड़ रही थी। सारे सभासद् चुप-चाप बैठे थे, कोई किसीसे कुछ भी कहता-सुनता नहीं था।

राजसभा शान्त थी, दैत्यराज भी चुप-चाप बैठे थे, इसी बीचमें दैत्य-गुरुओंने पाठशालामें छात्रोंको प्रह्लादद्वारा दी जानेवाली हरिभक्तिरूपी राजद्रोही वक्तृताओंका समाचार सुनाया। दैत्यराजका चित्त ब्रह्मशापके प्रभावसे पहलेसे ही भय और शोकसे सन्तप्त हो रहा था, अत: जैसे ही उसने गुरुवरोंके मुखसे प्रह्लादकी बातें सुनीं, वैसे ही उसके शरीरमें आग-सी लग गयी। उसने क्रोधपूर्ण विकराल नेत्रोंसे प्रह्लादकी ओर देखा और तड़ककर कहा कि—'रे दुष्ट! क्या अभीतक तेरी मूर्खता नहीं गयी? सुनता है, तेरे गुरुवर क्या कह रहे हैं? क्या सचमुच तू अब मेरे ही हाथों मरना चाहता है? क्या अब भी अपनी दुष्टता छोड़कर मेरी आज्ञाका पालन नहीं करेगा? मेरा यह अन्तिम आदेश है कि—

अहमेवेश्वरो लोके त्रैलोक्याधिपतिर्यतः।
मामेवार्चय गोविन्दं त्यज शत्रुं दुरासदम्॥

अर्थात् 'तीनों लोकका एकमात्र मैं ही स्वामी हूँ, इसलिये तू मुझको ही ईश्वर मान और मेरी ही पूजा कर, उस दुष्ट शत्रु गोविन्दका नाम छोड़ दे।'

दैत्यराजके वचन समाप्त होते ही राजपुरोहितोंने भी उनकी ही हाँ-में-हाँ मिला दी। पिता एवं पुरोहितजीके वचन सुनकर परम भागवत प्रह्लादजी हँसते हुए कहने लगे—

अहो भगवतः श्रैष्ठ्यं यन्मायामोहितं जगत्।
अहो वेदान्तविदुषः सर्वलोकेषु पूजिताः॥

ब्राह्मणा अपि चापल्याद् वदन्त्येवं मदान्विताः।
नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम्॥
नारायणः परो ध्याता ध्यानं नारायणः परम्।
गतिर्विश्वस्य जगतः शाश्वतः स शिवोऽच्युतः॥
धाता विधाता जगतः वासुदेवः सनातनः।
तेनैव सृष्टी ब्रह्मेशौ सर्वदेवोत्तमावुभौ॥
तस्यैवाज्ञां पुरस्कृत्य वर्तेते ब्रह्मशङ्करौ।
तस्य विष्णोः परं धाम सदा पश्यन्ति सूरयः॥
एवं सर्वोपनिषदामर्थं हित्वा द्विजोत्तमाः।
रागाल्लोभाद्भयाद्वापि अन्यत्रमतिमानसाः॥
कृष्णं ध्यायेन्महात्मानो योगिनः सनकादयः।
यमर्चयन्ति ब्रह्मेशशक्राद्या देवतागणाः॥
स एव रक्षकः श्रीशो देवानामपि सर्वदा।
तमेव पूजयिष्यामि लक्ष्म्या संयुतमीश्वरम्॥

अर्थात् 'बड़े आश्चर्यकी बात है कि वेद-वेदान्तके जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मण, जिनको सारा संसार आदरकी दृष्टिसे देखता और पूजता है वे भी भगवान्‌की मायासे मोहित हो धृष्टताके साथ—अभिमानके साथ इस प्रकारकी अनर्गल बातें कहते हैं। जिन भगवान्‌की मायासे यह सारा जगत् मोहित है उनकी बड़ाई कहाँतक की जाय? मेरे विचारमें तो नारायण ही परब्रह्म हैं, नारायण ही परम तत्त्व हैं, नारायण ही सबसे बड़े ध्यान करनेवाले और नारायण ही सबसे बड़े ध्यान हैं। वे ही जगत्‌की गति हैं, वे ही इस अनवरत चलनेवाले विश्वकी गति हैं और वे ही अच्युत एवं भगवान् शिव हैं। वे ही नारायण संसारके धाता-विधाता हैं और वे ही सनातन वासुदेव हैं, उन्हीं नारायणने ब्रह्मा और शिव—इन दोनों सर्व देवताओंमें उत्तम देवताओंको उत्पन्न किया है और उन्हींकी आज्ञासे वे दोनों अपना कार्य करते हैं। उन्हीं भगवान् विष्णुके धामको विद्वान्‌लोग सबसे परे देखते हैं। परन्तु आज उन सर्वोपनिषदोंसे प्रतिपादित नारायणको छोड़कर, ये ब्राह्मणोंमें उत्तम विद्वान् भी राग, लोभ अथवा भयवश न जाने क्या कह रहे हैं और अपने चित्तको दूसरी ओर बहका रहे हैं? जिन परब्रह्म भगवान् कृष्णका सनकादि

भिन्नकी भाँति स्थित होनेपर भी वास्तवमें श्रीअनन्तके ही रूप हैं, ऐसा जाननेवाले पुरुषको चाहिये कि समस्त चराचर जगत्को आत्मवत् देखे; क्योंकि भगवान् विष्णुने ही विश्वरूप धारण कर रखा है। इस प्रकार जाननेपर भगवान् अनादि अच्युत परमात्मा उसके प्रति प्रसन्न होते हैं और उनकी प्रसन्नतासे समस्त क्लेशोंका नाश हो जाता है।

प्रह्लादजीके इन वचनोंको सुनकर दैत्यराज आपेसे बाहर हो गया। उसकी सारी आशालताएँ मुरझा गयीं और उसने क्रोधके आवेशमें तड़ककर कहा कि 'हे असुरवीरो! इस बालककी दुष्टता पराकाष्ठाको पहुँच चुकी है। अब इसपर दया करना पाप है। इसको तुरन्त ले जाओ और नागपाशमें बाँधकर समुद्रके प्रबल वेगमें डुबा दो एवं ऊपरसे पत्थरोंके ढेर लगा दो, जिसमें फिर इसके जीवित रहनेकी कोई सम्भावना ही न रहे।' दैत्यराजकी आज्ञा पाते ही असुरगण अपनी आसुरी प्रकृतिके अनुसार प्रसन्नता प्रकट करते हुए शान्तमूर्ति प्रह्लादजीकी ओर झपटे और चारों ओरसे उनको पकड़कर ले चले। मार्गमें तरह-तरहके भय दिखलाते और अपनी वीरताका बखान करते हुए वे उन्हें समुद्रतटपर ले गये। समुद्रकी असीम जलराशि उत्ताल तरंगोंमें उछल रही थी। उसकी गर्जनाके साथ-साथ प्रचण्ड वायुके सर्राटोंसे दसों दिशाएँ प्रतिध्वनित हो भयावनी बन रही थीं। आकाशको घहरा देनेवाली भयङ्कर गर्जना करते हुए असुरगण प्रह्लादको लेकर वहाँ जा पहुँचे। मूर्ख निर्दय असुरोंने प्रह्लादको खूब कसके नागपाशमें बाँधा—अपनी शक्तिभर उन्हें ऐसा बाँधा कि फिर किसी प्रकार छूट न सकें। तदनन्तर समुद्रकी उछलती हुई जलराशिके बीच उनको डुबो दिया और ऊपरसे पत्थरोंके ढेरसे मानो पहाड़ोंकी रचना कर दी। इतना ही नहीं, अगणित वृक्षोंको उखाड़-उखाड़कर उस पहाड़पर ऐसा ढेर लगा दिया मानो समुद्रके बीचमें पहाड़पर घना जङ्गल तैयार हो गया है। यह सब कुछ करके असुरगण बड़े ही प्रसन्न हुए और राजधानीमें लौटकर अपनी सफलताका समाचार दैत्यराजको सुनाया।

इधर असुरगण और दैत्यराज हिरण्यकशिपु अपनी सफलताके आनन्दमें रात बिता रहे थे और उधर इस समाचारको सुनकर महारानी कयाधू प्रबल शोकसागरमें डूब रही थीं। सारे अन्तःपुरमें रातभर पुत्र-शोकसे व्याकुल महारानी कयाधूके आर्तक्रन्दनसे कुहराम मचा रहा। हिरण्यपुरमें जहाँ-तहाँ शोकसे व्याकुल बालक रो

योगिराज ध्यान करते हैं; जिनको ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि देवतागण पूजते हैं और जो एक ही देवताओंके भी सदा रक्षक रहते हैं। मैं उन्हीं परब्रह्म नारायणकी लक्ष्मीजीके सहित पूजा करूँगा।'

प्रह्लादजीके निर्भीक और ओजस्वी वचनोंको सुनकर दैत्यराजके शरीरमें आग लग गयी। क्रोधके मारे उसके अंग काँपने लगे और वह तिरछी नजरसे प्रह्लादकी ओर देखता हुआ घुड़ककर तिरस्कारयुक्त वचन बोला कि 'रे दुष्ट राजकुमार! बता, जिसकी तू इतनी प्रशंसा करता है वह तेरा विष्णु है कहाँ? यदि तेरा विष्णु सर्वव्यापी है तो क्या इस राजसभामें भी है? यदि है तो दिखला कहाँ है? यदि नहीं दिखलाता तो अब तेरा अन्तसमय आ गया। अबतक हमने तुझको अपना सुपुत्र समझकर अपने हाथों वध करना उचित नहीं समझा था, किन्तु अब ऐसा प्रतीत होता है कि तेरी मृत्यु हमारे ही हाथ है। शीघ्र बतला और दिखला तेरा विष्णु कहाँ है?' यों कहते-कहते दैत्यराज आपेसे बाहर हो गया और बोला—

हे दुर्विनीत मन्दात्मन् कुलभेदकराधम।
स्तब्धं मच्छासनोद्धूतं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम्॥
क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः।
तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किंबलोऽत्यगाः॥

अर्थात् 'रे दुर्विनीत, रे मन्द-बुद्धि, कुलाङ्गार अधम! मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले तुझको मैं अभी यमलोक पहुँचाता हूँ। जिसके कुपित होते ही लोकपालोंके सहित तीनों लोक थर-थर काँपने लगते हैं, उस मेरे समान पराक्रमीकी आज्ञाका अरे मूढ़! तू किसके बलपर निडर हो उल्लङ्घन कर रहा है?'

परम विश्वासी प्रह्लादने शान्ति और गम्भीरताके साथ उत्तर दिया—

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः॥
स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसावोजः सहः सत्त्वबलेन्द्रियात्मा।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः॥
जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथस्थितात्तद्धि ह्यनन्तस्य महत्समर्हणम्॥

दस्यून्पुरा षण्ण विजित्य लुम्पतो मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश।
जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे॥

अर्थात् 'हे महाराज! जिन्होंने ब्रह्मासे लेकर एक तिनकेतक समस्त स्थावर-जंगम जगत्को अपने वशमें कर रखा है वे भगवान् ही मेरे बल हैं; मेरे ही नहीं, आपके और अन्यान्य सबके बल भी वे ही हैं। वे ही महापराक्रमी भगवान् ईश्वर हैं, काल हैं और ओज हैं; वे ही साहस, सत्त्व, बल, इन्द्रिय और आत्मा हैं; वे ही तीनों गुणोंके स्वामी अपनी परम शक्तिसे विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। आप अपने इस आसुरी भावको छोड़कर सबमें समभावसे परमात्माको देखिये। फिर आपको पता लगेगा कि आपका ही क्या किसीका भी कहीं कोई शत्रु नहीं है। कुमार्गपर चलनेवाला बिना जीता हुआ मन ही परम शत्रु है। अतएव मनको वशमें करके समत्वको प्राप्त होना ही अनन्त भगवान्की मुख्य आराधना है। कुछ मूर्खलोग अपने अन्दर रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छः डाकुओंको पहले न जीतकर ही मान बैठते हैं कि हमने दसों दिशाओंको जीत लिया है। जिन्होंने अपने मन-इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है, उन समस्त भूत-प्राणियोंमें समदृष्टि हुए विद्वान् साधुओंके लिये अपने अज्ञानसे कल्पित शत्रु कोई भी नहीं है।

'हे पितृचरण! आप क्रोध न कर शान्त हों, दैत्योंके नहीं, अपने मनके राजा बन क्रोधादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त करें। अभी समय है, अब भी आप उन करुणावरुणालयकी भक्तिमें चित्त लगाइये। फिर आप देखेंगे कि मेरा वह प्रभु आपकी इस राजसभामें विद्यमान है। यदि आप ऐसा करें तो आप आजहीसे परम सुखी और सन्तुष्ट होकर परम पदको प्राप्त कर सकते हैं।'

प्रह्लादके इन वचनोंको सुनकर हिरण्यकशिपु क्रोधसे अधीर हो उठा और बोला—

'रे मन्दभागी, अब निश्चय ही तेरी मरनेकी इच्छा है—'**विनाशकाले विपरीतबुद्धिः**' ठीक ही है—इसीसे तू हमारे सामने धृष्टताके साथ अनाप-शनाप बक रहा है। इस धृष्टताका फल अभी तुझको मिलता है। अच्छा! जब तू अपने विष्णुको हमारी सभामें भी बतलाता है, और उसे जगदीश्वर मानता है तो दिखला वह कहाँ है? क्या इस सामनेवाले खम्भेमें भी है? यदि है तो जल्दी दिखला, नहीं तो अब हम तेरा सिर इसी तलवारके द्वारा धड़से अलग करते हैं।

देखेंगे, तेरा हरि कहाँसे आकर तुझे बचाता है?'

प्रह्लादजीने पिताजीको प्रणाम कर और हाथ जोड़कर कहा कि पूज्यपाद पिताजी! आप शान्त हों, क्रोध न करें। मैंने मिथ्या नहीं, सत्य ही कहा है। मेरे विष्णु सर्वव्यापी हैं और इस खम्भेमें भी हैं। भगवन्! देखिये, मुझे तो इस खम्भेमें वे स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं, मैं नहीं कह सकता आपको भी दिखलायी पड़ते या नहीं। इसी प्रसङ्गमें स्व० वा० वान्धवाधीशने लिखा है—

पितु बावरो! तू कछु जाने नहीं प्रभु मेरो सबै थल में विचरै।
अवनी में अकाश में शैलहु सिन्धु में मो महँ तो महँ तेज भरै॥
रघुराज बड़ो करुणाकर सो निज भक्तन को प्रण पूरो करै।
यह खम्भ में मोहि तो देखि परै तोहि देखि परै धौ न देखि परै॥

परमभागवत प्रह्लादजीके इन वचनोंको सुनकर दैत्यराज हिरण्यकशिपु राजसिंहासनसे सहसा कूद पड़ा और क्रोधके आवेशमें प्रह्लादजीको न जाने कितने कटु एवं अवाच्य वचन कहता हुआ खड्ग लेकर भाँति-भाँतिके रत्नों एवं मोतियोंकी झालरोंसे सुशोभित सामनेके स्फटिक-स्तम्भकी ओर लपककर उसपर बड़े जोरसे एक ऐसा मुष्टि-प्रहार किया कि जिससे न केवल राजसभा ही किन्तु सारा भूमण्डल डगमगा गया। मुष्टिप्रहारके शब्दके साथ ही खम्भेमेंसे सहसा ऐसा भयङ्कर एवं घोर शब्द हुआ जिससे तीनों लोक और चौदहों भुवन शब्दायमान हो गये। ब्रह्माण्डके फूटनेके समान घोर भैरव शब्दको सुनकर सारे संसारके समस्त भूतप्राणी घबड़ा गये। लोगोंने समझा कि प्रलयकाल उपस्थित है। अगणित असुर-स्त्रियोंके गर्भ असमयमें ही गिर गये। कायर असुर भयानक शब्द सुनते ही सभासे भाग निकले। आकाशसे तारे टूट-टूटकर गिरने लगे। दिग्गजोंके दाँत हिल गये। सहसा भूमण्डलमें भारी भूकम्प-सा आ गया और न जाने कितने ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और उनके शृङ्ग टूट-टूटकर वेगसे उछले और दूर-दूर देशोंमें जा गिरे। जब पहाड़ोंकी यह दशा हुई तब विशाल राजमहलोंकी विशेषकर हिरण्यपुरके राजप्रासादोंकी दशा कैसे हुई होगी, इसका अनुमान करना कठिन नहीं। सारे नगरके लोग भयभीत होकर अपने-अपने घरोंसे निकल-निकलकर भागने लगे और सर्वत्र हाहाकार मच गया।

इस प्रकार महाभैरव शब्दके साथ ही दैत्यराजने अपने सामने ही सहसा स्तम्भको फूटते हुए देखा—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥
(श्रीमद्भागवत ७। ८। १८)

अर्थात् 'भगवान् मुझे तो इस खम्भमें भी दिखलायी पड़ते हैं, अपने भक्त प्रह्लादके इन वचनोंको और अपनी सर्वव्यापकताको प्रत्यक्ष सत्य सिद्ध करनेके लिये भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरि सभाके बीच स्तम्भके भीतरसे अद्भुत नरहरि-रूप धारणकर प्रकट हो गये।'*

दैत्यराजने परम आश्चर्य और भयके साथ अद्भुत नृसिंहरूपको देखा। जिसका सारा शरीर तो चतुर्भुज सुन्दर मनुष्यका-सा है और सिर महाभयङ्कर सिंहका-सा दीख रहा है। प्रज्वलित अग्निमें तपाये हुए सोनेके-से चमचमाते हुए भयावने नेत्र हैं और सिरपर आकाशतक फैली हुई सोनेकी-सी जटाएँ फहरा रही हैं। बड़े-बड़े तीखे भयङ्कर दाँतों और बिजलीकी चपलताको भी लज्जित करनेवाली चमचमाती हुई लपलप करती जिह्वाको देखकर अजेय वीर दैत्यराजका हृदय काँप उठा और उसका मुख सहसा सूख गया। भगवान् नृसिंहके पर्वताकार शरीरके विशाल भुजदण्डों और ब्रह्माण्डको फाड़ डालनेयोग्य बड़े-बड़े नखोंको देखकर दैत्यराजका

---

*टीकाकारोंने यहाँपर 'निजभृत्यभाषितम्'के अनेक अर्थ किये हैं। किसीने लिखा है कि अपने सेवक सनकादि महर्षियोंके उस वचनको सत्य करनेके लिये जो शापके अनन्तर उन्होंने जय-विजयको तीन जन्ममें मुक्ति पानेकी बात कही थी अथवा निजभृत्य हिरण्यकशिपुके उस वचनको सत्य करनेके लिये भगवान्ने नृहरिरूप धारण करके अवतार लिया है, जिस वचनमें उसने ब्रह्माजीसे वर माँगा था कि मैं न मनुष्यसे मारा जाऊँ और न पशुसे। इसी कारण यहाँ 'न मृगं न मानुषम्' ऐसे शब्दका प्रयोग भी हुआ है। किसी-किसीने यह भी लिखा है कि कयाधू-हरणके समय इन्द्रसे नारदजीने कहा था कि इसके गर्भमें हरिभक्त है, उससे तुम्हारी रक्षा होगी, उस वचनको सत्य करनेके लिये भगवान् प्रकट हुए हैं।

धीरज छूट गया और भयभीत हो जानेके कारण उसकी आँखें सहसा बन्द हो गयीं। यह पहला ही अवसर था कि दैत्यराजको अपने जीवनमें भय प्राप्त हुआ था। उसने भयभीत होकर शत्रुके सामने आँखें मूँद लीं। लोग कह सकते हैं कि दैत्यराज-जैसे वीरके लिये मृत्युसे डरकर भयभीत हो आँख मूँद लेना कभी सम्भव नहीं था। उसने अपने स्वामीको अपने सामने देख अपने उस अपराधको स्मरण किया जिसके कारण उसको सनकादि महर्षियोंने शाप दिया था और अपने ही अपराधके कारण दयामय स्वामीको यह रूप धारण करनेका कष्ट उठाना पड़ा था, इसलिये उसने लज्जित होकर अपनी आँखें मूँद ली थीं। यह भावना भी बड़ी सुन्दर है। अस्तु।

इधर दैत्यराजकी जीते-ही-जी आँखें मुँद गयीं! तीनों लोक तथा चौदहों भुवनके जीतनेवाले अजेय वीरका शरीर मृतप्राय हो गया। उधर घोर गर्जना करते हुए उन भयङ्कर मूर्तिधारी भगवान् श्रीनृसिंहजीने तड़ककर एक छोटी भूमिकाके समान दैत्यराजको उठाकर अपनी जंघापर रख तीक्ष्ण नखोंसे उसका उदर विदीर्ण कर डाला और अँतड़ियोंको निकाल अपने गलेमें माला-विजयमालाके रूपमें धारण कर लिया। दैत्यराजका अन्त पलक मारते-मारते ही हो गया। साथ ही उसके साथी अन्यान्य शूर असुर भी भगवान् नृसिंहकी कोपज्वालामें भस्म होकर वहीं ढेर हो गये।*

त्रिभुवनविजेता दैत्यराज हिरण्यकशिपुके सहसा वध होनेका समाचार बिजलीके समान सर्वत्र फैल गया। देवताओंके अधीश्वर इन्द्र और अन्यान्य दिक्पाल कारागारसे तुरन्त मुक्त कर दिये गये। सारे संसारमें विशेषकर देवता और उनके भक्त धार्मिक विश्वनिवासियोंमें आनन्दमय कोलाहल मच गया। असुरोंसे सन्तप्त देवताओंमें उस समय जो आनन्द-समुद्र उमड़ा, उसका वर्णन करना तो लेखनीकी शक्तिके सर्वथा बाहर है। हाँ, उस आनन्दका आंशिक अनुभव वे कर सकते हैं जो घोर अत्याचारी, धर्मद्रोही प्रबलतर शासकके पश्चात् उसके दुःशासनके अन्त और सुशासनके आरम्भको देखनेका सुख पा चुके हैं। अस्तु, दैत्यराजके वधसे स्वर्गके आनन्दका

---

*किसी-किसी पुराणमें दैत्यराज और भगवान् नृसिंहजीके बीच बहुत दिनोंतक घोर युद्ध होनेका उल्लेख है। इतना ही नहीं, इस युद्धमें विष्णुके साथ इन्द्रादि देवताओंके लड़नेकी भी बात है। सम्भवतः ऐसी कथाएँ कल्पान्तरकी ही मानी जा सकती हैं।

जयकार मनाया जा रहा है और परमभागवत प्रह्लादजीका गुण गाया जा रहा है। चारों ओर मङ्गलमय उत्सव होते दिखलायी दे रहे हैं और पटह-दुन्दुभी ही नहीं, बड़े-बड़े नगाड़ोंसे आकाशमण्डल घहरा उठा है। गन्धर्वोंके संगीत और अप्सराओंके नृत्यसे सारा स्वर्ग मङ्गलधाम बन गया है। इस आनन्दोत्सवमें गन्धर्वों और अप्सराओंके साथ देवतालोग भी आकाशमण्डलमें हिरण्यपुरके ऊपर टिड्डियोंकी तरह उड़ने लगे और विश्वम्भरकी विजयध्वनिसे विश्वको कम्पायमान करते हुए भगवान् श्रीनृसिंहजी महाराजके तथा उनके परमभक्त प्रह्लादके ऊपर पुष्पवृष्टि करने लगे।

अवश्य ही दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध उसके वरदानकी शर्तोंको पालन करते हुए ही हुआ। उसने शर्तें लगायी थीं कि 'न दिनमें मरूँ न रातमें' अतएव उसका वध सन्ध्या समय किया गया; उसने माँगा था कि 'मुझे न मनुष्य मारे न पशु' अतएव **'न मृगं न मानुषम्'** नृसिंहरूप भगवान्‌को धारण करना पड़ा और उसने वर माँगा था कि 'मै न हथियारसे मारा जाऊँ और न ब्रह्माजीके उत्पन्न किये हुए किसी प्राणीसे' अतएव नखोंद्वारा और ब्रह्माकी सृष्टिके किसी प्राणीने नहीं, स्वयम्भू भगवान् नृसिंहजीने उसको मारा। उसकी यह भी एक शर्त थी कि 'मैं न भीतर मरूँ न बाहर तथा न जलमें, न थलमें' अतएव भगवान्‌ने उसे देहरीपर और अपनी जंघापर गिराकर मारा था। सारांश यह कि भक्तवत्सल भगवान्‌ने अपने पार्षदकी, जो उस समय दैत्यराजके रूपमें था, सारी शर्तें पूरी कीं और उसने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार शत्रुतापूर्ण उनका जैसा भजन किया, उसके फलस्वरूप यह प्रथम जन्मका काण्ड समाप्त हुआ।

हिरण्यकशिपु मारा गया, सारे संसारमें आनन्द छा गया और देवताओंके दुःखका अन्त हो गया, किन्तु राजसभाके मध्य भगवान् नृसिंहकी उस विकराल मूर्तिके तेजसे उनके सम्मुख डरके मारे किसीका भी जानेका साहस नहीं होता। अन्य देवताओंकी कौन कहे, ब्रह्मा और शिव भी दूर ही खड़े उस छबिको देखते हैं। भगवान्‌की वह मूर्ति, मानो मूर्तिमान् क्रोधमयी मूर्ति बन गयी है। भगवान्‌का घोर गर्जन, उनके गलेमें दैत्यराजकी अँतड़ियोंकी माला और रक्तरञ्जित शरीरकी ओर किसीको देखनेका साहस नहीं होता था। अन्तमें सब देवताओंने जगन्माता महालक्ष्मीका स्मरण किया, उनकी स्तुति की। जगज्जननी प्रसन्न होकर उपस्थित हुईं। ब्रह्मादि

देवताओंने उनसे प्रार्थना की कि 'माता' इस समय जगत्पिता प्रभुका जैसा विकराल स्वरूप है, उनका जैसा क्रोध है और वे जैसे घोर गर्जनसे बारम्बार भूमण्डलको कम्पायमान कर रहे हैं, ऐसा स्वरूप हमलोगोंने इससे पूर्व कभी नहीं देखा था। अतएव हमलोग भयभीत हो रहे हैं। किसीका साहस नहीं होता कि उनके चरणकमलोंतक जाय और प्रार्थना करके उनके कोपको शान्त करावे। इसीलिये हमलोगोंने आपको कष्ट दिया है। माताजी! इस समय आप ही उनके क्रोधको शान्तकर सारे संसारको इस महान् आतङ्करूपी सङ्कटसे मुक्त कर सकती हैं। देवताओंके प्रार्थनानुसार जगन्माता महालक्ष्मी कुछ दूरतक तो गयीं, परन्तु भगवान्का भयङ्कर नृसिंहरूप और उनका प्रचण्ड तेज देखकर तुरन्त लौट आयीं। महालक्ष्मीने देवताओंसे कहा कि 'देवगण! आजतक मैंने भी न तो भगवान्का ऐसा स्वरूप ही कभी देखा और न ऐसी क्रोधभरी प्रज्वलित आँखें ही देखी हैं, अतएव मेरा साहस नहीं होता कि मैं उनके समीपतक जाऊँ और उनके क्रोधको शान्त कराऊँ। शेषमें सब देवताओंकी सम्मतिसे ब्रह्माजीने प्रह्लादजीसे कहा—'बेटा प्रह्लाद! अब इस त्रिलोकीमें भगवान्का क्रोध शान्त करानेवाला तुम्हारे अतिरिक्त कोई नहीं है। यह क्रोध तुम्हारे पिताजीको मारकर तुम्हारी रक्षा करनेके लिये ही हुआ है, अतएव तुम्हीं इस क्रोधको शान्त करा सकते हो।' ब्रह्माजीकी आज्ञाको शिरोधार्यकर प्रह्लादजी शान्तचित्तसे, निर्भय हो, भगवान्के समीप जा पहुँचे और उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। जिस भयानक स्वरूपके भयसे ब्रह्मादि देवता कोसों दूर भागते थे, श्रीनृसिंहजीकी उसी मूर्तिके चरणोंमें प्रह्लादजी निर्भय साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहे हैं। यह है क्या? किसके प्रभावसे आज प्रह्लाद निर्भय हैं? यह है भक्तका महत्त्व और अनन्य भगवद्भक्तिकी अनन्त महिमा, जिसके वश होकर भगवान्को इस प्रकारकी अलौकिक लीलाएँ करनी पड़ती हैं।
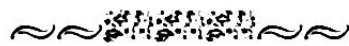
पचीसवाँ अध्याय

प्रह्लाद और देवताओंद्वारा भगवान्‌की स्तुतियाँ

भक्तवात्सल्य-रसका चमत्कार

भगवान्‌ने देखा कि प्रिय बालक प्रह्लाद चरणोंपर पड़ा साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा है; किन्तु हमारे प्रभावसे उसकी वाणी रुक रही है, वह भयभीत नहीं, किन्तु आनन्दमुग्ध हो रहा है, अतएव उन्होंने उसको अपने भक्तभयहारी भुजदण्डोंसे उठाकर अपनी गोदमें बैठा लिया और कालरूपी सर्पके भयसे भीत चित्तवाले लोगोंको अभय प्रदान करनेवाला अपना करकमल वे प्रह्लादके सिरपर फेरने लगे। भगवान्‌का कोप शान्त हुआ और उनके हृदयमें दयाकी बाढ़-सी आ गयी। भगवान्‌के करकमलोंका मधुर स्पर्श होते ही प्रह्लादकी सारी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता जाती रही, उनका शरीर असीम हर्षसे रोमाञ्चित हो गया, नेत्रोंसे आनन्दाश्रुओंकी धारा बहने लगी और उसी क्षण उनके हृदयमें अपूर्व ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो गया। प्रह्लाद परमानन्दको प्राप्त होकर भगवान्‌के चरण-कमलोंके ध्यानमें शरीरकी सुध-बुध भूल गये। भगवान्‌ने स्नेहमयी जननीकी भाँति प्रह्लादका मस्तक सूँघते हुए बड़े ही कोमल वचनोंमें संकुचित होते हुए-से कहा—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्
क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
आलोचितं विषयमेतदभूतपूर्वं
क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः॥

'बेटा प्रह्लाद! कहाँ तो तेरा कोमल शरीर और तेरी सुकुमार अवस्था और कहाँ उस उन्मत्तके द्वारा की हुई तुझपर दारुण यातनाएँ। ओह! यह कैसा अभूतपूर्व प्रसंग देखनेमें आया। प्रिय वत्स! मुझे आनेमें यदि देर हो गयी हो तो तू मुझपर क्षमा कर।' धन्य भक्तवत्सलता!

भगवान्‌के स्नेह-से वचन सुनकर प्रह्लाद आनन्दविह्वल हो गये! फिर वे मन-ही-मन सोचने लगे—

जिन उग्र नृसिंहरूप भगवान्की आराधना और स्तुति करनेमें ब्रह्मादि देवतागण, मुनिगण और सत्त्वगुणमें जिनकी अपार बुद्धि है वे सिद्धगण भी जब समर्थ नहीं हुए, तब इस प्रकारका साहस करना मेरे लिये कैसे सम्भव है? फिर भी इन्हींकी कृपासे मैं स्तुति करूँगा। ऐश्वर्य, उत्तम कुलका जन्म, सौन्दर्य, पाण्डित्य, इन्द्रियोंकी निपुणता, कान्ति, प्रताप, बल, उद्यम, बुद्धि, तपस्या एवं अष्टाङ्गयोग—ये मनुष्योंके बारह गुण हैं, किन्तु परब्रह्म परमात्माकी आराधनाके लिये ये गुणमात्र ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिये तो एकमात्र भक्ति ही पर्याप्त है। अतएव इन बारह गुणोंके न होनेपर भी शरणागति भक्तिके द्वारा भगवान्ने गजराजका उद्धार किया था। भगवान् पद्मनाभके पादारविन्दकी भक्तिसे विमुख-ज्ञान, सत्य, दम, श्रुत, अमात्सर्य, ह्री, तितिक्षा, अनसूया, यज्ञ, दान, धृति एवं शम—इन बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मणकी अपेक्षा मैं उस भगवद्भक्त श्वपचको, जिसने अपना मन, वचन आदि सब कुछ भगवान्के चरणारविन्दमें अर्पण कर दिया है, श्रेष्ठ मानता हूँ। क्योंकि भगवच्छरणागत श्वपच अपने समस्त कुलको पवित्र कर देता है किन्तु वह भगवद्विमुख ब्राह्मण स्वयं अपना भी उद्धार नहीं कर सकता। भगवान् अपनी भक्ति अथवा अपना मान, अपने लाभके लिये नहीं चाहते, प्रत्युत कर्ताहीके लाभके लिये चाहते हैं, जैसे तिलकादिके धारण करनेसे धर्मपालनके साथ ही अपने मुखकी शोभा भी बढ़ती है वैसे ही भगवान्का मान करनेसे अपना ही मान बढ़ता है। यद्यपि मैं दैत्य-जैसे नीच कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ और संसारकी नीचप्रवृत्तिके वशवर्ती हूँ, तथापि अपनी बुद्धिके अनुसार भगवान्की स्तुति करूँगा। क्योंकि भगवान्की स्तुति करनेसे इस मायाग्रसित संसारके बन्धनसे मुक्त और पवित्र होकर लोग आनन्द प्राप्त करते हैं। इन बातोंको सोच-विचारकर प्रह्लादजी स्तुति करने लगे—

स्तुतिका मर्मांश

'हे नाथ! ये समस्त ब्रह्मादि देवतागण, जो आपके क्रोधसे भयभीत हो रहे हैं, आपके सत्त्वमूर्तिहीके आज्ञाकारी, उपासक एवं भक्त हैं—दूसरे कोई नहीं हैं। ये देवगण, हम असुरोंके समान वैरभावसे विरक्त भक्त नहीं हैं, ये तो आपके रुचिर अवतारकी लीलाओंको विश्वके कल्याणके लिये श्रद्धापूर्वक देखते हैं, संसारको भय दिलानेके लिये नहीं। अतः इन देवताओंके भय-निवृत्त्यर्थ हे भगवन्! आप अपने क्रोधको शान्त करें। जिस असुरके मारनेके लिये यह क्रोध था, वह तो मारा गया।

अब क्रोधका क्या प्रयोजन है? अतएव इसे त्यागनेकी कृपा कीजिये। आपके द्वारा असुरके मारे जानेसे सज्जनोंको उसी प्रकार सन्तोष हुआ है, जिस प्रकार दूसरे प्राणियोंको कष्ट देनेवाले विषपूर्ण बिच्छू और सर्पके वधसे साधुजन भी प्रसन्न होते हैं। आपने अपने क्रोधसे संसार-भयकारी असुरका वध करके लोगोंके भयको दूर किया है। अतएव अब इस क्रोधको भयहारी मानकर भी धारण करनेकी आवश्यकता नहीं। आपके इस नृसिंह-रूपका स्मरण ही लोगोंकी भय-निवृत्तिके हेतु पर्याप्त है। अतः क्रोध शान्त कर इन ब्रह्मादि देवताओंके भयको दूर कीजिये। हे भगवन्! हे अजित! मैं आपके अतिभयानक मुख, विद्युत्के समान लपलपाती हुई जीभ, प्रचण्ड सूर्यके समान नेत्र, कुटिल भृकुटी और उग्र डाढ़ोंको देखकर भयभीत नहीं हूँ। दैत्यराजकी आँतोंकी इस रुधिराक्त मालाके धारणसे, रुधिरसे भीगे हुए बालोंसे, खड़े हुए कानोंसे दिग्दिगन्तको कम्पायमान करनेवाले आपके गर्जन-तर्जनसे तथा शैल-शिखरोंके विदारनेयोग्य भयङ्कर नखोंसे मुझे नाममात्रका भय नहीं है। हे कृपावत्सल! मैं तो इस दुःसह संसाररूपी क्रूर चक्रके भयसे भयभीत हूँ। संसारका असह्य दुःख मुझसे सहन नहीं हो रहा है, भगवन्! इस संसारमें जहाँ देखता हूँ वहीं चारों ओर हिंसक जीवोंने डेरा डाल रखा है। मैं अपने कर्मोंके बन्धनमें बँधा हुआ भी आपसे विनय करता हूँ कि हे श्रेष्ठतम! आप अपने चरणोंकी शरणागतिरूपी मोक्ष देकर मुझे अपने समीप कब बुलावेंगे? इस संसारमें प्रियके वियोग और अप्रियके संयोग अर्थात् जन्म-मरणादि शोकरूपी अग्निसे जलता हुआ मैं नाना योनियोंमें भ्रमण करनेके दुःखसे बचनेके लिये ही आपके दास्य-योगको चाहता हूँ। हे भूमन्! मुझे अपनाइये। हे नाथ! आपके दास्य-योगको प्राप्त कर लेनेपर ये सांसारिक विघ्न मेरा कुछ नहीं कर सकेंगे। ब्रह्मादि देवताओंद्वारा कीर्तित आपकी कृपासे आपके दास्य-योगद्वारा मैं उन समस्त विघ्न-बाधाओंको तर जाऊँगा। यदि आप कहें कि 'संसारके दुःखोंको मिटानेके लिये संसारहीमें उपाय भी तो हैं, फिर तुम दास्य-योग क्यों चाहते हो,' तो मेरी विनती यही है कि सांसारिक दुःखोंको मिटानेके उपाय संसारमें वस्तुतः आत्यन्तिक नहीं हैं, जो हैं वे क्षणिक हैं अथवा मिथ्या-भासमात्र हैं। बालकोंके रक्षक उनके माता-पिताओंके होते हुए भी बालक दुःखी देखे जाते हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो अजीगर्तके समान पिता ही वधिक भी देखे जाते हैं। रोगियोंके लिये ओषधियाँ

दुःखनिवारक मानी जाती हैं, किन्तु वस्तुतः वे भी कुछ नहीं हैं। क्योंकि भाँति-भाँतिकी ओषधि करनेपर भी रोगियोंकी मृत्यु होती हुई देखी जाती है। मनुष्योंको समुद्रमें नौका, जहाज शरण हैं किंतु नौका और जहाजके साथ भी मनुष्य डूबते हुए देखे जाते हैं। अतएव हे नाथ! ये सांसारिक उपाय क्षणिक हैं और अनिश्चित हैं। आपकी शरणागति, आपका दास्य-योग दृढ़ और आत्यन्तिक उपाय है। हे भगवन्! कदाचित् कहीं किसी कारणवश यदि कोई रक्षकके रूपसे दिखायी पड़ता है तो वह आपसे भिन्न कोई दूसरा नहीं है। पिता आदि अर्वाचीन अथवा ब्रह्मादि प्राचीन कर्ताके रूपमें जो दिखलायी पड़ते हैं, वे आपके ही स्वरूप हैं, रूपान्तरमात्र हैं। जिसमें, जिस निमित्तसे, जिसके द्वारा, जिसके लिये, जिस हेतुसे, जो कुछ कार्य, पुरुष करता है वह सब आपहीका स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं। हे अज! आपकी अनुमतिसे ही आपके अंश, पुरुषके मनको आपकी माया उत्पन्न करती है। आपकी माया, कालचक्रसे प्रेरित होकर ही मनको उत्पन्न करती है। वह मन कर्ममय, बलवान्, दुर्जय और वेदोक्त कर्मप्रधान मायाके वशीभूत होकर उसके भोगके लिये षोडशविकाररूपी आरोंवाला संसार चक्रात्मक है और बड़ा ही दुस्तर है अतएव आपसे पृथक् रहकर अर्थात् आपको न भजते हुए—दास्यभावसे रहित उस बली मनको कौन नियन्त्रित कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं। हे नाथ! आप अपने परम धामकी चित्‌रूपी शक्तिसे सदा विजयी हैं। आपने अपने बुद्धिगुणको विजय किया है और मायाप्रेरित कालके कार्योंको अपने वशमें रखा है। अतएव जैसे ईख पेरते समय किसान उसको खींचता है उसी प्रकार आप मुझको अपनी ओर खीचें। यदि आप कहें कि संसारसे क्यों इतना घबड़ाते हो, अपने पिताका राज्य भोगो और लोकपालोंके भोगोंका भोग करो, तो यह ठीक नहीं। मैंने देखा है कि जिन लोकपालोंके ऐश्वर्य, सम्पदा, विभव, आयु आदि मेरे पिताके प्रसन्न होनेसे बनते और क्रोध करनेसे क्षणभरमें बिगड़ते थे, उनके भोग कुछ भी नहीं हैं। जिन हमारे पिताजीके ये सब अधीन थे, आपने क्षणभरमें ही उनको नष्ट कर दिया है। अतएव मैं सब जान-बूझकर भी उस काल-कवलित ब्रह्मादि देवताओंसे लेकर साधारण जनके भोगोंको भी नहीं चाहता। मैं तो केवल आपकी दासता चाहता हूँ। कृपया आप मुझे अपने समीप बुलाइये। कहाँ तो कानोंको सुख देनेवाले मृगतृष्णाके समान आशीर्वचन और कहाँ अशेष रोगोंका उद्भव स्थान यह शरीर। फिर भी बड़े-बड़े विद्वान् भी इस संसारमें कामनासे विरत नहीं होते।

यह भी आपकी मायाका जाल ही है। बड़े-बड़े विद्वान् कामरूपी दावानलको नाममात्र के सुखविन्दुसे शमन करनेमें व्यग्र हैं और आपकी शरणागतिके लिये अवकाश नहीं पाते। यह भी एक आश्चर्यमयी आपकी माया ही है और कुछ नहीं।

हे नाथ! कहाँ रजोगुणसे इस तामसप्रधान असुरकुलमें मेरा जन्म और कहाँ आपकी यह परम कृपा? जिस करकमलको आपने ब्रह्माजीके सिरपर कभी नहीं रखा, महादेवजीके सिरपर भी नहीं रखा और न जगन्माता साक्षात् रमाके ही मस्तकपर रखा है, उसी करकमलको प्रसन्नतापूर्वक आप मेरे सिरपर फेरते हैं, इससे अधिक कृपा और क्या हो सकती है? यद्यपि अपने-परायेकी बुद्धि जैसी मनुष्योंमें होती है वैसी आपमें नहीं है। आप तो सारे संसारके अहैतुक हितू हैं, तथापि आप पर-अवर-बुद्धिसे नहीं, कल्पवृक्षके समान सेवाके अनुसार शुभ फल देते हैं, इसमें सन्देह नहीं। हे भगवन्! आपके परम भक्त महर्षि नारदजीने संसाररूपी महासर्पसे ग्रसित भव-कूपमें परितप्त मुझको अपनी कृपासे कृतार्थ किया है—अपनाया है, फिर मैं कैसे आपके दासोंकी सेवाका परित्याग करूँ? हे अनन्त! आपने अपने भक्त नारदजीके वचनोंको सत्य करनेके लिये पिताजीको मार कर मेरे प्राणोंकी रक्षा की है। जिस समय असाधु-बुद्धिसे मेरे पिताजीने तलवार लेकर मुझसे कहा कि बतला, तेरी रक्षा करनेवाला मेरे अतिरिक्त कौन ईश्वर है? यदि नहीं बतलावेगा तो अभी तेरा सिर काट लेता हूँ; उसी समय आपने उनको मारकर मेरे प्राणोंकी रक्षा की है। मेरे ही क्या, इस सारे जगत्के एकमात्र आप ही रक्षक हैं, इसके आदिमें उत्पन्न करनेवाले, अन्तमें नाश करनेवाले और मध्यमें रक्षा करनेवाले एकमात्र आप ही हैं। आप ही अपनी मायासे इस विश्वको रचकर, इसके गुणोंसे प्रतीत होते हैं और उसके पश्चात् इसके एक-एक अंशमें भी आप ही प्रविष्ट हैं। हे ईश्वर! जगत्में सत् आप हैं और असत् भी आप ही हैं। अपनी और परायी वस्तुओंकी बुद्धि जिस समय उत्पन्न होती है, उस समय आपहीकी मायाकी लीला रहती है। विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश आपकी लीला है। जिस प्रकार सभी वस्तुओंके उत्पन्न होनेके समय बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीजकी उत्पत्ति अन्योन्याश्रयरूपसे होती है, उसी प्रकार संसाररूपी वृक्षके बीजरूप और आपके विराट्रूपका यह संसार बीजरूप है। जिस समय महाप्रलयकाल आता है, आप उस समय इस विश्वको जलमें रखकर योगदृष्टिसे नेत्रोंको बन्दकर शयनद्वारा आनन्दका अनुभव करते हैं। तुरीयावस्थामें प्राप्त होकर

सारे गुणोंका संसर्ग छोड़ शयन करते हैं। हे स्वामिन्! उसी समय अपनी माया-शक्तिसे प्रेरित आपके इस लीलामय शरीरसे आत्मामें छिपे हुए कणुकाके समान वट-सदृश महाकमलकी उत्पत्ति हुई और आप शयनसे जागे। उसी कमलसे ब्रह्माजी हुए और उन्होंने उस समय आपके अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं देखा। वे सौ वर्षोंतक इस बातकी चिन्ता करते रहे कि यह कमल कैसे उत्पन्न हुआ? बिना बीजका यह वृक्ष कहाँसे आया? ब्रह्माजीने विस्मयको त्यागकर तप किया और तीव्र तपके प्रभावसे उनको ज्ञान प्राप्त हुआ एवं उनके हृदयके भाव शुद्ध हुए। भावकी शुद्धि होते ही जैसे भूमिमें सुगन्धि उत्पन्न हो जाती है वैसे ही ब्रह्माजीको अपने आत्मामें ही अतिसूक्ष्मभूत इन्द्रिय-अन्तःकरणमें ईश्वरके दर्शन हुए। भगवान्का विराट्रूप ब्रह्माजीने देखा, जिसके हजारों सिर, हजारों चरण, हजारों हाथ, हजारों ऊरू और हजारों मुख, नाक, कान, आभरण एवं आयुध दिखलायी पड़े। ऐसे मायामय स्वरूपको, जो साधुओंको योगदृष्टिसे देख पड़ता है, ब्रह्माजीने आपकी कृपासे देखा और वे परम आनन्दको प्राप्त हुए। इतना ही नहीं, आपने ब्रह्माजीपर यह भी अनुग्रह किया कि हयग्रीव-अवतार धारणकर वेदद्रोही महाबलवान् मधु-कैटभ नामक दैत्योंको मारकर वेदोंको लाकर ब्रह्माजीको दिया। उस समय सत्त्व, रज, तम-प्रिय आपके शरीरके प्रति सब लोगोंने प्रणाम किया था। इसी प्रकार मनुष्य, पशु, ऋषि, देवता तथा जलचरके शरीरमें अवतार धारणकर समय-समयपर आप जगत्के नाश करनेवाले असुरों और मनुष्योंको मारते हैं। हे महापुरुष! आप सदैव सनातनधर्मकी और कलि-प्रभावसे लुप्तप्राय धर्मकी रक्षा करते हैं तथा युग-युगमें सदा सत्त्वावच्छिन्नरूप धारण करते हैं। हे वैकुण्ठनाथ! यह पापी, दुष्ट, असाधु एवं तीव्र गतिवाला चञ्चल मन, आपकी कथामें कभी लगता नहीं। कामातुर हो हर्ष, शोक, भय आदिकी दृष्टिसे सदा दुःखी रहता है। ऐसे मनसे मुझ-जैसा नादान पुरुष आपकी गतिको कैसे जाने? हे अच्युत! रस-विषयमें लीन यह जिह्वा सदैव अतृप्त रहती हुई मुझे न जाने कहाँ खींचे ले जा रही है। शिश्न विषयकी ओर खींचता है, त्वचा अपनी ओर ले जा रही है, उदर न जाने कहाँ ले जा रहा है, कान शब्दकी ओर, नाक घ्राण-विषयकी ओर और दृष्टि सुन्दर रूपकी ओर खींच रही है। सभी कर्म-शक्तियाँ जीवको अपनी-अपनी ओर खींच रही हैं। जिस प्रकार अनेक स्त्रीवाले पुरुषको सब स्त्रियाँ सौतियाडाहसे अपनी-अपनी इच्छा-पूर्तिके लिये कष्ट देती हैं, उसी प्रकार इस जीवको

ये सारी इन्द्रियाँ सताती हैं। इस प्रकार अपने कर्मोंसे संसाररूपी वैतरणी नदीमें पड़ा हुआ यह जीव, अनेक जन्म लेता, मरता, खाता, डरता, डराता एवं अपने-परायेसे मैत्री-वैर करता हुआ, मूढ़ताको प्राप्त हो रहा है। ऐसे इस मूढ़ जीवका हे भगवन्! यदि आप ही उद्धार करें, तो हो सकता है। संसारकी उत्पत्ति, पालन एवं नाशके आप ही कारण हैं। अतएव आपको इस मूढ़ जीवके उद्धार करनेमें अधिक परिश्रम नहीं हो सकता। हे आर्तबन्धो! आप तो सदा ही मूढ़ोंपर, भोले-भाले जीवोंपर बड़ी ही कृपा करते हैं, फिर जो आपकी सदा सेवा करते हैं, आपके भक्त हैं उनपर कृपा करें तो कौन-सी आश्चर्यकी बात है? हे परमेश्वर! आपके चरित्रगानरूपी महा अमृतमें मग्न मैं अपने लिये इस दुरत्यय वैतरणीसे नहीं डरता, किन्तु जो मनुष्य आपके चरणारविन्दसे विमुख हैं और माया-मोहित हो इन्द्रियोंके सुखके लिये सांसारिक भार उठा रहे हैं, उन मूढ़ोंके लिये मैं सोच करता हूँ। हे भगवन्! यदि आप कहें कि तू अपनी मुक्तिको ग्रहण कर, इन सब सांसारिक प्राणियोंको तत्त्वज्ञ मुनि लोग उपदेश देकर मुक्त करावेंगे सो ठीक नहीं। क्योंकि प्राय: देखा जाता है कि मुनिगण मुक्ति प्राप्त करनेके लिये निर्जन वनमें जाकर मौनव्रत धारण करते हैं और दूसरे पुरुषोंको उपदेशद्वारा उद्धार करनेकी निष्ठा नहीं रखते। अतएव इन मूढ़ प्राणियोंके उद्धारके लिये आपके अतिरिक्त कोई दूसरा शरण नहीं है। इनको छोड़कर मैं अकेला मोक्ष नहीं चाहता। यदि आप कहें कि ये सांसारिक प्राणी स्त्री-सुखादिसे सुखी हैं, दु:खी और कृपण नहीं हैं तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार एक हाथकी खुजलीको दूसरे हाथसे खुजलानेसे वह और भी बढ़ती है—घटती नहीं, उसी प्रकार ये मैथुनादि सुख गृहस्थोंके लिये तृप्तिकारक नहीं, लिप्सकारक हैं, अतएव ये सांसारिक जीव सुखी नहीं, कृपण और दु:खी हैं। कामादि सुखको खुजलीके समान ही लोग—विद्वान् लोग सेवनसे बढ़नेवाला रोग जानते हैं।

हे नाथ! मौनव्रत, श्रुत, तप, अध्ययन, स्वधर्म, धर्मव्याख्या, एकान्तमें ध्यान, जप और समाधि—ये सभी कर्म मोक्षके साधन हैं। किन्तु इन सत्कर्मोंके करनेवालोंकी अजितेन्द्रिय लोग हँसी करते हैं। दम्भी लोग उनकी नकल करते हैं और अच्छे लोग उनकी प्रशंसा करते हैं। आपके अरूपी सत् और असत् रूप, वेदके द्वारा रचे गये हैं और बीजाङ्कुरके समान अन्योन्याश्रय हैं। योगिजन दोनों ही रूपोंको ढूँढ़ते हैं और

योगदृष्टिसे प्रत्यक्ष देखते हैं। जिस प्रकार वे अरणिकासे अग्नि निकालते हैं उसी प्रकार आपमें आपको प्रकट करके देखते हैं। हे भूमन्! वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल—ये पञ्च महातत्त्व और इनकी मात्राएँ, प्राण, इन्द्रियाँ, हृदय, चित्त और अनुग्रह यह जो कुछ सगुण-निर्गुण है तथा मन-वचनद्वारा जो कुछ जाना एवं कहा जा सकता है, वह सब आप ही हैं—आपसे भिन्न संसारमें कुछ भी नहीं है। हे उरुकाय! ये सब गुण-अवगुण एवं महदादि तथा मनुसे लेकर देव, मनुष्यपर्यन्त सब आपहीको मानते हैं, इसी विचारसे बुद्धिमान् जन, शब्दमात्रके उच्चारणसे, केवल शास्त्रज्ञानसे विरामको प्राप्त होते हैं। हे पूज्यतम! इसी कारण आपको नमस्कार, आपकी स्तुति, आपकी पूजा, आपका स्मरण, आपकी कथाका श्रवण और आपको आत्मसमर्पण इस षडङ्गभक्ति बिना उत्तम गतिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये परमहंसकी गतिमें ही लोग इस परमोत्तम भक्तिको प्राप्त होते हैं।

प्रह्लादजीकी स्तुतिके अन्तिम भागका वर्णन स्व० बा० बान्धवेश महाराज रघुराजसिंहजीने कवितामें किया है—

छन्द चौपैया

नभ अनल समीरा धरनी तीरा इंद्रिय मन अरु प्राना।
गुण बिगुणहु जेते मन बचनेते सबमें तुम भगवाना॥
सुर नर मुनि जेते विनशहिं तेते जनमहि पुनि जग माँहीं।
विधि आदि सुरेशा शेष महेशा तुमको जानत नाहीं॥
यह गुनि मन संता बैठि एकंता तजहिं तुरत संसारै।
करि भक्तिहि रीती तुव पद प्रीती तुव पुन आशु सिधारै॥
यह सरल उपाई अति सुखदाई केहु के मन नहिं आवै।
ताते जग जीवा लहि दुख सीवा मंगल कतहु न पावै॥
प्रभु तुव पदबंदन सब दुख-द्वंद्वन अस्तुति तुव सुखदाई।
पूजनहु तिहारो अति अघहारो पद शुचिप्रद शुचिताई॥
तव कथा सुहावनि प्रीति बढ़ावनि कलि-कलमष की हरनी।
भव पारावारा अतिहि अपारा ताकी तारन तरनी॥

दोहा

ये षट्विधि सेवन बिना, कैसेहु भक्ति न होइ।
ताते कीजे मोहि निज, दास दुरित सब धोइ॥

इस प्रकार अपने भक्त प्रह्लादजीकी विस्तृत स्तुति सुनकर भगवान् नृसिंहजीने अपना तेजोमय विकराल रूप सौम्य एवं मनोहर कर लिया और बारम्बारकी घोर गर्जनाको बन्द कर मधुर वाणीसे कहा—'हे प्रह्लाद! हे भद्र! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। हे असुरोत्तम! तुमको जो अभीष्ट हो वही 'वर' माँगो। मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा।' भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर भी परमभागवत प्रह्लादने कोई वर नहीं माँगा। उन्होंने कहा—'भगवन्! मैंने कामनाओंसे पिण्ड छुड़ानेहीके लिये आपके चरणोंकी शरणागति की है। फिर भी आप मुझे उसी कामनाके बन्धनमें बाँधना चाहते हैं, यह बड़े अचरजकी बात है। अवश्य ही आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं, किन्तु वस्तुतः आप ऐसा कभी करेंगे नहीं, क्योंकि आप दयानिधि हैं। आप अवश्य ही मुझपर दया करेंगे और इस कामनामय संसारके बन्धनसे मुझे छुड़ावेंगे। हे नाथ! जो दास अपने स्वामीसे सेवाका बदला चाहता है वह दास दास नहीं, पूरा बनिया है और जो स्वामी अपने दाससे सेवा करवाकर उसको कुछ देकर टालनेकी इच्छा करता है, वह स्वामी भी स्वामी कहलानेयोग्य नहीं है। भगवन्!—

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥

दोहा

तुम अकाम मम नाथ हौ, मैं अकाम तव दास।
लोभी चाकर स्वामि सम, मैं तुम नहिं युत आस॥

इतनेपर भी यदि आप मुझको वर माँगनेकी ही आज्ञा देते हैं, तो मैं आपकी इस आज्ञाका पालन करता हूँ, इस दशामें मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि **'कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्'** हे नाथ! मेरे हृदयमें कभी किसी वस्तुकी कामनाका अङ्कुर ही पैदा न हो। क्योंकि जैसे ही मनमें कामना उत्पन्न होती है, वैसे ही इन्द्रियाँ, मन, प्राण, आत्मा, धर्म, धृति, मति, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य नष्ट हो जाते हैं और जैसे ही कामनाको मनुष्य अपने मनसे निकाल फेंकता

है वैसे ही वह भगवान्‌की कृपासे अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है। अत: मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे मनमें कभी वरकी इच्छा ही उत्पन्न न हो!

नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने।
हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने॥

अर्थात् 'हे भगवन्! आपको मेरा नमस्कार है। परब्रह्म परमात्माको मेरा नमस्कार है। आपके इस अद्भुत सिंहरूपी मूर्तिको और इस महापुरुष स्वरूपको मेरा बारम्बार नमस्कार है।' प्रह्लादजीने इतना सब कुछ कहनेके पश्चात् भगवान्‌के बारम्बार कहनेपर एक वर माँगा, वह यह कि 'हे नाथ! मेरे पिताजीने आपको अपने भाईके मारनेवाला कहकर जो आपका अपमान किया है, आपके ईश्वरत्व-तेजकी जो निन्दा की है और मुझे आपके भक्त होनेके कारण जो सताया है, इन सब पापोंसे मेरे पूज्यपाद पिताजीको आप मुक्त कर दें।'

प्रह्लादजीके वचनोंको सुनकर भगवान् नृसिंहजी बड़े ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि 'तुम-जैसे परमभागवतके लिये कामनारहित होना ही ठीक है। इसीसे तुम कोई वर नहीं माँगते। किन्तु मैं तुमको अपनी ओरसे यह वर देता हूँ कि इस चाक्षुष मनुके समयतक तुम अक्षय राज-सुख भोगो और अन्तमें मेरे पदको प्राप्त होओ। अपने पिताजीके विषयमें तो तुमको सन्देह ही न करना चाहिये। क्योंकि तुम-जैसे परमभागवत जिस कुलमें उत्पन्न होते हैं, उस कुलके इक्कीस पुरुष पवित्र हो जाते हैं। फिर तुम्हारे पिताकी तो बात ही क्या है। वे तो मेरे हाथों मृत्युको प्राप्त हुए हैं।'

भगवान् श्रीनृसिंहजीको प्रसन्न जान महालक्ष्मीजी भी उनके निकट जा विराजीं। तदनन्तर देवता, यक्ष, गन्धर्व आदि सभी लोग उनकी स्तुति करने लगे। सबसे पहले ब्रह्माजीने कहा—'भगवन्! आपका यह अद्भुत रूप हमलोगोंने कभी नहीं देखा था। हमलोग इस रूपको देखकर स्तम्भित हो गये थे। नाथ! प्रह्लादके सम्बन्धसे देवताओंके प्रबल शत्रु दैत्यराजका आपने वधकर संसारमें सुख-शान्तिकी स्थापना की है। अत: यह समय बड़े आनन्दका है। भगवन्! आपके चरणोंमें बारम्बार हमारा प्रणाम हैं।'

शिवजी— 'स्वामिन्! आज तो आपने पूरा प्रलय-कालका-सा दृश्य ही उपस्थित कर दिया था। दैत्यराजका नाशकर आपने जो देवताओंका सङ्कट काटा

है उसका सबसे अधिक श्रेय परमभागवत प्रह्लादहीको है। अतः हम उनको अन्तःकरणसे आशीर्वाद देते हैं।'

देवराज इन्द्र— 'दीनबन्धो! अशरण-शरण! नाथ! आपने प्रबल प्रतापी असुर हिरण्यकशिपुका वध करके हम देवताओंकी रक्षा की है। इसके लिये आपके चरणोंमें मेरा बारम्बार साष्टाङ्ग प्रणाम है। भगवन्! दैत्यराजके वधमें प्रह्लादकी अविचल भक्ति ही मुख्य कारण है।'

महर्षि नारद— 'हे भक्तवत्सल! आपने दैत्यराजको मारकर परमभागवत प्रह्लाद तथा अन्यान्य भागवतोंके धर्म और प्राणोंकी रक्षा की है। इसके लिये आपके चरणोंमें मेरा सादर प्रणाम है।'

प्रजापति— 'हे नाथ! हमलोगोंने आपकी आज्ञासे जो सृष्टि की थी, उसको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाला दैत्यराज आज आपकी कृपासे स्वयं नष्ट हो गया है। यह बड़े आनन्दकी बात है।'

गन्धर्व— 'हे विभो! हमलोगोंको जो दैत्यराज बलात् अपने अधीन रख नचाता-गवाता तथा तंग किया करता था, उसकी आपने यह दशा की। इसके लिये हमलोग आपके चरणकमलोंमें कोटिशः साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं।'

पितर— 'हे नरहरि! जिस दैत्यराजने अपने बलसे सारे संसारके पुत्रोंके दिये हुए पिण्डदान और तिलाञ्जलिको अपने पेटमें भर लिया करता था, उसका आपने पेट फाड़ डाला है। इस कारण हमलोगोंको बड़ा आनन्द है। अतएव आपके चरणोंमें हम बारम्बार प्रणाम करते हैं।'

नाग— 'भगवन्! जिस पापी दैत्यने हमारी स्त्रियों और रत्नोंको हर लिया था, आज उसका हृदय विदीर्ण करके आपने जो हमलोगोंको आनन्द प्रदान किया है इसके लिये आपको हम बारम्बार प्रणाम करते हैं।'

इसी प्रकार ऋषिगण, सिद्धगण, विद्याधरगण, मनु,चारणगण, यक्षगण, किंपुरुष, वैतालिक, किन्नरगण तथा विष्णुपार्षदोंने भी भगवान्‌की स्तुति की और परमभागवत प्रह्लादजीको आशीर्वादपूर्वक मनोवाञ्छित वर अर्थात् भगवान्‌की अविचल भक्ति सदा बनी रहनेका वर प्रदान किया। भगवान् नृसिंहजी महाराजकी आज्ञासे ब्रह्मादि देवताओंने तथा महर्षियोंने प्रह्लादजीको दैत्यराजके राजसिंहासनपर अभिषिक्त कर उनको दैत्योंका अधीश्वर बनाया। पद्मपुराणमें कहा है कि—

ततो देवगणैः सार्द्धं सर्वेशो भक्तवत्सलः।
प्रह्लादं सर्वदैत्यानां चक्रे राजानमव्ययम्॥
आश्वास्य भक्तं प्रह्लादमभिषिच्य सुरोत्तमैः।
ददौ तस्मै वरानिष्टान् भक्तिं चाव्यभिचारिणीम्॥

अर्थात् 'स्तुतियोंके पश्चात् देवगणसहित भक्तवत्सल भगवान्‌ने अनेक ज्येष्ठ भ्राताओंके होते हुए भी समस्त दैत्यसाम्राज्यके राजसिंहासनका स्वामी प्रह्लादहीको बनाया और उनको आश्वासन देकर उनका राज्याभिषेक भी किया तथा अनेक वरोंके सहित उनकी मनोवाञ्छित अपने चरणोंकी अविचल भक्ति भी दी।'

इतना सब हो जानेपर भगवान् नृसिंहजीने ब्रह्माजीसे कहा—'आप अब भविष्यमें कभी किसी दैत्यको ऐसा वर न दें। क्योंकि सर्पको दूध पिलानेसे विष ही तो बढ़ता है।' ब्रह्माजीने यह आज्ञा शिरोधार्य की और भक्तवत्सल भगवान् अपने वात्सल्यरसकी महिमा दिखलाकर अन्तर्धान हो गये। इसी कथाके प्रसङ्गका माहात्म्य श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार लिखा है—

य एतत्पुण्यमाख्यानं विष्णोर्वीर्योपबृंहितम्।
कीर्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा कर्मपाशैर्विमुच्यते॥
एतद्य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलां
दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यं
श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम्॥

अर्थात् 'जो मनुष्य भगवान् विष्णुकी प्रभुतापूर्ण इस पुण्यकथाको सुनते अथवा कहते हैं वे संसारके कर्मरूपी बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। इस आदिपुरुष भगवान् नृसिंहजीकी लीलाको तथा दैत्यराजके वधकी कथाको जो मनुष्य नित्य पढ़ते हैं और परमभागवत प्रह्लादजीके पुण्यप्रद उपाख्यानको सुनते हैं उनको लोकमें किसी प्रकारका कोई भय नहीं रहता।'
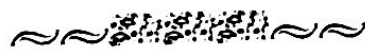
छब्बीसवाँ अध्याय

प्रह्लादका गार्हस्थ्यजीवन

पिताका साम्परायिक कर्म, विवाहोत्सव और राज्याभिषेकोत्सव

भगवान्के अन्तर्धान हो जानेपर ब्रह्मादि देवतागण भी अपने-अपने स्थानको चले गये और सुरराज इन्द्र तथा सब-के-सब दिक्पाल प्रह्लादके प्रति स्नेहमयी कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपने-अपने पदोंपर जा विराजे। इधर ये लोग अपने-अपने स्थानोंको गये और उधर महर्षि शुक्राचार्य तथा अन्यान्य ऋषि,मुनिगण और प्रह्लादजीके दोनों गुरु शण्ड एवं अमर्क भी दैत्यराजका वध सुनकर वहाँ जा पहुँचे। दैत्यराजके साम्परायिक कर्मकी तैयारी होने लगी और विधवा राजमाता कयाधू अपने प्राणपतिके वियोगमें व्याकुल हो पतिके शवके साथ सती होनेको तैयार हुईं। उस समय मातृभक्त प्रह्लादकी दशा बड़ी ही शोचनीय थी। वे कुछ बोलनेका साहस नहीं करते थे। अपने ही कारण पिताकी मृत्यु होनेके कारण प्रह्लादजी माताके सामने जानेमें बड़े ही सकुचा रहे थे। प्रह्लादजी ज्ञानी थे, विद्वान् थे, संसारको असार समझते थे और जीवन्मुक्त थे, किन्तु माताकी स्नेहमयी मूर्तिको विलपते देख, वे बहुत ही दुःखी थे। लौकिकरूपमें वे समझते थे कि माताके वैधव्यका कारण मेरा ही शरीर है। अतएव वे लज्जित थे और माताके सामने जानेका साहस नहीं करते थे।

शुक्राचार्यजीने उनके आन्तरिक भावोंको भलीभाँति समझकर विधवा राजमाता कयाधूको समझाया और कहा—'बेटी! शोक मत कर, भावी बड़ी प्रबल होती है। जो अनिवार्य था, वह हो गया! तेरे ये पुत्र तुझको दुःखित देख दुःखी हो रहे हैं और तेरा प्राण प्रह्लाद तो अत्यन्त ही व्याकुल है। तू सावधान हो और अपने पतिदेवके साम्परायिक कर्म करानेके लिये पुत्रोंको उत्साहित कर। इस

समय तेरा सती होना उचित नहीं। तू राजमाता है और आज प्रह्लादका समावर्तन-संस्कार ऐसे अवसरपर हो रहा है कि जो संस्कारके रूपमें नहीं, एक आपत्तिधर्मरूपमें है। उसके विवाहके पहले तेरा संसारसे विदा होना उसके गार्हस्थ्यधर्ममें बड़ा बाधक होगा। अवश्य ही तू अपने प्राणपतिकी अनन्य भक्ता है, अत: पतिदेवकी अनुगामिनी बनना तेरे लिये स्वाभाविक ही है। किन्तु तू जैसी पतिव्रता है वैसे ही पुत्रवत्सला भी तो है। यह सनातन प्रथा है कि पुत्रवत्सला माताएँ '**आत्मा वै जायते पुत्र:**' को मानकर पतिदेवका चिन्तन करती हुई जीवित रहकर अपना पवित्र जीवन ब्रह्मचर्यसे बिताती हैं। इस समय धैर्य धारण करके तू शोकको दूर कर और अपने प्राणप्रिय पुत्र प्रह्लादकी ओर देख। उसको दु:खी छोड़ तुझको सती होना उचित नहीं है।

राजमाता कयाधू— 'भगवन्! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, किन्तु क्या करूँ? व्याकुल हृदय नहीं मानता। चित्त यही चाहता है कि जिन प्राणपतिके आज्ञानुसार मैं सदा रहती थी, जो प्राणपति मुझे अपनी हृदयेश्वरी मानते थे, आज वे अपने सारे राजपाट, सारे परिजन एवं पुरजनको छोड़, अकेले सुदूर यात्राको जा रहे हैं, नियमानुसार उनकी सेवाके लिये मैं ही उनकी अनुगामिनी हो सकती हूँ, फिर भी मैं यदि उनको छोड़ संसारके बन्धनमें पड़ी रहूँगी तो मेरा कर्तव्य पूरा न होगा और मैं सती कैसे कहलाऊँगी? आचार्यप्रवर! आप मुझे आज्ञा दें कि मैं प्राणप्रिय पुत्र प्रह्लादका स्नेह हृदयमें रखती हुई अपने स्वामीकी सहगामिनी बननेके लिये सती हो जाऊँ। प्रह्लादको आप समझा दें। वह शोक न करे और मेरे लिये, स्वामीके साथ सती होनेका उपकरण ठीक करा दे।'

शुक्राचार्य— 'राजमाता, बेटी कयाधू! हम तेरे हृदयको भलीभाँति जानते हैं। जो कुछ तूने कहा है, शास्त्र और लोककी मर्यादाके सर्वथा अनुरूप है, किन्तु हमारी इस आज्ञाके पालनमें भी शास्त्र और लोककी मर्यादा नहीं बिगड़ती। एक ओर हमारी आज्ञा और शास्त्र-लोककी मर्यादा है और दूसरी ओर शास्त्र-लोककी मर्यादा तथा तेरा हार्दिक दु:ख है। अतएव तुझे जो अच्छा प्रतीत हो वही कर। दु:खित प्राणीको अपने विवेकका ज्ञान नहीं रह जाता। अतएव यदि तू हमारी आज्ञाका पालन करेगी तो तेरा दोनों ही लोकमें कल्याण होगा।'

शुक्राचार्यजीकी आज्ञा मान माता कयाधूने सती होनेका विचार त्याग दिया। प्रह्लादजीने माताकी आज्ञासे बड़े उत्साह एवं समारोहके साथ वैदिक विधिसे अपने

पूज्यपाद पिता दैत्यराजका साम्परायिक कर्म किया। साम्परायिक कर्ममें सभी असुरोंने और विद्वान् ब्राह्मणोंने भाग लिया। इस प्रकार दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी अन्त्येष्टि क्रियाके साथ-साथ उनकी अन्तिम कथा भी समाप्त हुई।

यद्यपि भगवान् श्रीनृसिंहजीके सहित ब्रह्मादि देवताओंने हिरण्यकशिपुके वधके समय ही प्रह्लादका राज्याभिषेक कर दिया था और वे नियमानुसार राजकाज चलाने लगे थे तथापि विधिपूर्वक राज्याभिषेक होना तथा राज्याभिषेकका महोत्सव मनाना शेष था। यद्यपि प्रह्लादजी गुरुकुलमें शिक्षा समाप्त करके समावर्तित हो अपने घर आ गये थे तथापि उनका सविधि गार्हस्थ्य-धर्मका गृहस्थाश्रमका आरम्भ विवाह न होनेके कारण अभी नहीं हुआ था। अतएव शुक्राचार्य, मन्त्रिगण तथा महर्षियोंकी सम्मतिसे राजमाता कयाधूने सबसे पहले प्रह्लादजीके विवाहका प्रबन्ध किया। प्रह्लादके विवाहके लिये उनकी ही योग्यताकी कन्याकी खोज होने लगी। किन्तु वैसी कन्या अन्यत्र कहीं नहीं मिली। अन्तमें राजमाताको पता चला कि उनके पतिदेवके बूढ़े मन्त्री वज्रदन्तकी एकमात्र कन्या 'सुवर्णा' बड़ी ही योग्य और सुवर्णा ही नहीं सर्वतोभावसे सुलक्षणा भी है। राजमाताको यह भी सूचना मिली कि जबसे प्रह्लादजीने भगवद्भक्तिका व्रत स्पष्टतया ग्रहण किया था और असुर-बालकोंमें उसका प्रचार आरम्भ किया था, तभीसे सुवर्णा भी हरिभक्तिके साथ-साथ प्रह्लादकी भक्तिमें लीन रहती है और उसकी आन्तरिक इच्छा है कि वह प्रह्लादहीको अपना हृदयेश्वर—प्राणपति बनावे। अन्ततोगत्वा राजमाताने अपने भाई कुम्भनाक आदिकी सम्मति लेकर शुक्राचार्यजीसे विवाह-विधि मिलानेकी प्रार्थना की। आचार्यजीने विधि मिलाकर कहा—'सर्वगुणसम्पन्न मेलापक ठीक है। बेटी! इस विवाहसे वर-वधू दोनोंहीको आनन्द रहेगा।'

महाराज प्रह्लादका विवाह किस धूम-धामसे हुआ, उसमें कितना दान-पुण्य हुआ, इसका कवितापूर्ण वर्णन करना इसलिये व्यर्थ है कि इस छोटे-से ग्रन्थमें उसका पूर्णतया समावेश ही नहीं हो सकता, अतः नाममात्रके वर्णनकी अपेक्षा इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि एक सम्राट्के विवाहमें जितना बड़ा महोत्सव हो सकता है, उतना ही महाराज प्रह्लादके विवाहोत्सवमें भी हुआ, और इस प्रकार उनका विवाह-संस्कार 'सुवर्णा'के साथ हो गया। दोनोंकी समानशीलताके कारण

प्रह्लाद और सुवर्णामें दाम्पत्यप्रेमका आधिक्य होना स्वाभाविक था। अतएव राजाधिराज प्रह्लाद और राजराजेश्वरी सुवर्णा अपना गार्हस्थ्यजीवन सुखशान्तिपूर्वक बिताने लगे।

अब प्रह्लादजीके राज्याभिषेकका विधान और उसका महोत्सव होनेवाला है। इस समाचारसे सारे साम्राज्यमें आनन्द मनाया जाने लगा और राज-दरबारकी ओरसे बड़ी धूम-धामसे तैयारियाँ होने लगीं। राज्याभिषेकका मुहूर्त निश्चित हुआ और धीरे-धीरे वह दिन आ पहुँचा। चारों ओर बाजे बजने लगे, गन्धर्वों और अप्सराओंके सितार, तम्बूरे और नूपुरोंकी ध्वनि सर्वत्र छा गयी। सारे साम्राज्यमें विशेषकर दैत्यर्षिकी परम रमणीय राजधानी 'हिरण्यपुर'में बाजों-गाजों और नाच-गानकी धूम मच गयी। सारा नगर माङ्गलिक वस्तुओं, मनोहर मालाओं और सुगन्धित पुष्पोंसे सजाया गया, एवं स्थान-स्थानपर भाँति-भाँतिके सुगन्धित जलोंसे मार्ग वैसे ही छिड़के गये जैसे वे जलसे छिड़के जाते थे। जिस ओर देखिये, जिस मार्ग और प्रासादको देखिये, वही सुन्दर तोरणोंसे सुसज्जित दिखलायी पड़ता था। दैत्यराजका नगर देवराजकी अमरावतीकी सौगुनी शोभासे संयुक्त दिखलायी पड़ता था। ज्यों-त्यों कर दिनका अवसान और रात्रिका शुभागमन हुआ। रात्रिके समय नगरमें भाँति-भाँतिके प्रकाशवृक्षोंकी सुषमा अनुपम थी। सारा नगर जगमगा रहा था। कल प्रातःकाल राज्याभिषेक होगा, चारों ओर यही चर्चा थी। दर्शकोंकी भीड़से सारा नगर खचाखच भरा था। बड़े-बड़े राजमार्गोंसे लेकर छोटी-छोटी गलियोंतकमें खासी चहल-पहल थी। राज्याभिषेकोत्सवमें योग देनेके लिये और देखनेके लिये साम्राज्यके लोग तो आये ही थे। साथ ही तीनों लोक और चौदहों भुवनके देव, दानव, गन्धर्व आदि भी आये थे। इस महोत्सवमें बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओंसे लेकर तपोधन वनवासी महर्षिगणतक बड़े प्रेम और उत्कण्ठाके साथ राजधानीमें पधारे थे।

राज्याभिषेकोत्सवके पूर्व देवताओंकी आराधनाके लिये जो यज्ञमण्डप बनाया गया था उसमें वैदिक विधिसे देवताओंकी अर्चा-पूजा होते-ही-होते राज्याभिषेकका सुन्दर सुखद मुहूर्त आ गया। ब्रह्मादि देववृन्द, महर्षि शुक्राचार्य आदि विद्वान् तथा ब्राह्मणवृन्दकी उपस्थितिमें अभिषेकका कृत्य आरम्भ हुआ। आरम्भमें महाराज दैत्यर्षि प्रह्लादको सपत्नीक मङ्गल-स्नान कराया

गया, तदनन्तर राजदम्पती सुन्दर पवित्र वस्त्रों तथा आभूषणोंसे अलङ्कृत किये गये। स्नानके पश्चात् स्वस्तिवाचनपूर्वक राजदम्पती अभिषेकके शुभ स्थानमें पहुँचे और वहाँ उपस्थित देवताओं तथा ब्राह्मणोंको दोनोंने साथ-साथ प्रणाम किया। देवताओं और ब्राह्मणोंने आशीर्वाद दिया। राजदम्पतीके यथास्थान बैठते ही वेद-मन्त्रोंके पाठ होने लगे। अन्यान्य आवश्यक कृत्योंके समाप्त होनेपर गुरुवर तथा पुरोहितलोग, समस्त तीर्थोंके जलको वेद-मन्त्रोंद्वारा राजदम्पतीके ऊपर दूर्वामें भिगो-भिगोकर छिड़कने लगे। इस प्रकार अभिषिक्त हो जानेके पश्चात् आचार्य शुक्रजीके सुपुत्र शण्डने महाराज दैत्यर्षि प्रह्लादके मस्तकपर केशरका तिलक किया और स्वयं आचार्यजीने सिरपर रत्नजटित सुन्दर मुकुट रखा और राजदण्ड हाथमें धारण कराया।

इस प्रकार राज्याभिषेक होते ही चारों ओरसे अगणित प्राणियोंके प्रसन्न मुखसे प्रह्लाद और प्रह्लादके प्रभु श्रीहरिके जय-जयकारकी ध्वनिसे आकाशमण्डल प्रतिध्वनित हो उठा। इस राज्याभिषेकसे सारी प्रजाका हृदय प्रसन्न हुआ, सभी सुरासुर प्रसन्न हुए तथा प्रसन्न हुई जननी, जन्मभूमि और सबसे अधिक प्रसन्न हुईं 'राजमाता 'कयाधू'। सारी प्रजा अपनेको दैत्यर्षिके समान राजा पाकर धन्य-धन्य मानने लगी। इस खुशीमें जो दान-पुण्य और धन-धान्य लुटाये गये उनका वर्णन करना लेखनीकी शक्तिके बाहर है। राज्याभिषेकके पश्चात् ब्रह्मादि देवता, महर्षिगण एवं विद्वद्गण महाराज प्रह्लादको आशीर्वादपूर्ण अनेकानेक वरदान देकर अपने-अपने स्थानोंको चले गये।

सत्ताईसवाँ अध्याय

दैत्यर्षि प्रह्लादका शासन

महर्षि शुक्राचार्यकी नीति-शिक्षा,

महर्षि नारदजीका उपदेश

राजसिंहासनपर बैठनेके साथ ही दैत्यर्षि प्रह्लादने जिस संयम और नियमके साथ शासनसूत्रको चलाया, वह परमभागवत प्रह्लादके अनुरूप ही था। दैत्यर्षिके सिंहासनासीन होते ही सारे भूमण्डलमें फिर एक बार सुखद साम्राज्यके प्रभावसे सत्ययुगने अपना सत्ययुगी रूप धारण कर लिया। परलोकवासी हिरण्यकशिपुके आतङ्कपूर्ण शासनकालमें सारी प्रजामें विशेषकर शान्तिप्रिय वैष्णवजनतामें जितना ही अधिक भय, कष्ट, अशान्ति एवं विपत्तियाँ छायी हुई थीं, उतना ही अधिक अभय, सुख, शान्ति और सम्पत्ति दैत्यर्षि प्रह्लादके राजत्वकालमें चारों ओर दिखलायी देने लगीं।

सुशासनकी सुविधाके लिये जितने नये नियमोंके निर्माणकी आवश्यकता होती उतने ही नियम दैत्यर्षि प्रह्लाद अपने राजपण्डितों और तपोधन महर्षियोंसे सम्मति ले और सत् प्रजाजनकी रुचिके अनुरूप निर्माण कराते थे। अतएव उनकी प्रजामें, राजसभामें और धर्मप्राण तपोधन महर्षियोंमें उनके शासनसे पूर्ण शान्ति और सन्तोष फैल गया। राज्यमें जिन प्राणियोंके कारण शान्ति-प्रिय प्रजाजनोंको कष्ट था, दीन-दु:खियोंको त्रास था और निर्दोष धनियोंके धनकी लूट थी—जिन प्राणियोंके अत्याचारसे प्रजाके जान-मालकी या तो हानि हो रही थी या हानि होनेकी सम्भावना थी, उन सब अत्याचारियोंको, चाहे वे राजकर्मचारी थे, राजसम्बन्धी थे या प्रजाजनमेंसे थे, अधिकारच्युत कर दैत्यर्षिने ऐसे आदर्श दण्ड दिये कि जिससे वे तो सदाके लिये शान्त हो ही गये, किन्तु दूसरोंकी भी वैसे कर्म करनेकी वासना नहीं रही।

दैत्यर्षि प्रह्लादके शासनकालमें चारों वर्ण और चारों आश्रमके धर्मोंका ऐसा

सुन्दर पालन होने लगा कि बहुत ही थोड़े कालमें उनके पिताके समयकी धर्म एवं धनहीन प्रजा धर्मप्राण एवं सर्वतोभावसे समृद्धिशालिनी बन गयी। जैसे पिता अपने पुत्रकी भलाईके लिये सोते-जागते रात-दिन चिन्तित रहता है और उसके लिये नित्य नये-नये उपाय किया करता है, ठीक उसी प्रकार दैत्यर्षि प्रह्लाद भी पुत्र-समान अपनी प्रजाकी भलाईमें लगे रहने लगे।

सारे साम्राज्यमें मातृहीन प्रजा अपनी माताके अभावको और पितृहीन प्रजा अपने पिताके अभावको भूल-सी गयी। दैत्यर्षि प्रह्लादने अपनी सभी श्रेणीकी प्रजा, जनता और अन्य प्राणियोंके भी पालन, पोषण, शिक्षण और संवर्धनके लिये ऐसा सुन्दर प्रबंध कर दिया कि किसीको किसी प्रकारकी पीड़ा एवं असुविधा नहीं रही। सब लोग परम प्रसन्न होकर दैत्यर्षिकी जय-जयकार मनाने लगे।

यद्यपि दैत्यर्षिके साम्राज्यमें कोई शासन-सम्बन्धी त्रुटि नहीं थी, तथापि अपने शासन-सम्बन्धी गुप्त समाचारोंको पानेके लिये दैत्यर्षिकी ओरसे अनेक गुप्त दूत केवल इसी कामके लिये रखे गये थे कि वे देखते रहें कि शासनमें कहाँपर क्या त्रुटि है। प्रजामें शासनकी ओरसे असन्तोष तो नहीं है। इतना ही नहीं, उन गुप्त दूतोंको यह भी आदेश था कि वे देखते रहें कि राजाके कार्योंकी कहींपर अनुचित आलोचना तो नहीं हो रही है?

दैत्यर्षि प्रह्लादके शासनमें देशके कला-कौशल, कृषिव्यापार आदि लौकिक विषयोंकी जितनी ही उन्नति हुई उतनी ही उन्नति वेद-वेदाङ्ग, स्मृति-पुराण आदि पारमार्थिक आवश्यक शिक्षाओंकी भी हुई। उनके पिताके समय साम्राज्यमें जितने ही विष्णु-मन्दिरों और वैष्णवोंके पवित्र स्थानोंको तहस-नहस किया गया था, उतने ही अधिक दैत्यर्षि प्रह्लादके राजत्वकालमें नये-नये विष्णु-मन्दिरों और वैष्णवोंके पवित्र स्थानोंका निर्माण और पुराने नष्ट-भ्रष्ट मन्दिरों एवं धर्म-स्थानोंका जीर्णोद्धार हुआ।

इसमें सन्देह नहीं कि निष्कामहृदय दैत्यर्षि प्रह्लादको राजकाजमें रात-दिन लिप्त देखकर कुछ मन्दमति लोग मन-ही-मन कहते थे कि 'जबतक प्रह्लादके हाथमें राज्याधिकार नहीं था, तबतक तो ये बड़ी-बड़ी त्यागकी बातें करते थे और राजपाटको संसारका कठिन बन्धन बतलाया करते थे, किन्तु जबसे स्वयं सम्राट् हुए हैं, तबसे वे वेदान्त और भक्तिकी बातें, वे त्यागके उपदेश और वह मोक्षकी महिमा हवा हो गयी है और राजपाटमें स्वयं ही ऐसे चिपट गये हैं, जैसे

मीठी वस्तुओंमें चींटे चिपट जाते हैं और जीते-जी छोड़ना नहीं चाहते।' लोगोंका यह अनुमान अनुचित भी नहीं था, क्योंकि वे लोग दैत्यर्षि प्रह्लादको अपनी दृष्टिसे देखते थे, अपनी क्षुद्र-बुद्धिके तराजूपर तौलते थे। किन्तु प्रह्लादमें वस्तुतः ऐसी बात नहीं थी। वहाँका रहस्य कुछ और ही था। दैत्यर्षि प्रह्लादके स्वभावमें साम्राज्य-प्राप्तिसे रत्तीभर भी परिवर्तन नहीं हुआ था। ब्रह्मचारी प्रह्लादमें और सम्राट् प्रह्लादमें तनिक-सा अन्तर नहीं पड़ा था। प्रत्यक्षमें जो कुछ अन्तर दिखलायी पड़ता था, वह लोगोंके दृष्टिकोणका दोष था, उनके स्वभावका नहीं। प्रह्लादजी जो कुछ करते थे सो सब भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवत्प्रेरणासे भगवान्‌के लिये ही करते थे।

प्रह्लाद सम्राट् होकर भी पूर्ववत् निरभिमानी थे, शासनदण्डधारी होकर भी प्राणिमात्रके लिये दयानिधान थे और गृहाश्रमी होकर भी परम विरागी थे। वे संसारको पूर्ववत् ही अब भी बन्धन ही समझते थे और उससे स्वयं दूर होने तथा समस्त प्राणियोंको उससे दूर रखनेकी चेष्टा करते थे। वे जो कुछ करते थे सब इसी भावनासे करते थे कि यह संसार हमारे प्रभुका विराट् स्वरूप है। इसके एक-एक अङ्गकी भक्ति करना, एक-एक अङ्गकी सेवा और पूजा करना हमारा धर्म और कर्तव्य है। दैत्यर्षि अपने साम्राज्यका शासन इसी दृष्टिसे करते थे और इसीलिये वे अपने-आपको साम्राज्यके अधीश्वर नहीं, किन्तु साम्राज्यरूपी भगवत्-शरीरके कर्तव्यपरायण सेवक समझते थे और इसी कारण उनके हृदयमें न तो अभिमानका लेश था और न क्रोध आदि छओं शत्रुओंके विकारी भाव ही थे। दैत्यर्षि प्रह्लादके सर्वप्रिय होनेका यही कारण था कि उनको सारा साम्राज्य, अपनी सारी प्रजा समानरूपसे प्यारी थी। वे सचमुच '**समत्वमाराधनमच्युतस्य**'के पुजारी थे।

जो अनवरत चलनेवाला समय दैत्यराज हिरण्यकशिपुके राजत्वकालमें प्रजाजनके काटे नहीं कटता था और '**क्षणमपि यामति यामो दिवसति दिवसाश्च कल्पन्ति**' अर्थात् 'एक क्षण पहरभरके बराबर, पहर दिनके बराबर और दिन कल्पके बराबर भारी प्रतीत होता था।' वही समय दैत्यर्षि प्रह्लादकी अमलदारीमें ठीक उसके विपरीत अर्थात् युगोंका समय दिनोंके समान शीघ्र बीतने लगा। इस प्रकार बहुत काल हो जानेपर भी प्रजाको यही प्रतीत होता था कि प्रह्लादको तो अभी-अभी साम्राज्य प्राप्त हुआ है। ईश्वर करें अभी वे बहुत दिनोंतक शासन

करते रहें। यह सब कुछ था, किन्तु काल तो किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता। उसका चरखा तो किसी समय भी बन्द ही नहीं होता। उसकी गति अनवरत है। वह किसीके मानका नहीं। धीरे-धीरे दैत्यर्षि प्रह्लादको अपने गार्हस्थ्यजीवनका भी आनन्द मिलने लगा और पुत्र-पौत्रादिके सुखका भी समय आ गया। महारानी 'सुवर्णा' उनकी एकमात्र धर्मपत्नी थीं और वे 'एकनारी ब्रह्मचारी' की उक्तिके अनुसार सदा शास्त्र-मर्यादाका पालन करते हुए ब्रह्मचारी रहते थे। महारानी सुवर्णाके गर्भसे प्रह्लादजीके कितने पुत्र हुए, इस सम्बन्धमें लोगोंमें मतभेद है। महाभारतके उद्योगपर्वके ३५ वें अध्यायमें महर्षि सुधन्वाके प्रसङ्गमें जो उपाख्यान है, उससे प्रतीत होता है कि प्रह्लादजीके विरोचन ही एकमात्र पुत्र थे*। पद्मपुराणके अनुसार प्रह्लादजीके चार पुत्र थे—आयुष्मान्, शिवि, वाष्कलि और विरोचन†। इसी प्रकार किसी-किसीके मतसे गवेष्ठि नामक एक पाँचवाँ पुत्र भी था, किन्तु उनका मुख्य पुत्र या यों कहें कि राजवंशधर विरोचन था, इसमें सन्देह नहीं।

दैत्यर्षि प्रह्लादका सारा साम्राज्य उनका परिवार था, सारी प्रजाको वे निज पुत्रवत् प्रेम करते थे फिर भी सांसारिक दृष्टिसे उनको पुत्रोंके जन्मकालमें अवश्य ही आनन्द-मङ्गलोत्सव मनाना पड़ता था और विशेषकर राजमाता कयाधूके सन्तोष और अनुमोदनके लिये। धीरे-धीरे राजकुमार बढ़ने लगे, उनकी शिक्षा-दीक्षाका प्रबन्ध दैत्यर्षि प्रह्लादजीने अपने विचारानुसार ही किया, किन्तु दैत्यवंशका प्रभाव उनके पुत्रोंमें, सभी राजकुमारोंमें विशेषरूपसे भरा था। विद्वान् होनेपर भी राजकुमारोंमें अभिमान था, देव-ब्राह्मण-द्रोह था और आसुरी भाव थे। यद्यपि दैत्यर्षि प्रह्लादके भयसे उनके देव-द्विज-द्रोही भाव प्रकट नहीं होते थे तथापि भीतर-ही-भीतर वे भाव बढ़ते जा रहे थे और साथ ही दृढ़ भी होते जा रहे थे। गुप्तदूतोंद्वारा प्रह्लादजीको अपने पुत्रोंके हार्दिक भाव धीरे-धीरे विदित हुए और इसलिये ब्रह्मण्यदेव—विष्णुके अनन्य भक्त प्रह्लादके हृदयमें एक भारी चिन्ता उत्पन्न हुई। वे

---

*पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत्॥
(महाभा० उ० अ० ३५ श्लो० २८)

† विरोचनश्चतुर्थश्च स बलिं पुत्रमाप्तवान्।
(पद्मपु० सृ० खं० ६)

इस बातकी चिन्ता करने लगे कि पुत्रोंको देव-द्रोही एवं द्विज-द्रोही आसुरी भावसे किस प्रकार बचावें और उनको कैसे सुधारें?

एक दिन दैत्यर्षि प्रह्लाद राजसभामें बैठे हुए थे। इतनेमें द्वारपालने आकर महर्षि नारदजीके पधारनेका संवाद सुनाया। महर्षिका शुभागमन सुन प्रह्लादजीके आनन्दकी सीमा न रही। वे तुरन्त राजद्वारपर जा पहुँचे। महर्षि नारदके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और आगे कर उनको राजसभामें ले गये। राजसभामें महर्षिको अर्घ्य, पादार्घ्य दे उनका सविधि पूजन किया और स्वयं महारानी सुवर्णाने उनकी आरती की। महर्षि नारदजीकी आज्ञासे दैत्यर्षि बैठ गये और महारानी सुवर्णा भी अपने पुत्रोंके सहित बैठ गयीं। सारी राजसभामें प्रसन्नता छा गयी। सब लोगोंने एक स्वरसे सम्राट् प्रह्लादके सहित महर्षि नारदका जय-जयकार किया। सभासदोंके यथास्थान बैठ जाने और जनरवके शान्त हो जानेपर महर्षि नारदजीने कहा—'दैत्यर्षि प्रह्लाद! यद्यपि हमारे आगमनसे तुम बड़े प्रसन्न प्रतीत होते हो, किन्तु तुम्हारी आन्तरिक चिन्ताके भाव छिपानेपर भी छिपते नहीं हैं। यह क्या बात है? तुमको किस बातकी चिन्ता है? जिसको शस्त्रोंके आघातकी चिन्ता नहीं हुई, मतवाले हाथियोंसे कुचले जानेमें चिन्ता नहीं हुई, सर्पोंसे काटे जानेमें चिन्ता नहीं हुई और महागरलके खिलाये जानेपर भी चिन्ता न हुई। बेटा! जिसको प्रासाद और पहाड़ोंकी चोटियोंपरसे गिराये जानेकी चिन्ता न थी, समुद्रमें डुबाये जानेकी चिन्ता न थी, अग्निकी महाचितामें बिठा ले जानेकी चिन्ता न थी और प्रबल पराक्रमी दैत्यराज हिरण्यकशिपुके अचूक खड्ग प्रहारकी भी चिन्ता नहीं थी; वही आज चिन्तित क्यों है? तुरन्त बतलाओ। तुम-जैसे परमभागवतकी चिन्तासे भगवान् स्वयं चिन्तित होते हैं। अतएव मुझे बतलाओ कि तुम्हारी चिन्ताका कारण क्या है?'

दैत्यर्षि प्रह्लाद— 'भगवन्! आप तो अन्तर्यामी हैं और इसी कारण आपको लोग भगवान्का मन कहते हैं। फिर आप मुझसे चिन्ताका कारण पूछते हैं, यही अचरजकी बात है।'

महर्षि नारद— 'राजन्! जिस राजाके राज्यमें गो, द्विज, देवताओंकी यथोचित रक्षा, सेवा और पूजा न होती हो तो उस राजाको चिन्ता करनी चाहिये। जिस राज्यमें दीन-हीन प्रजाको मदान्ध बलशाली लोग सताते हों और उनको यथोचित दण्ड देनेका विधान न हो, उस राज्यके स्वामीको चिन्ता होनी चाहिये। जिस राजाके

शासनमें पक्षपात किया जाता हो, समत्वभाव न हो उसको चिन्ता होनी चाहिये। जिस राजाके साम्राज्यमें नदियाँ जलपूर्ण न हों, सरोवरोंमें जल न भरा हो, वापी और कूप स्थान-स्थानपर आश्यकतानुसार न बने हों, तथा किसानोंको खेतीके लिये, पशुओंको स्वतन्त्र विचरणके समय पीनेके लिये, नगरनिवासियों, ग्रामनिवासियों और वनयात्रा करनेवाले बनजारोंके लिये ही नहीं, समस्त यात्रियोंके लिये भी मार्गोंमें सुजलका प्रबन्ध न हो, उस राजाको चिन्ता करनी चाहिये, जिस राजाकी अधिकृत भूमिमें लँगड़े-लूले, अन्धे, अपाहिज और भाँति-भाँतिके पीड़ित रोगियोंके भरण-पोषण एवं औषधादिकें लिये सुचारुरूपसे प्रबन्ध न हो, उस राजाको चिन्ता करनी चाहिये। जिस राजाके शासनके भयसे चारों वर्ण और चारों आश्रमका धर्म यथावत् पालन न होता हो और वर्णविप्लव अथवा आश्रमविप्लव उपस्थित हो, उस राजाको चिन्ता करनी चाहिये। जिस राजाके राज्यमें महर्षिगण अधिकारानुसार बालकोंको अपने-अपने आश्रमोंमें शिक्षा न देने पाते हों और यज्ञानुष्ठान आदि करनेमें कठिनाई अथवा बाधाएँ उपस्थित होती हों, उस राजाको चिन्ता करनी चाहिये। परमभागवत प्रह्लाद! जिस राजाके राज्यमें बालकोंमें नास्तिकताके भाव जग रहे हों और उनके शिक्षकोंका उनके ऊपर प्रभाव न हो, उस राजाको चिन्ता करनी चाहिये। और जिस राजाके हृदयमें सर्वव्यापी परमात्माके ऊपर विश्वास न हो परन्तु जो स्वयं अपने पुरुषार्थपर भरोसा करता हुआ, अपनी त्रुटि देखे, उसको ही चिन्ता करनी चाहिये। हम नहीं जानते कि तुमको इन बातोंमेंसे किस बातकी चिन्ता है?'

प्रह्लाद— 'ऋषिराज! आपने प्रश्नके रूपमें मुझे जो उपदेश दिया है इसके लिये मैं आपके चरणोंमें बारम्बार प्रणाम करता हूँ। भगवन्! आपके उस समयके उपदेशने, जब कि मैं गर्भमें था, मुझे घोर सङ्कटरूपी समुद्रमें दृढ़ नौकाका काम दिया था और उन्हीं उपदेशोंके फलसे मेरा यह नारकीय-जीवन स्वर्ग ही नहीं, परमपदके सुखका अनुभव कर रहा है; किन्तु राजकाजके मायाजालमें पड़—भगवान्‌की मायावश उस उपदेशका कुछ विस्मरण-सा हो रहा था। अतएव मैंने अपने पुत्रोंके आसुरी भावोंको मिटानेमें अपने पुरुषार्थका आश्रय लिया और उसमें असफलता देख मेरे हृदयमें चिन्ता उत्पन्न हुई थी, किन्तु आज आपके पुनः स्मरण दिलानेसे और उपदेशके दोहरानेसे मेरा भ्रम दूर हो गया और मेरी सारी चिन्ता अपने-आप विलीन हो गयी। इसलिये नाथ! आपकी इस अहैतुकी कृपाके लिये मैं बारम्बार आपके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ। अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है।'

दैत्यर्षि प्रह्लादकी चिन्ता दूर हुई, तदनन्तर महर्षि नारदजीने राजसभासे जानेकी इच्छा प्रकट की। प्रह्लादने अपनी महारानी और पुत्रोंके सहित उनके चरणोंमें प्रणाम किया और उनको विदा किया। महारानी सुवर्णा अन्तःपुरको गयीं और विरोचन आदि पुत्र अपने-अपने कामोंमें लगे। दैत्यर्षि भी अपने राजकाजको देखने-भालने लगे।

महर्षि शुक्राचार्यजी परिभ्रमण करनेके बड़े प्रेमी थे, वे बहुधा चारों ओर घूमा ही करते थे, तीर्थयात्रासे लौटे उनको अधिक दिन बीत गये थे। अतएव एक जगह बहुत दिनोंतक रहनेसे उनका जी उकता रहा था। उनका विचार फिर तीर्थयात्रा करनेका था और इस बार वे सम्राट् प्रह्लादके साथ तीर्थयात्रा करना चाहते थे। एक दिन राजसभामें प्रह्लादजी बैठे हुए थे। इसी बीचमें सहसा महर्षि शुक्राचार्यजी वहाँ आ पहुँचे। दैत्यर्षि प्रह्लादने उनको आते देख राजसिंहासनसे उतर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और एक ऊँचे आसनपर बैठाया। तदनन्तर उनका सविधि पूजनकर हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?'

शुक्राचार्य— 'वत्स दैत्यर्षि! भगवत्कृपासे इस समय तुम सर्वसुखसम्पन्न हो, दूध-पूतसे भरे-पूरे हो और तुम्हारे धार्मिक विचारोंसे सारा साम्राज्य सुख-समृद्धिपूर्ण हो रहा है। तुम्हारे वेदान्त-भावका तुम्हारे प्रजाजनोंपर भी भलीभाँति प्रभाव पड़ा है और लोग सर्वव्यापी जगदीश्वरको सर्वव्यापी मानते और समताके भावसे प्रेरित परस्पर सद्भाव करते दिखलायी पड़ते हैं; किन्तु सारा संसार समदर्शी नहीं हो सकता। सारे प्राणी सर्वव्यापी ईश्वरकी आराधना नहीं कर सकते। इसी कारण सृष्टिकी रचनाके साथ-ही-साथ जीवोंके कल्याणार्थ तीर्थस्थानों एवं दिव्य-देशोंकी रचना भी भगवान्‌की इच्छाहीसे होती है। तीर्थ-यात्राद्वारा साधारण-से-साधारण प्राणी भी अपने जीवनको सफल बना सकते हैं और योगिदुर्लभ फलको प्राप्त कर सकते हैं। यह भी देखा जाता है, जो आचरण बड़े लोग करते हैं वही आचरण उन्हींके प्रमाणसे उनसे छोटे लोग भी करते हैं। अतएव बड़े लोगोंके आचरणानुसार संसार बन जाता है। ***'यथा राजा तथा प्रजा'*** की नीतिसे इस समय तुम्हारे साम्राज्यमें वेदान्तका अनुशीलन बढ़ गया है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-से लोग सच्चे वेदान्ती हैं किन्तु उन्हींकी तरह न जाने कितने ढोंगी भी हैं जो कहा करते हैं कि अपने शरीरमें ही सारे

तीर्थ हैं। तीर्थाटन करना ही व्यर्थ है। इस प्रकार तुम्हारे साम्राज्यमें तीर्थयात्राका महत्त्व धीरे-धीरे घटता जा रहा है, परन्तु ये लक्षण अच्छे नहीं हैं।'

दैत्यर्षि प्रह्लाद— 'आचार्यचरण! अवश्य ही ये लक्षण बुरे हैं। मेरा तो यह कभी अभिप्राय नहीं था कि लोग झूठे वेदान्ती बनें और ज्ञानीके मानी तीर्थोंकी निन्दा, यज्ञोंकी निन्दा, कर्मकाण्डकी निन्दा और दान-पुण्यकी निन्दा करना ही समझें। किन्तु किया क्या जाय, ऐसे ही भाव प्रायः लोगोंमें देखे जा रहे हैं, यह बड़े दुःख और चिन्ताकी बात है। स्वामिन्! इस अनर्थके मिटानेका उपाय और इस अपराधके लिये मुझको प्रायश्चित्त बतलावें। मैं उस प्रायश्चित्तको करनेके लिये अभी तैयार हूँ।'

शुक्राचार्य— 'वत्स प्रह्लाद! इसका प्रायश्चित्त यही सर्वोत्तम है कि जो प्रजा तुम्हारी पदानुगामिनी बन रही है, उसको स्वयं आचरण करके सन्मार्ग दिखलाओ। तुम अपने दल-बलसहित स्वयं तीर्थयात्राको चलो और तीर्थाटन करके अपनी प्रजाके लिये आदर्श बनो। ऐसा करनेसे तुम्हारी प्रजा तुम्हारा पदानुसरण करेगी, जिससे सारा अनर्थ मिट जायगा और तुम्हारा प्रायश्चित्त भी हो जायेगा।'

दैत्यर्षि प्रह्लादने शुक्राचार्यजीकी आज्ञा शिरोधार्य की और अपने लड़कोंको मन्त्रियोंकी अवधानतामें राजभार सौंप, तीर्थाटनके लिये तैयारी की। दैत्यर्षिने आचार्यजीसे कहा कि 'भगवन्! यद्यपि लड़के राजनीतिमें निपुण हैं और अन्यान्य शासन-सम्बन्धी योग्यता भी इनमें देखी जाती है तथापि अभीतक इन्होंने कभी राजभार अपने ऊपर नहीं लिया था। अतएव सम्भव है कि इनमें कोई त्रुटि हो। आप इनको राजनीतिकी शिक्षा देकर आशीर्वाद देनेकी कृपा करें, जिससे मेरी अनुपस्थितिमें ये यथोचित राजकाज करनेमें समर्थ हों और मेरी प्रजाको कष्ट न हो।' प्रह्लादजीके प्रार्थनानुसार महर्षि शुक्राचार्यजीने विरोचन आदि पुत्रोंको राजनीतिके गूढ़ रहस्योंका उपदेश दिया। तदनन्तर सम्राट् प्रह्लादने दल-बल-सहित तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान किया।

तीर्थयात्राके समस्त नियमोंका पालन करते हुए प्रह्लादने श्रद्धा-भक्तिपूर्वक समस्त तीर्थोंकी यात्रा समाप्त की। तदनन्तर कुछ समयतक त्रिकूट पर्वतपर विश्राम किया। फिर पातालके तीर्थोंकी यात्रा की और वहाँसे लौटकर महर्षि च्यवनके साथ नैमिषारण्यमें आये। वहाँ श्रीनर-नारायणकी प्रसन्नता प्राप्तकर अपनी राजधानी हिरण्यपुरको लौटे।
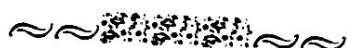
अट्ठाईसवाँ अध्याय

प्रह्लादकी तत्त्वजिज्ञासा

महर्षि अजगर और दैत्यर्षिका संवाद

दैत्यर्षि प्रह्लाद बड़े ही तत्त्वजिज्ञासु थे। उनकी सभामें विद्वानोंका खासा संग्रह था। इसके सिवा समय-समयपर वे स्वयं भी ऋषियोंके आश्रमोंमें जाकर तत्त्वोपदेश सुनते और अपनी शङ्काओंका निराकरण कराते थे। साधु-संग स्वाभाविक ही उन्हें बहुत प्रिय था।

एक दिन दैत्यर्षि प्रह्लाद कुछ तत्त्वोपदेश सुननेके उद्देश्यसे तपोभूमिकी ओर जा रहे थे कि मार्गमें ही 'महर्षि अजगर' मिल गये। महर्षि अजगरको देख दैत्यर्षि वहीं ठहर गये और सादर प्रणाम कर उनसे पूछने लगे—'हे ब्रह्मन्! आपको देखनेसे मालूम होता है कि आप तपोनिष्ठ योग्य विद्वान् हैं, विषयवासनाओंसे रहित एवं स्वस्थ हैं, आप दम्भादि विकारोंसे मुक्त, शुद्ध और दयावान् हैं। इन्द्रियोंको जीतनेवाले हैं। किसी कार्यका आरम्भ करना उचित नहीं समझते। आप किसीमें भी दोष नहीं देखते। आप सत्यवक्ता, मृदुभाषी और प्रतिभावान् हैं। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षको भलीभाँति समझनेवाले, बड़े मेधावी और तत्त्ववेत्ता विद्वान् हैं। भगवन्! इन सब गुणोंके होते हुए भी आप बालकोंके समान चारों ओर क्यों घूमते-फिरते हैं? हम देखते हैं कि आपको न तो किसी वस्तुके लाभकी इच्छा है और न किसी वस्तुके प्राप्त होनेपर आप असन्तुष्ट ही होते हैं; सभी विषयोंसे सदा तृप्तकी भाँति रहते हैं। किसी विषयकी कभी अवज्ञा नहीं करते। काम, क्रोध आदि विकारोंके प्रबल वेग लोगोंके चित्तको हरण कर रहे हैं, परन्तु आप विरक्तके सदृश धर्म, अर्थ और काममुक्त कार्योंमें भी निर्विकार-चित्त प्रतीत होते हैं। यह क्या बात है? तपोधन! आप धर्म और अर्थका अनुष्ठान नहीं करते तथा कार्यमें भी प्रवृत्त नहीं होते और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रिय-विषयोंका अनादर करके कर्तृत्व, भोक्तृत्व

आदिका अभिमान भी नहीं रखते। प्रत्युत साक्षीके सदृश विचरण कर रहे हैं। इसका क्या रहस्य है? त्यागमूर्ति ब्रह्मन्! यह आपका कैसा तत्त्वदर्शन है, कैसी वृत्ति है, कैसा शास्त्रज्ञान है और यह किस प्रकारका धर्मानुष्ठान है? यदि आप उचित समझें तो इन प्रश्नोंके उत्तर देनेकी शीघ्र कृपा करें।

दैत्यर्षि प्रह्लादकी जिज्ञासा देखकर महर्षि अजगरने उनके प्रश्नोंके उत्तरमें बड़े ही मधुर वचनोंसे कहा—'हे दैत्यर्षि प्रह्लाद! आप ज्ञानी हैं, विद्वान् हैं और ज्ञानियोंकी संगति करनेवाले हैं, फिर भी आपको मेरी वृत्ति देखकर जो अचरज हुआ इसमें कोई अचरजकी बात नहीं है। राजकाजका सम्बन्ध ही ऐसा होता है। इसके द्वारा यथार्थ ज्ञानके प्रकाशमें कुछ धुँधलापन-सा आ जाया करता है। प्रह्लाद! मैं आपके प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनिये। कारणरहित चित्त, अचित्तसे युक्त अद्वितीय परब्रह्म परमपुरुषसे संसारकी उत्पत्ति, ह्रास एवं नाशके विषयकी आलोचना विद्वान्लोग किया करते हैं; किन्तु मैं इनकी आलोचना करके ही हर्षित तथा दु:खित नहीं होता। स्वभावके कारण वर्तमान प्रवृत्तियों और स्वभावमें रत सारे संसारको समझना चाहिये। मैं इसी सिद्धान्तको मानकर ब्रह्मलोककी प्राप्तिसे भी प्रसन्न नहीं होता। हे प्रह्लाद! जिन प्राणियोंका विनाश निश्चित है, उन वियोग-परायण प्राणियोंके संयोग और विनाशको विचारकी दृष्टिसे देखिये। इस प्रकारके किसी भी विषयमें मैं मन नहीं लगाता। जो लोग सगुण पदार्थोंको नाशवान् समझते हैं और जगत्की उत्पत्ति तथा उसके लयके तत्त्वको जानते हैं, उनके लिये संसारमें कोई कार्य अवशेष नहीं है।

हे दैत्यराज! मैं यह देखता हूँ कि समुद्रके बीच बड़े-छोटे शरीरवाले सभी जलचर जीवोंका पर्याय क्रमसे नाश हो रहा है और स्थावर-जङ्गम सभी प्रकारके जीव स्पष्टरूपसे मृत्युके मुखमें पतित होते चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं; प्रत्युत आकाशचारी पक्षियोंकी भी यथासमय मृत्यु होती है। आकाशमें घूमनेवाले छोटे और बड़े तारे भी गिरते और नष्ट होते हुए दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार संसारके सभी प्राणियोंको मृत्युके वशमें होते देखकर मैं ब्रह्मनिष्ठ और कृतकृत्य होकर सुखकी नींद सोता हूँ। मैं कभी अनायास प्राप्त हुए उत्तम अन्नका भोजन करता हूँ तो कभी कई दिनोंतक बिना कुछ खाये ही रह जाता हूँ। कभी लोग मुझे बहुत-सा अन्न दे देते हैं, कभी थोड़ा-सा भोजन कराते हैं और कभी-कभी तो

भोजनके लिये कुछ भी नहीं मिलता। मैं कभी चावलोंके कणों और किनकोंको खाकर रह जाता हूँ, कभी नाना प्रकारके फल भोजन करता हूँ तो कभी विविध प्रकारके पक्वान्नोंको खाया करता हूँ। मैं कभी सुन्दर पलंगपर, कभी पृथ्वीपर, कभी महलमें, सुन्दर मसहरीमें और कभी वनकी तृणपूरित भूमिमें सोया करता हूँ। मैं कभी बड़े सुन्दर वस्त्रोंको पहनता हूँ, कभी सन-सूतके बने कपड़े पहनता हूँ, कभी रेशमी वस्त्रोंको धारण करता हूँ, कभी मृगछाला ही ओढ़े रहता हूँ और कभी बहुमूल्य रत्नजड़ी पोशाक पहनता हूँ। मैं न तो यदृच्छासे प्राप्त धर्मयुक्त वस्तुओंमें अनास्था रखता हूँ और न सर्वथा अभावमें उनके लिये मेरे मनमें कोई लालसा ही उत्पन्न होती है। हे प्रह्लाद! इस प्रकार मैं पवित्र भावसे स्थिरतायुक्त मरण-विरोधी कल्याणकारी शोकहीन और अनुपम अजगरव्रतका आचरण करता हूँ। हे राजन्! संसारके अज्ञानी लोगोंके लिये इस अजगरव्रतके आचरणकी बात तो दूर रही, वे इसका तत्त्व भी नहीं समझते हैं। हे प्रह्लाद! मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि मानव-जीवनके लिये सबसे सरल और सबसे उत्तम यह अजगरव्रत ब्रह्मप्राप्तिका प्रधान उपाय है।

अचलितमतिरच्युतः स्वधर्मात् परिमितसंसरणः परावरज्ञः।
विगतभयकषायलोभमोहो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥
अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं विधिपरिणामविभक्तदेशकालम्।
हृदयसुखमसेवितं कदर्यैः व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥
इदमिदामिति तृष्णयाभिभूतं जनमनवाप्तधनं विषीदमानम्।
निपुणमनुनिशम्य तत्त्वबुद्ध्या व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥
बहुविधमनुदृश्य चार्थहेतोः कृपणमिहार्यमनार्यमाश्रयन्तम्।
उपशमरुचिरात्मवान् प्रशान्तो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥
सुखमसुखमलाभमर्थलाभं रतिमरतिं मरणं च जीवितं च।
विधिनियतमवेक्ष्य तत्त्वतोऽहं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥
अपगतभयरागमोहदर्पो धृतिमतिबुद्धिसमन्वितः प्रशान्तः।
उपगतफलभोगिनो निशम्य व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥
अनियतशयनाशनः प्रकृत्या दमनियमव्रतसत्यशौचयुक्तः।
अपगतफलसञ्चयः प्रहृष्टो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥

अपगतमसुखार्थमीहनार्थैरुपगतबुद्धिरवेक्ष्य चात्मसंस्थम्।
तृषितमनियतं मनो नियन्तुं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥
हृदयमननुरुध्य वाङ्मनो वा प्रियसुखदुर्लभतामनित्यतां च।
तदुभयमुपलक्षयन्निवाहं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥

अर्थात् मैं अविचल बुद्धि रहकर अपने धर्मसे कभी च्युत न होकर एवं पूर्वापरकी सभी बातोंको जान, परिमित भावसे अपनी जीविकाका निर्वाह करता हुआ राग-द्वेष आदिसे रहित, निर्भय, निर्लोभ और मोहहीन होकर अन्तःकरणकी पवित्रताके साथ इस अजगरव्रतका आचरण करता हूँ। जिसमें भक्ष्य, भोज्य और पेय विषयोंका कोई नियम नहीं है, अदृष्टके परिणामके कारण, देश और कालकी व्यवस्था नहीं है। साधारण पुरुष जिसके आचरण करनेमें असमर्थ हैं, उस हृदयसुखदायक अजगरव्रतका पवित्र भावसे मैं आचरण करता हूँ। मैं अमुक धन और अमुक ऐश्वर्य प्राप्त करूँगा, इस तरहकी तृष्णावाले लोभीको जब धन नहीं मिलता तब उसको महान् दुःख होता है। इस तत्त्वको बुद्धिकी निपुणताके साथ आलोचना करके मैं पवित्रभावसे इस अजगरव्रतका आचरण करता हूँ। दीन पुरुष अपनी दरिद्रतावश अच्छे और बुरे सभी लोगोंके निकट धनके निमित्त हाथ फैलाते हैं, फिर भी अपने मनोरथको नहीं प्राप्त होते। संसारकी यह दशा देखकर मैं उपशमकी अभिलाषासे चित्तको जीतकर इस अजगरव्रतका आचरण करता हूँ। मैंने यह सुना है कि अजगर नामक जातिका सर्प सदा यों ही पड़ा रहता है तथा यदृच्छासे उपस्थित फलका भोग किया करता है। यह सुनकर राग, भय, मोह और अभिमानसे रहित धृति, मति और बुद्धिसे युक्त एवं प्रशान्त होकर मैं पवित्रभावसे इस अजगरव्रतका आचरण करता हूँ। मेरे सोने और भोजन करनेका कोई नियम नहीं है। मैं स्वभावसे ही दम, नियम, सत्य, व्रत और शौचका पालन करता हूँ तथा फलसञ्चयसे रहित और आनन्दित होकर इस अजगरव्रतका आचरण करता हूँ। हे राजन्! कामनाओंके विषय धन-स्त्री-पुत्र आदिके निबन्धनका परिणाम दुःखका कारण है, परन्तु विषयरहित प्राणियोंके लिये समस्त दुःख स्वयं ही पराङ्मुख रहते हैं; इस कारण मैं ज्ञान लाभ करके अन्तःकरणकी तृष्णा और स्थिरताको देखकर उसे सन्तुष्ट और स्थिर करनेके लिये पवित्रभावसे इस आत्मनिष्ठ अजगरव्रतका आचरण करता हूँ। मैं वचन, मन और

अन्त:करणका अनुरोध न करता हुआ, सर्वप्रिय सुखकी दुर्लभता और अनित्यताको देखते हुए पवित्रभावसे इस अजगरव्रतका आचरण करता हूँ।

'हे राजन्! बुद्धिमान् कवियों और विद्वानोंने अपनी कीर्तिको प्रसिद्ध करते हुए निजमत और परमतके उपपादनमें 'यह शास्त्र ऐसा कहता है, वह शास्त्र ऐसा कहता है' इस प्रकार अनेक तर्क-वितर्ककी बहुलताके सहित आत्मतत्त्वके विषयका वर्णन किया है; किन्तु मूर्ख मनुष्य उस प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे प्रसिद्ध तर्कके द्वारा न जाननेयोग्य आत्मतत्त्वको जाननेमें समर्थ नहीं होते। अतएव मैं अज्ञान आदि विकारोंके नाश करनेवाले और अनन्त दोषोंके निवारण करनेवाले तत्त्वज्ञानके द्वारा आलोचना करके सभी दोषों और सभी विषयोंकी तृष्णाको त्यागकर संसारी मनुष्योंके बीच बालकोंके समान निरभिमान हो विचरण किया करता हूँ। यह कोई अचरजकी बात नहीं है।'

महर्षि अजगरके उपदेशपूर्ण वचनोंको सुन दैत्यर्षि प्रह्लाद बहुत ही सन्तुष्ट हुए। महर्षि अजगर इतनी बातें कहकर तपोवनकी ओर चल दिये। जाते समय दैत्यर्षि प्रह्लादने उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उन्होंने उदासीनभावसे ही आशीर्वाद दिया। महर्षिके चले जानेपर प्रह्लादजी भी अपनी राजधानीको गये और उनके उपदेशोंके अनुसार विरक्तभावसे शासन तथा कालक्षेप करने लगे।

उनतीसवाँ अध्याय

सम्राट् प्रह्लादकी न्यायप्रियता

स्वयंवरा केशिनी कन्याके लिये विरोचन और सुधन्वाका विवाद, ब्राह्मण-महत्त्व-वर्णन

सम्राट् प्रह्लादकी भगवद्भक्ति और धर्मपरायणता तो प्रसिद्ध ही है, किन्तु उनकी न्यायशीलता भी किसी न्यायशील सम्राट्से कम न थी। प्रत्युत उनके समान न्यायशील शासक किसी इतिहासमें कदाचित् ही कोई मिलेगा। राजामें सत्यकी बड़ी भारी आवश्यकता होती है। सत्यहीन शासकका कोई मित्र नहीं होता और उसके सपरिकर सपरिवारका सर्वनाश हो जाता है। जिस प्रकार लाठी लेकर चरवाहे अपने पशुओंकी रक्षा करते हैं, उस प्रकार किसीपर प्रसन्न होकर देवता लोग उसकी रक्षा नहीं करते, बल्कि वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसको सुबुद्धि देते हैं। सुबुद्धि प्राप्त होनेपर मनुष्य सच्चरित्र और सत्यवादी होकर अपने धर्मकी रक्षा करते हैं एवं वह सुरक्षित धर्म उनकी सब प्रकारसे रक्षा करता है। सम्राट् प्रह्लादकी न्यायप्रियताके अनेक उदाहरण हैं, उनमें सबसे अधिक महत्त्वका उदाहरण राजकुमार विरोचन और ऋषिकुमार सुधन्वाके प्राणपणवाले झगड़ेका है।

पाञ्चालदेशमें अत्यन्त रूपवती केशिनी नामकी एक कन्या थी। वह कन्या स्वयंवरा थी और उसके पानेके लिये न जाने कितने राजकुमार एवं ऋषिकुमार पागल-से हो रहे थे। स्वयंवर होनेकी तिथिके पहले ही उसकी सेवामें अपनी-अपनी गुणगरिमा प्रकाशित करनेके लिये नित्य ही लोग जाया करते थे। जितने लोग उसके पास पहुँचे थे, उन सबमेंसे उसका हृदय ऋषिकुमार सुधन्वाकी ओर अधिक झुका

था। एक दिन उसकी सुन्दरतापर मोहित होकर दैत्यर्षि प्रह्लादके सुपुत्र राजकुमार विरोचन भी उसके पास जा पहुँचे और उससे अपनेको वरण करनेकी विनीत याचना की। विरोचन एकछत्र सम्राट्के प्यारे पुत्र थे, विद्वान् और बुद्धिमान् थे। उनमें सभी गुण थे और उनके पिताका सुर-असुर दोनों ही समुदायमें बहुत मान था, किन्तु उनमें एक बहुत बड़ा दोष था और वह था आत्माभिमान। उनके हृदयमें इसी कारण देवताओं और ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति नहीं थी, प्रत्युत द्वेषके भाव थे। वे अपने सामने किसीको भी विद्वान्, ज्ञानी और कुलीन नहीं समझते थे। रूपवती केशिनी न तो वर्तमान कालकी-सी स्वेच्छाचारिणी शिक्षिता युवती थी और न अपने कुल, धर्म एवं सदाचारको तिलाञ्जलि देकर ही स्वयंवरा हुई थी। केशिनी विदुषी थी, विवेकसम्पन्ना थी, राजनीति-पटु और बुद्धिमती थी। वह अपने विचारोंमें दृढ़ और निर्भय थी। उसने राजकुमार विरोचनसे कहा—'हे राजकुमार! आपमें अन्य सभी योग्यताएँ विद्यमान हैं; किन्तु आपके कुलकी योग्यताके सम्बन्धमें मुझे सन्देह है। विवाहके सम्बन्धमें जितनी योग्यताएँ बतलायी गयी हैं, उनमें सबसे बड़ी योग्यता कुलकी है। अबतक मेरी दृष्टिमें मेरे वरनेयोग्य 'वर' महर्षि अङ्गिराके सुपुत्र ऋषिकुमार विद्वान् सुधन्वाके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। हे राजकुमार! आप ही बतलावें कि कुलमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं या दैत्य? यदि दैत्यकी अपेक्षा ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, तो मैं ऋषिकुमार सुधन्वाके साथ विवाह क्यों न करूँ?'

विरोचन— 'हे विदूषी केशिनी! मैं केवल तुम्हारी सुन्दरतापर ही नहीं, तुम्हारी गुण-ग्राहकता और विद्वत्तापर मुग्ध हूँ। तुमने विवाहके सम्बन्धमें जो कुलका प्रश्न उठाया है, वह बड़े महत्त्वका और आवश्यक है। तुम जानती हो कि मैं महर्षि मरीचिके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ और प्रजापति कश्यपजी मेरे प्रपितामह हैं। अतएव सुधन्वाके कुलकी अपेक्षा मेरा कुल श्रेष्ठ है, इसके सिवा स्वयं मैं भी सुधन्वाकी अपेक्षा श्रेष्ठ हूँ। मेरे पिताजी अखिल भूमण्डलके सम्राट् हैं। ब्राह्मण और देवता हमारे सामने किस गिनतीमें हैं?'

केशिनी— 'हे विरोचन! कुलकी परीक्षा कोई कठिन बात नहीं है। कल प्रात:काल ऋषिकुमार सुधन्वा मुझे लेनेके लिये आवेंगे। उस समय आप भी आवें। आप दोनों महापुरुषोंके सामने मैं इस बातकी परीक्षा करूँगी कि कुलके विचारसे ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा दैत्य?'

विरोचन— 'हे कल्याणी! हे धर्मभीरु! तुम जो कहती हो मैं वही करूँगा।

प्रात:काल जब सुधन्वा आवेगा, तब मैं भी आऊँगा और तभी तुम हम दोनोंके कुलकी परीक्षा करना।'

विरोचन यह कह अपने स्थानको लौट गया। उसको रातभर नींद नहीं आयी। सबेरा होते ही अपने नित्यकृत्यसे निवृत्त होकर वह केशिनीके यहाँ जा पहुँचा। उसी दिन स्वयंवर होनेका शुभ-मुहूर्त था। स्वयंवरके लिये सुन्दर मण्डप सजाया गया था। केशिनी उस समय अपने निवास-स्थानपर थी, वहींपर विरोचन भी जा पहुँचा। केशिनीने राजकुमारको यथोचित शिष्टाचारके साथ बैठाया। थोड़ी ही देरके बाद ऋषिकुमार सुधन्वा भी स्वयंवर-मण्डपमें जा पहुँचा। स्वयंवर-मण्डपमें सन्नाटा देख सुधन्वा भी केशिनीके निवास-स्थानपर चला गया। केशिनी ऋषिकुमार सुधन्वाको आते देख उठकर खड़ी हो गयी और आसन, अर्घ्य और पादार्घद्वारा उसका सत्कार करने लगी। यह देखकर राजकुमार विरोचन द्वेषवश मन-ही-मन जलने लगा। विरोचनने ऋषिकुमार सुधन्वाको प्रणाम तो नहीं किया, परन्तु उसे अपने आसनपर बैठनेके लिये अनुरोध किया। विरोचनके दूषित भावोंको देख और उसके वचनोंको सुन ऋषिकुमार सुधन्वाने कहा कि 'हे राजकुमार! तुम्हारे सुन्दर स्वर्णमय आसनपर तुम्हारे बराबर मैं नहीं बैठ सकता, क्योंकि समानशील व्यक्तियोंको ही समान आसनपर बैठना चाहिये।'

विरोचन— 'हे सुधन्वा! तुमने मेरे साथ आसनपर न बैठनेकी जो बात कही सो ठीक ही है, वास्तवमें तुम मेरे इस स्वर्णमय आसनपर नहीं बैठ सकते, तुम्हारे लिये तो काठके पीढ़े अथवा कुशासन ही उपयुक्त हैं।'

सुधन्वा— 'राजकुमार विरोचन! तुमने जो कारण बतलाया वह ठीक नहीं है। शास्त्रका यह नियम है कि पिता-पुत्र, दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो बूढ़े मनुष्य और दो शूद्र जो समानशील होते हैं वे ही एक आसनपर साथ-साथ बैठ सकते हैं। इसके विपरीत एक ब्राह्मणका एक दैत्यके आसनपर बैठना उचित नहीं। जब मैं तुम्हारे पिताकी सभामें जाता था, तब वे मेरे आसनसे नीचे बैठकर मेरी सेवा करते थे। मेरे समकक्ष आसनपर वे कभी नहीं बैठते थे और न वे कभी मुझको अपने आसनपर बैठनेके लिये कहते थे। राजकुमार! उस समय तुम निरे बालक थे और अपनी माताके पास अन्त:पुरमें रहते थे। इसी कारण तुमको इन बातोंका पता नहीं है।'

विरोचन— 'हे सुधन्वा! तुम अपने मुखसे भले ही अपनी बड़ाई बघारो, किन्तु मैं तुम्हारी बातोंको नहीं मान सकता। इस प्रश्नको किसी विद्वान्से पूछना चाहिये और यों ही नहीं, कुछ शर्त लगाकर पूछना चाहिये। मैं इस बातकी प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि निर्णयमें तुम मुझसे श्रेष्ठ सिद्ध हो जाओ तो मेरे गाय, घोड़े और जो कुछ मेरा धन है, वह सब तुम्हारा हो जायगा।'

सुधन्वा— 'हे विरोचन! तुम्हारे गाय और घोड़े तुम्हारे ही रहें। मुझको उनकी आवश्यकता नहीं। सबसे अच्छा यह होगा कि हम और तुम, अपने-अपने प्राणोंका पण (बाजी) लगाकर इस प्रश्नको किसी पण्डितसे पूछें।'

विरोचन— 'हे सुधन्वा! तुम्हारी शर्त मुझे स्वीकार है। किन्तु इस प्रश्नको पूछनेके लिये किसके पास चलोगे? मैं देवता और मनुष्यके पास कदापि नहीं जाऊँगा। क्योंकि इन दोनोंपर तो मेरा विश्वास ही नहीं है।'

विरोचनके वचनोंको सुन, सुधन्वाने कहा—'हे विरोचन! इस प्रश्नको पूछनेके लिये कहीं दूसरे स्थानमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हारे पिता सम्राट् प्रह्लादके पास ही इसका निर्णय करानेके लिये चलूँगा। मेरा विश्वास है कि पुत्रके प्रेममें फँस वे कभी मिथ्या न बोलेंगे।' सुधन्वाकी बात विरोचनने हर्षसे मान ली और दोनों ही केशिनीसे विदा हो प्रह्लादकी राजसभाकी ओर चल दिये।

सभामें बैठे हुए प्रह्लादजीने क्रोधमें भरे हुए इन दोनोंको आते हुए देखकर कहा—'ये दोनों विषैले साँपके समान क्रोधमें भरे हुए एक साथ कैसे चले आ रहे हैं? अबसे पहले तो इन दोनोंको एक साथ हमने कभी नहीं देखा, विरोचन तो ब्राह्मणोंसे वैसे ही दूर रहता है, जैसे कोई अपने शत्रुसे दूर रहे।

इतनेमें विरोचन और सुधन्वा सभामें जा पहुँचे। प्रह्लादजीने अपने पुत्रसे कहा—'हे विरोचन! क्या सुधन्वा तुम्हारे मित्र हैं?' विरोचनने यथोचित प्रणाम करके उत्तरमें कहा—'पिताजी! सुधन्वा मेरे मित्र नहीं हैं, बल्कि हम दोनों परस्पर वादी-प्रतिवादी हैं। हम दोनोंने अपने-अपने प्राणोंकी शर्त लगाकर विवाद किया है और आपको निर्णायक माना है। आप हमारे प्रश्नका यथार्थ उत्तर दें, मेरे प्रेमवश झूठ न कहें।'

प्रह्लादजीने जब ऋषिकुमार सुधन्वासे अर्घ्य, पाद्य आदि ग्रहण करनेकी प्रार्थना की, तब सुधन्वाने कहा—'राजन्! मैंने आपका जल एवं मधुपर्क मार्गहीमें

ग्रहण कर लिया है। अब इसकी आवश्यकता नहीं। अब आपके सामने राजकुमार विरोचनने जो प्रश्न उपस्थित किया है, उसका सत्य-सत्य उत्तर दीजिये। वही मेरा अर्घ्य, पाद्य एवं सत्कार है। प्रश्न यही है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं या दैत्य? अर्थात् मैं श्रेष्ठ हूँ या विरोचन?'

दैत्यर्षि प्रह्लाद— 'हे ऋषिकुमार! इस प्रश्नमें आपलोगोंने अपने-अपने प्राणोंकी बाजी (पण) लगा रखी है और मेरे यह एकमात्र प्यारा पुत्र विरोचन है, ऐसी दशामें भी आप मुझसे प्रश्नका उत्तर चाहते हैं यह कैसे सम्भव है? आप ही बतलावें कि मेरी दशाका मनुष्य ऐसी परिस्थितिमें क्या कह सकता है? विप्रवर! आप तो धर्मशास्त्रके पूर्ण ज्ञाता हैं? आप यह बतलावें कि जो निर्णायक कुछ भी न कहे, न सत्य ही कहे और न झूठ ही, उसकी क्या गति होती है? और वह कहाँ जाता है?'

सुधन्वा— 'हे सम्राट् प्रह्लाद! जो निर्णेता सत्यासत्यका ज्ञान रखता हुआ भी सत्य और असत्य कुछ भी नहीं कहता वह उसी गतिको प्राप्त होता है, जिस गतिको सापत्न्य दुःख (सौतियाडाह) से भरी स्त्री, हारा हुआ जुआरी तथा दिनभर बोझा ढोनेवाला कुली प्राप्त होता है; अर्थात् स्त्रियोंको सौतियाडाहमें, जुआरीको हारनेमें तथा कुलीको दिनभर बोझा ढोनेमें जो कष्ट होता है वही कष्ट यमराजके यहाँ उसको मिलता है। जो निर्णायक होकर सत्यासत्यका ज्ञान रखता हुआ भी कुछ नहीं कहता, जो साक्षी होकर झूठ बोलता है, वह नगर-द्वारपर—शहरपनाहके फाटकपर भूखों मरता हुआ अपने अनेक शत्रुओंको सुखी देखनेके समान दुःख पाता है। साधारण पशुओंके लिये झूठ बोलनेसे पाँच हत्याके समान, गौओंके लिये झूठ बोलनेसे दस हत्याके समान, घोड़ेके लिये झूठ बोलनेसे सौ हत्याके समान और मनुष्यके लिये झूठ बोलनेसे सहस्र हत्याके समान पाप होता है। स्वर्णके लिये झूठ बोलनेवालेको संसारमें जितने प्राणी उत्पन्न हो चुके हैं तथा जितने अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उतने प्राणियोंके मारनेके बराबर पाप होता है और स्त्री तथा भूमिके लिये झूठ बोलनेसे समस्त पृथ्वीके मनुष्योंको मारनेके समान पाप होता है। अतएव हे राजन्! आप निर्णायक हैं। आप सत्यासत्यको जानते हैं। आप न तो मौन ग्रहण करें और न मिथ्या निर्णय करें।

सुधन्वाकी धर्मयुक्त निर्भीक बातें सुनकर दैत्यर्षि प्रह्लादने कहा—'हे सुधन्वा! आपने धर्मयुक्त वचनोंसे मुझको सावधान कर दिया यह ठीक ही है; किन्तु आपके

ऐसा न कहनेपर भी मैं कभी मिथ्या नहीं कह सकता था। जब कि मेरी ही आज्ञासे सारे साम्राज्यमें मिथ्या भाषणके लिये कठोर दण्ड दिया जाता है, जब कि अन्याययुक्त होनेसे मैंने अपने पूज्यचरण पिताकी भी आज्ञा नहीं मानी, तब मैं स्वयं मिथ्या भाषण करूँ—पुत्रके लिये मिथ्या भाषण करूँ, यह कभी स्वप्नमें भी आप न सोचें। पिता-पुत्र इस अनित्य देहके साथी और सम्बन्धी हैं। किन्तु धर्म अनन्त कालतक अजर-अमर आत्माका साथी रहता है, जिसके लिये मुझको, आपको तथा सभी ज्ञान रखनेवालोंको सदा चिन्ता बनी रहती है। बेटा विरोचन! हम जानते हैं कि हमारे निर्णयसे तुम्हारे प्राणोंका अन्त हो रहा है और तुम हमारे एकमात्र प्राणप्रिय पुत्र हो, किन्तु धर्मके सामने हम तुम्हारे प्राणोंकी कुछ भी परवा नहीं कर सकते। हमारा धर्म है कि हमारे साम्राज्यमें यदि कोई मिथ्या भाषण करे अथवा अनुचित न्याय करे, तो हम उसको दण्ड दें। फिर स्वयं हम ही यदि पुत्रके प्राणोंके तुच्छ मोहमें पड़ मिथ्या भाषण और अनुचित न्याय करेंगे, तो इस राजसिंहासनका घोर अपमान होगा, महान् पाप होगा और अन्तःकरणमें विराजमान सर्वान्तर्यामी भगवान् लक्ष्मीनारायणको मर्मवेधी वेदना होगी। अतएव हम सत्य और पुत्रकी तुलनामें सत्यहीको अधिक महत्त्व देते हैं। राजकुमार! सुनो, अपने मिथ्या अभिमानको छोड़कर सुनो। मेरा न्याय यह है कि ऋषिकुमार सुधन्वाके पूज्यपाद पिता महर्षि अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वाजीकी पूजनीया माता तुम्हारी माता सुवर्णासे श्रेष्ठ हैं और तुमसे सुधन्वा श्रेष्ठ हैं। अतएव तुम हार गये और सुधन्वा जीत गये।'

इतना कहनेके पश्चात् प्रह्लादजीने पुत्र-प्रेमसे नेत्रोंमें जल भरकर कहा कि—

विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव।
सुधन्वन् पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम्॥

अर्थात् 'हे विरोचन! अब तुम्हारे प्राणोंके स्वामी ये ऋषिकुमार सुधन्वा हैं। (चाहे तुमको जीवित रखें और चाहे तुम्हारे प्राणोंको ले लें।) हे सुधन्वाजी! (आप तो दयालु ऋषि-वंशज हैं। आपकी विजय हो गयी। विरोचन अब आपकी कृपासे ही जी सकता है और आपके क्रोधसे एक क्षणमें अपनी लीला संवरण कर मृत्युके मुखमें जा सकता है।) किन्तु मैं आपसे विरोचनके प्राणोंकी याचना करता हूँ।' प्रह्लादजीके विनीत वचनोंको सुनकर ऋषिकुमार सुधन्वाने कहा—'हे दैत्यर्षि! आपने पुत्रके प्रेमको धर्मके सामने तुच्छ समझकर सत्य निर्णय किया है। अतएव

मैं आपके ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ, मैं आपके पुत्रका वध नहीं चाहता। किन्तु विरोचनने मिथ्याभिमानवश कन्या केशिनीके यहाँ मेरी तथा समस्त देव-ब्राह्मणोंकी बड़ी अप्रतिष्ठा की है, अतएव उस पापके प्रायश्चित्तके लिये आप इनको आज्ञा दें कि ये उसी केशिनीके स्थानपर चलें और जहाँपर इन्होंने हमलोगोंका अपमान किया है वहींपर उसी केशिनीके सामने मेरे पैर धोकर उसको अपने सिरमें चढ़ावें, ऐसा होनेपर मैं इन्हें आपकी गोदमें पुनः अर्पण करनेमें प्रसन्न होऊँगा।'

प्रह्लाद— 'हे सुधन्वा! आपने बड़ी कृपा की और विरोचनके देव-द्विज-द्रोहके अक्षम्य अपराधके लिये बहुत ही सरल एवं सुन्दर प्रायश्चित्त बतलाया। हम अपना परम सौभाग्य समझते हैं कि ब्राह्मणोंके—विशेषकर आप-जैसे पवित्रचरित्र ऋषिकुमारके चरणोंको अपने हाथों धोवें और चरणोदकको अपने सिरपर चढ़ावें। इस पवित्र कार्यको हम एक केशिनी ही क्या सारे संसारके सामने करनेमें अपना गौरव समझते हैं। ऐसी ही आज्ञासे, ऐसे ही आदेशसे आप हमारे कुलका सदा उद्धार करते रहें, यही हमारी प्रार्थना है।'

सम्राट् प्रह्लादकी आज्ञासे विरोचन ऋषिकुमार सुधन्वाके साथ गया और विदुषी केशिनीके समीप जाकर विनीत-भावसे श्रद्धापूर्वक ऋषिकुमारके चरण धोये और चरणोदकको सिरमें लगा साष्टाङ्ग प्रणाम किया। विरोचनने केशिनीके सामने सुधन्वासे अपने अपराधोंके लिये क्षमा-प्रार्थना की और महर्षिकुमार सुधन्वाने उसको क्षमाके साथ ही सप्रेम आशीर्वाद दिया।

प्रह्लादजीके इस अपूर्व न्यायसे, उनकी इस धर्मपरायणतासे तथा उनकी इस ब्राह्मण-भक्तिसे उनके सारे साम्राज्यमें विशेषकर धार्मिक भारतवासियोंमें उनकी चौगुनी कीर्ति बढ़ गयी। लोग कहने लगे कि ब्रह्मण्यदेव भगवान् वासुदेवके परम भक्त प्रह्लादने यह सुन्दर न्याय अपने स्वरूपानुरूप ही किया है।

तीसवाँ अध्याय

प्रह्लादके समीप इन्द्रका अध्ययन

याचक इन्द्रको प्रह्लादका शील-भिक्षादान, शीलकी महिमा

दैत्यर्षि प्रह्लादमें जिस प्रकार सभी सद्गुणोंके समूह थे, उसी प्रकार उनमें सर्व सम्पत्तियों और समस्त गुणोंका आधारभूत शील भी पर्याप्त था। उनके शील-स्वभाव तथा उनकी शील-परायणतासे सारा संसार उनके वशीभूत था और वे त्रैलोक्यके स्वामी थे। उनके ऐश्वर्यको देख मनुष्योंको कौन कहे, देवगण भी ललचाते थे। जिस प्रकार दैत्यराज हिरण्यकशिपुके समय अधर्मपूर्ण अत्याचारके बल सारे दिक्पाल और देवराज इन्द्र उसके आज्ञानुवर्ती और कठिन कारागारके बन्दी थे; उस प्रकार तो नहीं, किन्तु धर्मपूर्ण सुशीलताके द्वारा दैत्यर्षि प्रह्लादके समय केवल दिक्पाल और देवराज इन्द्र ही नहीं, प्रत्युत सारे संसारके मनुज, दनुज और देवतागण उनके शील-स्वभावके कठिन बन्धनमें बँधे हुए मानो इस उक्तिको चरितार्थ कर रहे थे कि—

'बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।'

अर्थात् संसारमें बन्धन तो अनेक प्रकारके हैं, किन्तु प्रेमरूपी रस्सीका बन्धन कुछ और ही है। वह सबसे बड़ा है। प्रह्लादजीके शासन-कार्यमें यद्यपि देवताओंको स्वरूपतः कोई कष्ट नहीं था; उनके यज्ञादि-सम्बन्धी अधिकार छीने नहीं गये थे और न उनमेंसे किसीको पदच्युत किया गया था, फिर भी सारे संसारमें परम भागवत प्रह्लाद, सम्राट्के समान ही नहीं, देवताओंके समान नहीं प्रत्युत उन सबसे बढ़कर अपने आराध्यदेवके समान पूजे जाते थे। ऐसा महत्त्व और ऐसी प्रतिष्ठा देवराज इन्द्रको कब सहन होने लगी और यह सब कुछ देख-सुनकर भी इन्द्रदेव कब चुप रहने लगे?

देवराज इन्द्रके हृदयमें दैत्यर्षि प्रह्लादका महत्त्व शूलके समान साल रहा था और

उसके मिटानेके लिये वे प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु गुप्तरूपसे तरह-तरहके उपाय सोच रहे थे। एक दिन इसी अभिप्रायसे देवराज इन्द्र अपने आचार्य महर्षि बृहस्पतिके पास गये। अपने गुरुवरके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा, 'हे भगवन्! मैं आपकी सेवामें श्रेय जाननेकी इच्छासे आया हूँ। कृपया आप मुझे अपने उपदेशामृतद्वारा श्रेय—कल्याणका मार्ग बतलाइये।' देवराज इन्द्रकी बातें सुन बृहस्पतिजी परम कल्याणकारी एवं मोक्षोपयोगी ज्ञानका प्रतिपादन करने लगे। बृहस्पतिजीने कहा— 'संसारमें सभी प्राणियोंके लिये मुक्तिका मार्ग ही सबसे अधिक श्रेय है।' परन्तु इन्द्रके मनमें तो दूसरी ही बात थी, अतः गुरुवरकी बातें सुनकर इन्द्रने कहा—'हे भगवन्! इस पारलौकिक मोक्षसे भी अधिक कल्याणदायक लौकिक और पारलौकिक दोनोंके लिये कोई दूसरा मङ्गलमय मार्ग है अथवा नहीं? देवराजके प्रश्नको सुन और उनके हार्दिक भावोंको जानकर बृहस्पतिजीने कहा—'हे सुरराज! इस विषयका विशेष प्रतिपादन महर्षि शुक्राचार्य ही कर सकते हैं, अतएव आप उन्हींके पास जाइये। उनके उपदेशसे आपको सन्तोष होगा और आपका मङ्गल होगा।'

स्वार्थवश देवराज इन्द्र दैत्योंके आचार्य महर्षि शुक्राचार्यजीके पास गये और साष्टाङ्ग प्रणाम कर बैठ गये। शुक्राचार्यके पूछनेपर इन्द्रने अपना अभिप्राय प्रकट किया। महर्षि शुक्राचार्य त्रिकालज्ञ थे। उन्होंने भावीको जानकर अपने शिष्य एवं प्रिय प्रह्लादके विरुद्ध किसी प्रकारका उपदेश देना उचित नहीं समझा और उनसे कहा—'हे देवराज! जिस विषयको आप जानना चाहते हैं, उस विषयका विशेष ज्ञान दैत्यर्षि प्रह्लादको है, अतएव आप उन्हींके पास जाइये। वे आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे।' आशीर्वादके समान शुक्राचार्यके वचनको सुनकर देवराज इन्द्र ब्राह्मणके वेषमें प्रह्लादजीके पास गये।

ब्राह्मणके वेषमें इन्द्रको देख प्रह्लादजीने सादर प्रणाम कर यथोचित शिष्टाचार किया और पूछा कि 'हे द्विजवर! आपका शुभागमन कैसे हुआ और क्या आज्ञा है?' ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्रने कहा—'राजन्! मैं आपको न केवल सम्राट् किन्तु एक आदर्श पुरुष तथा लोक और शास्त्रका ज्ञाता एवं इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याणके मार्गका तत्त्वज्ञ समझता हूँ, अतएव आप मुझे उत्तम आचरणीय विषयके उपदेशकी भिक्षा दें, यही मेरी प्रार्थना है।' ब्राह्मणके वचनोंको सुन

प्रह्लादजीने शासन-सम्बन्धी कार्योंकी अधिकताके कारण अवकाशाभावकी बात कही, किन्तु ब्राह्मणके यह कहनेपर कि 'जब आपको अवकाश मिलेगा और जितना ही समय मिलेगा तभी और उतना ही उपदेश देनेकी कृपा कीजियेगा,' प्रह्लादजीने ब्राह्मणकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसी समय उसको ज्ञान-तत्त्वकी शिक्षा दी। ब्राह्मणने शिष्यधर्मका ऐसा सुन्दर पालन और प्रदर्शन किया कि दैत्यर्षि प्रह्लादका हृदय उसके प्रति बहुत ही सहानुभूति-पूर्ण हो गया।

दैत्यर्षि प्रह्लादको प्रसन्न देखकर विप्र-वेष-धारी देवराज इन्द्रने सुअवसर देख उनसे पूछा—'हे त्रैलोक्यनाथ! हे अरिदमन! आपने किस प्रकार तीनों लोकके राज्यको प्राप्त किया है? हे धर्मज्ञ! जिस अलौकिक गुणके द्वारा, जिस अजेय शक्तिके द्वारा आपने इतना बड़ा प्रभुत्व प्राप्त किया है, कृपया उसका वर्णन कीजिये।' विप्रके वचनोंको सुनकर प्रह्लादजीने कहा—

'हे विप्र! मैं अपने प्रभुत्वका वास्तविक कारण तो स्वयं भी नहीं जानता; किन्तु जिस आचरणसे मुझे प्रभुत्व प्राप्त करनेमें सहायता मिली है, आपसे मैं उसका वर्णन करता हूँ।

मैंने ब्राह्मणोंके प्रति हृदयमें सदा आदर रखा है और अपनेको राजा समझकर कभी ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं की है। ब्राह्मणलोग अपने तर्क-वितर्कके द्वारा शुद्ध हृदयसे मुझे शुक्राचार्यकी नीतिका व्याख्यान सुनाते हैं और उसके अनुसार मुझे चलनेके लिये नियन्त्रित करते हैं। मैं ब्राह्मणोंके उपदेशानुसार शुक्रनीतिके ही अनुसार चलता हूँ, ब्राह्मणोंकी सदा सेवा करता हूँ और कभी भूलकर भी ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करता। मैं क्रोधको जीते हुए हूँ, इन्द्रियोंको वशमें रखता हूँ। जिस प्रकार मधु-मक्खियाँ अपने छत्तेमें यत्नके साथ मधु इकट्ठा करती हैं, उसी प्रकार ब्राह्मणलोग जो वस्तुतः शासक हैं, मेरे ज्ञान-वृक्षको अपने उपदेशामृतद्वारा सिञ्चन करते हैं। वे मुझे धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, जितक्रोध जानकर ही मेरा इस प्रकार शासन करते हैं। मैं उन ब्राह्मणोंद्वारा वाङ्मय शास्त्रोंके मुख्य विद्यारसको ग्रहणकर अपनी जातिके बीच नक्षत्रमण्डलीके मध्य चन्द्रमाके समान शोभायमान हो रहा हूँ। आचार्यके कहे हुए शास्त्रके अनुसार कार्य करनेमें प्रवृत्त हो जाना ही पृथ्वीमें अमृतस्वरूप है और वही ज्ञानोपदेश वस्तुतः मनुष्यका नेत्रस्वरूप है। इस समय अधिक कुछ न कहकर मैं तुमसे केवल यही कहूँगा

कि इहलौकिक और पारलौकिक श्रेय—कल्याण-प्राप्ति करनेका एकमात्र उपाय है 'शील' और शील-प्राप्तिका उपाय है—

> अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
> अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते॥
> यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
> अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथञ्चन॥
> तत्तत्कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि।

अर्थात् 'किसी प्राणीके प्रति द्रोह न रखना। मन, वचन और कर्मसे कभी किसीका अनिष्ट न चाहना, सबके प्रति कृपापूर्ण दृष्टि रखना तथा दानशील होना। ये तीन गुण शीलके समस्त गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। अपना कोई काम अथवा पुरुषार्थ जो दूसरे लोगोंके लिये हितकर न हो और जिससे दूसरोंके सामने लज्जित होना पड़े उसे कभी भी न करे। हे विप्र! सदा ऐसे कार्य करने चाहिये जिनसे सभाओंमें भले आदमियोंके बीच बड़ाई प्राप्त हो और लोग अच्छा मानें।' विप्रकी शिष्य-धर्मनिष्ठासे प्रसन्न होकर प्रह्लादजीने और भी कहा, और कहा क्या, मानो भावीने ही उनके मुखसे कहलवा दिया—'हे विप्रवर! तुमने मेरे साथ यथोचित गुरु-शिष्य-भावको निबाहा है। अतएव मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम इस समय जो कुछ माँगना चाहो, माँग लो। मैं तुमको मनोवाञ्छित 'वर' देनेके लिये तैयार हूँ। इसमें सन्देह नहीं।'

प्रह्लादजीके वचनोंको सुनकर देवराज इन्द्र, मन-ही-मन बड़े ही प्रसन्न हुए और उनसे कहा—'हे दैत्यर्षि! आपकी प्रशंसा मैं कहाँतक करूँ, आपके समान उदार, दानी संसारमें कोई नहीं है। राजन्! यदि आप मेरी इच्छाके अनुसार 'वर' देना चाहते हैं, तो कृपया दीजिये, मैंने अपने मनमें वर माँग लिया है।' प्रह्लादजीने कहा—'एवमस्तु'—दिया। वरदान प्राप्त करनेपर विप्रवेषधारी इन्द्रने कहा कि 'हे दैत्येश्वर! मेरी इच्छा आपके शील लेनेकी है। कृपया आप मुझे अपना शील दीजिये।' प्रह्लादजीके हृदयमें इस वरयाचनासे भय उत्पन्न हुआ। वे इसका कारण नहीं जान सके और यह देख कि याचक साधारण ब्राह्मण नहीं, कोई तेजस्वी पुरुष है, बड़े विस्मयको प्राप्त हुए, किन्तु वे वचन दे चुके थे, अतः वर देना स्वीकार कर लिया। परन्तु इससे उनके मुखमण्डलपर

विषादकी रेखा खिंच गयी। ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र सफलमनोरथ होकर चले गये।

सम्राट् प्रह्लादको चिन्ताशील देख सारी राजसभामें सन्नाटा-सा छा रहा है। चारों ओर नीरव उदासीनता छा रही है। इसी बीचमें दैत्यर्षिके शरीरसे तेजोमय विग्रहयुक्त एक महापुरुष छायाके रूपमें प्रकट हुआ। उस तेजोमय महाकाय पुरुषसे प्रह्लादजीने कहा कि 'आप कौन हैं और हमारे शरीरको परित्याग करके कहाँ जा रहे हैं?' वह बोला—'हे राजन्! मैं शील हूँ आपने मुझको परित्याग किया है। अतएव जाता हूँ और जिस अपने निकटस्थ शिष्यको आपने दिया है अब मैं उसीके शरीरमें निवास करूँगा। इतना कहकर वह तेजोमय शरीरधारी शील अन्तर्धान हो गया और जाकर देवराजके शरीरमें प्रविष्ट हुआ। शीलके चले जानेपर उसी प्रकारका तेजोमय पुरुष प्रह्लादजीके शरीरसे फिर छायाके समान प्रकट हुआ। प्रह्लादजीके पूछनेपर उसने कहा कि 'मैं धर्म हूँ, हे राजन्! मैं शीलका अनुगामी हूँ। जहाँ शील नहीं रहता वहाँ मैं नहीं रह सकता। अतएव आपका शील जहाँ गया है उसी आपके शिष्य द्विजवरके पास मैं भी जाऊँगा।' इतना कहकर वह धर्मकी मूर्ति भी अन्तर्धान हो गयी।

जैसे ही धर्मकी मूर्ति अन्तर्धान हुई वैसे ही उसी प्रकारकी किन्तु उससे भी अधिक तेजोयुक्त तीसरी मूर्ति प्रकट हुई और प्रह्लादजीके पूछनेपर उसने भी उत्तर दिया कि 'हे राजन्! मैं सत्य हूँ। आपके शरीरको धर्मने परित्याग कर दिया है। अतएव मैं भी आपके शरीरमें नहीं रह सकता। क्योंकि मैं वहीं रहता हूँ, जहाँ धर्मका निवास होता है। अब मैं भी धर्मके साथ उसी द्विजवरके शरीरमें जाकर वास करूँगा।' इतना कहकर सत्य भी धर्मका अनुगामी हुआ। सत्यके अन्तर्धान होनेपर प्रह्लादजीके शरीरसे उसी प्रकारकी तेजोमयी एक चौथी मूर्ति प्रकट हुई जो देखनेमें बड़ी ही बलशालिनी प्रतीत होती थी। पूछनेपर उसने कहा—'हे प्रह्लाद! मैं वृत्त हूँ, जहाँ सत्य रहता है वहीं मैं भी रहता हूँ।' वृत्तके सत्यानुगामी होनेपर प्रह्लादजीके शरीरसे एक महाशब्द हुआ, जिसने पूछनेपर कहा—'मैं बल हूँ। वृत्त जहाँ जाता है, मैं भी वहीं गमन किया करता हूँ।' इतना कहकर बल भी वृत्तका अनुगामी हो गया। अन्तमें प्रह्लादजीके शरीरसे एक तेजोमयी देवी प्रकट हुई, प्रह्लादजीके पूछनेपर उसने कहा कि 'सत्य पराक्रमी वीरवर दैत्यराज! मैं श्री हूँ और सदा तुम्हारे शरीरमें निवास करती थी। इस समय तुम्हारे शरीरसे

बल चला गया है। अतएव मैं भी जाती हूँ। क्योंकि मैं सदा बलकी ही अनुगामिनी हुआ करती हूँ।' श्रीजीके ऐसे वचन सुनकर प्रह्लादजीके हृदयमें एक प्रकारका भय-सा उत्पन्न हुआ और उन्होंने उस तेजोमयी मूर्तिसे पूछा कि 'हे कमलालये! तुम्हीं सत्यव्रतधारिणी तीनों लोककी परमेश्वरी देवी हो, तुम मुझको छोड़कर कहाँ जा रही हो? तुम सर्वज्ञ और जगज्जननी हो, क्या तुम मुझको यह बतलानेकी कृपा करोगी कि वे द्विजवर जिन्होंने शिष्यत्व ग्रहणकर मुझसे शीलकी भिक्षा माँगी थी, कौन थे?'

लक्ष्मी— 'हे राजन्! जो द्विजवरके वेषमें तुम्हारे निकट शिक्षित हुए थे, वे देवराज इन्द्र हैं। तीनों लोकमें तुम्हारा जो कुछ ऐश्वर्य था उन्होंने शीलके रूपमें उस सबको तुमसे माँग लिया है। धर्मज्ञ! तुमने शीलके सहारे ही तीनों लोकको वशमें किया था, सुरराजने इस मर्मको जानकर तुम्हारे उस शीलको वरयाचनाके रूपमें हरण किया है। हे महाबुद्धिमान् प्रह्लाद! सारे ऐश्वर्यका मूल शील ही है। धर्म, सत्य, वृत्त, बल और मैं—सभी शीलहीके अधीन हैं। जहाँ शील नहीं वहाँ हमलोगोंका निवास कभी हो ही नहीं सकता।' इस प्रकार शील, धर्म, सत्य, वृत्त, बल और लक्ष्मी सब-के-सब दैत्यर्षि प्रह्लादसे अलग हो गये। अब दैत्यर्षि प्रह्लादका सारा विषाद मिट गया और वे उदासीन-भावसे निर्जन सघन वनमें जाकर परम पुनीत नैमिषारण्यके समीप अपने आराध्यदेव भगवान् विष्णुका प्रेमपूर्वक चिन्तन करने लगे। उन्होंने इस घटनाको भगवान्का आशीर्वाद समझा और भगवान्के चरणोंमें चित्त लगाकर आनन्दमग्न हो रहने लगे।

इकतीसवाँ अध्याय

तपस्वी प्रह्लाद और इन्द्रका संवाद

इन्द्रद्वारा पुनः राज्यप्राप्ति

जिस समय छलसे देवराज इन्द्रने सत्यव्रत प्रह्लादके ऐश्वर्यको अपहरण किया था, जिस समय कपट विप्रवेष बनाकर इन्द्रने दैत्यर्षि प्रह्लादके शीलकी याचना करके उनको ठगा था और जिस समय तीनों लोकके अधीश्वर परम भागवत प्रह्लादको क्षणभरमें भिखारी बना दिया था, उस समयका दृश्य लौकिक दृष्टिसे बड़ा ही करुणापूर्ण था। इन्द्रद्वारा प्रह्लादके इस प्रकार छले जानेकी तुलना हम राजा बलिके वामनभगवान्‌द्वारा छले जानेसे नहीं कर सकते। इसमें सन्देह नहीं कि इन्द्र और भगवान् वामन एक ही माता और पितासे उत्पन्न हुए थे और कार्य भी उनके इस सम्बन्धमें एकहीसे हुए हैं। भगवान् वामनने राजा बलिसे छलद्वारा, उनके सारे ऐश्वर्यको छीन, देवराज इन्द्रको समर्पित किया था और इस प्रकार क्षणभरमें राजा बलिको राजासे रङ्क बना दिया था। किन्तु उसके बदलेमें भगवान् वामनने जो कुछ राजा बलिको दिया था, वह उनके सारे ऐश्वर्यके मूल्यसे कहीं अधिक मूल्यवान् था। भगवान् वामनने छलके बदले अपने भक्त राजा बलिको पातालमें भेजकर नित्य ही प्रातःकाल अपने वामनरूपका दर्शन देनेका जो निश्चय किया था, उसने राजा बलिके राज्यच्युत होनेके दुःखको एकदम मिटा दिया था, किन्तु परम भागवत प्रह्लादको इन्द्रने जिस प्रकार राजासे रङ्क बना दिया और उस छलके बदलेमें तपोभूमिमें राज्यच्युत प्रह्लादको देखने और उनके ऐश्वर्योंका—अपहृत ऐश्वर्योंका स्मरण दिलाकर उनके चित्तको दुखानेका जो प्रयत्न किया था, वह नितान्त निन्दनीय

नहीं, तो कम-से-कम देवराजके लिये, भगवान् वामनके जेठे भाईके लिये कभी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।

यह सब हुआ परन्तु दैत्यर्षि प्रह्लादने विप्ररूपधारी इन्द्रके द्वारा अपने ऐश्वर्यके अपहरणको भगवान्‌की परम कृपा मानकर निःस्पृह भावसे त्यागको स्वीकार कर लिया। उनको भगवान्‌के ये वचन स्मरण हो आये कि '**यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः**' अर्थात् 'जिसपर हम प्रसन्न होते हैं, उसका धन-ऐश्वर्य धीरे-धीरे अपहरण कर लेते हैं।' दैत्यर्षि प्रह्लाद तपस्वी प्रह्लादके रूपमें दुःखी नहीं प्रत्युत परम प्रसन्न हैं, अपने आराध्यदेव भगवान् लक्ष्मीनारायणके अनुचिन्तनमें सदा संलग्न रहते हैं। तपस्वी प्रह्लादजीकी अवस्था देखनेके लिये एक दिन उनके समीप देवराज इन्द्र, कपटी विप्ररूपसे नहीं, अपने असली रूपसे फिर जा पहुँचे।

तपोभूमिमें तपस्वी प्रह्लाद फलकी अभिलाषासे शून्य पापहीन, निरालसी, निरहंकारी, सत्त्वगुणावलम्बी, शम, दम आदि गुणोंमें अनुरक्त और स्तुति-निन्दामें समबुद्धि रखते हुए जितेन्द्रिय होकर रहते थे। रात-दिन शास्त्रानुशीलन करते हुए वे एकान्तमें बैठ समस्त स्थावर-जङ्गमरूपी संसारकी उत्पत्ति और प्रलयके कारणस्वरूप परमात्माका ध्यान करते थे। कभी अप्रिय विषयसे क्रुद्ध और प्रिय-विषय-लाभमें हर्षित नहीं होते थे। सुवर्ण और मिट्टीके ढेलेमें जिनका समान भाव था और जो '**समत्वमाराधनमच्युतस्य**' इस मन्त्रके उपासक थे। '**अणोरणीयान्महतो महीयान्**' का जिन्होंने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। एकान्तमें बैठे हुए ऐसे तपस्वी प्रह्लादके समीप जाकर उनकी बुद्धिकी परीक्षा करनेकी इच्छासे देवराज इन्द्रने कहा कि 'हे प्रह्लाद! इस लोकमें जिन गुणोंके रहनेसे लोगोंके बीच पुरुष सबसे अधिक प्रतिष्ठित होता है, वे सब स्थिर गुण आपमें विद्यमान हैं और आपकी बुद्धि बालकके सदृश राग-द्वेषसे रहित दिखलायी पड़ती है। बतलाइये! आप आत्माका मनन करते हुए आत्म-ज्ञानका श्रेष्ठ साधन क्या समझते हैं? हे प्रह्लाद! आप स्थानच्युत, ऐश्वर्यहीन होनेपर भी शोचनीय विषयका शोक नहीं करते। इसका क्या कारण है? हे दैत्यवंशप्रसूत प्रह्लाद! आप बुद्धिलाभ अथवा सन्तोषहीसे अपनी विपत्तिको देखकर भी कैसे स्वस्थचित्त हो रहे हैं।' देवराज इन्द्रके इस प्रकारके वचनोंको सुनकर धैर्यशाली तपस्वी प्रह्लादने जो उत्तर दिया वह सर्वथा उन्हींके अनुरूप था।

तपस्वी प्रह्लाद— 'हे देवराज इन्द्र! जो लोग जीवोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिकी गतिको नहीं जानते, अर्थात् पुरुषोंके भोग और अपवर्ग-साधनके निमित्त अनुलोम-प्रतिलोम परिणामवाली मूल प्रकृतिमें जिन्हें आत्म-भिन्न ज्ञान नहीं है, आत्मामें बुद्धिधर्म कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि आरोपित करनेवाले उन पुरुषोंकी बुद्धि मूढ़ताके कारण स्तम्भित होती है, परन्तु जिसे जीव और ब्रह्ममें यथार्थरूपसे एकत्वका ज्ञान है, उसकी बुद्धि स्तम्भित नहीं हो सकती। भाव और अभावरूप सभी पदार्थ स्वभावहीसे प्रवृत्त और निवृत्त होते रहते हैं अर्थात् जैसे बछड़ा उत्पन्न होनेके पहले ही गौओंके रुधिर-पूरित स्तनोंमें दूध उत्पन्न हो जाता है, उस समय उसके प्रवर्तक वात्सल्यभावके न रहनेपर भी जैसे स्वाभाविक ही दूधकी उत्पत्ति होती है; ठीक वैसे ही सभी पदार्थ स्वभावहीसे उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्पत्तिमें किसी प्रवर्तककी अपेक्षा नहीं होती, इसलिये (अकर्ता होनेसे) आत्माके लिये भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थका भी कोई प्रयोजन नहीं है। यदि कहें कि अयस्कान्तमणिके समान अकर्ता होकर भी पुरुष सन्निधिमात्रसे ही प्रकृतिका प्रवर्तक है, तो वास्तवमें जब भोग मोक्षरूप पुरुषार्थका ही अभाव है तब उसका प्रवृत्तकत्व भी सिद्ध नहीं होता। उसके स्वयं अकर्ता होते हुए भी अविद्याके कारण अहंकारकी स्फूर्ति होती रहती है। जो अपने आत्माको शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका कर्ता मानता है, मेरे विचारसे उसकी बुद्धि दोषमयी है, वह वास्तविक आत्म-स्वरूपको नहीं जानता।

हे देवताओंके अधीश्वर इन्द्र! यदि पुरुष ही कर्ता हो तो, उसके आत्मकल्याणके निमित्त किये हुए सभी कार्य अवश्य ही सिद्ध होने चाहिये और उसको कभी पराभूत (विफल-मनोरथ) न होना चाहिये। किन्तु जब कि हम देखते हैं कि अपने हितके यत्नमें लगे हुए मनुष्योंके मनोरथ सिद्ध नहीं होते और उन्हें अनिच्छित विपरीत फल मिल जाता है, तब उन्हींका पुरुषार्थ कैसे स्वीकार किया जा सकता है? और जब हम यह भी देखते हैं कि (अदृष्टकी प्रतिकूलतासे) किन्हीं-किन्हींका कोई प्रयत्न न करनेपर भी स्वभावसे ही अनिष्ट हो जाता है और इष्ट होते-होते रुक जाता है और किन्हीं-किन्हीं लोगोंको परम सुन्दर और अत्यन्त बुद्धिमान् होनेपर भी अत्यन्त कुरूप और अल्पबुद्धिके लोगोंसे धनादि लाभकी इच्छा रहती है।

हे देवराज इन्द्र! इस प्रकार जब कि सब शुभाशुभ गुण स्वभावसे ही प्रेरित होकर पुरुषोंमें निविष्ट होते हैं, तब मैं सुखी हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ इत्यादि अभिमान करनेका कुछ भी कारण नहीं है। सुख, दुःख आदि सभी विषय स्वाभाविक हुआ करते हैं, अतएव सुखसे प्रसन्न और दुःखसे अप्रसन्न होनेका कोई कारण नहीं है। हे सुरेश्वर! मेरे विचारसे तो मुक्ति और आत्मज्ञान भी स्वभावसे स्वतन्त्र नहीं हैं। इस लोकमें शुभाशुभ फलका भोग भी कर्मजनित ही है, इसे सब लोग स्वीकार करते हैं, अतएव अब मैं सभी कर्मोंका शेष विवरण कहता हूँ, सुनो। जैसे अन्नको खाता हुआ कौवा शब्द करके उसको प्रकट करता है, वैसे ही सभी कर्म स्वभावके असाधारण धर्म हैं अर्थात् सारे कर्म स्वभावको ही प्रकाशित करते हैं। जैसे सूत्र वस्त्रके कारण होनेसे सूत्रनिष्ठ शुक्लादि वर्ण-गुण वस्त्रकी विचित्रतामें कारण होते हैं, वैसे ही स्वभाव ही मनुष्यादि प्राणियोंके जन्मादिका कारण है। जो पुरुष धर्माधर्म आदि समस्त विकारोंको जानते हैं और त्रिगुणमयी प्रकृतिसे परे उपादान प्रकृति अर्थात् ब्रह्मको नहीं जानते उन कर्म-प्रधान और भेददर्शी पुरुषोंमें ही मूढ़तासे जडता हुआ करती है, पर जो अधिष्ठानरूप परा-प्रकृतिका ही अवलोकन करते हैं, उनमें जडता नहीं होती। जिन्होंने सभी पदार्थोंको निश्चयरूपसे ही स्वभावसे उत्पन्न हुए जाना है, दर्प और अभिमान उनका कुछ भी नहीं कर सकता। हे देवराज! मैं सर्व-धर्म-विधि और सर्व भूतोंके अनित्यत्वको विशेषरूपसे जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, इसी कारण अपने अपहृत ऐश्वर्य और प्रभुत्वके लिये शोक नहीं करता। मैं ममताहीन, निरहंकारी, आशा और वासनारहित मायाके बन्धनसे मुक्त और देह आदिमें अभिमानसे रहित होनेके कारण स्वरूप-स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता, इसीसे जीवोंकी उत्पत्ति और विनाशके परम कारण परब्रह्म परमात्माको देखता हूँ। हे शक्र! जो मनुष्य शुद्ध-बुद्धि, जितेन्द्रिय, परितृप्त और वासनारहित होकर सब विषयोंको अव्यय आत्मस्वरूप देखते हैं उन्हें संसारमें कहीं कुछ भी कष्ट नहीं है। जगज्जननी प्रकृति और धर्माधर्मके फलस्वरूप उसके विकार सुख-दुःखादिमें मुझे न प्रीति है, न द्वेष। इस समय मैं किसीको भी न तो अपना शत्रु ही देखता हूँ और न किसीको पुत्र, मित्र, कलत्र आदिकी भाँति ममता करनेयोग्य ही देखता हूँ। हे इन्द्र! मैं न कभी स्वर्गकी कामना करता हूँ, न पातालकी और न मर्त्यलोककी। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि ज्ञानके विषय-स्वरूप 'विज्ञान' में अर्थात् 'बुद्धि-

तत्त्व'में और आत्मस्वरूप 'चिदात्मा'में कुछ सुख नहीं है; आत्मा धर्माधर्म और उसके फलस्वरूप सुख-दुःखका आश्रय नहीं है और इसीलिये मैं कुछ कामना नहीं करता, प्रत्युत सब कुछ मानता हुआ भी मैं केवल ज्ञानसे तृप्ति-लाभ कर कामनारहित हो यहाँ आनन्दपूर्वक निवास करता हूँ।'

इतनी फटकार सुननेके बाद देवराज इन्द्रको हमारे चरित्रनायक परम भागवत तपस्वी प्रह्लादके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान हुआ और उन्होंने लज्जित होकर बड़े ही विनीत भावसे पूछा कि—

येनैषा लभ्यते प्रज्ञा येन शान्तिरवाप्यते।
प्रब्रूहि तमुपायं मे सम्यक् प्रह्लाद पृच्छतः॥

अर्थात् 'हे प्रह्लाद! आपके सदृश ज्ञान-बुद्धि और शान्ति जिस उपायसे प्राप्त हो सकती है कृपया वह उपाय मुझसे भलीभाँति कहिये।' प्रह्लादजीने देवराज इन्द्रके वचनोंको सुनकर कहा कि 'हे सुरराज! सरलता, सावधानता, इन्द्रियदमन, बुद्धिकी प्रसन्नता, निर्मलता और वृद्धोंकी सेवासे पुरुष परमपदरूप मोक्षको प्राप्त होते हैं। मनुष्य स्वभावहीसे ज्ञान लाभ करता है और स्वभावहीसे उसे शान्ति प्राप्त होती है। आप जो कुछ मुझमें और अपनेमें देखते हैं वे सब गुण अथवा दोष स्वाभाविक ही हैं।'

तपस्वी प्रह्लादके तत्त्वमय वचनोंको सुनकर तथा अपनेमें कुटिलता, इन्द्रियलोलुपता आदि दुर्गुणोंको स्मरणकर देवराज इन्द्र बड़े ही लज्जित हुए। उन्होंने अपने किये हुए—प्रह्लादके प्रति अपने किये हुए कपट-व्यवहारोंके लिये उनसे क्षमा-याचना की और कहा कि 'हे तपस्वी प्रह्लाद! मैंने छलसे जिस शीलको आपसे अपहरण किया था, उसको आप ग्रहण करें, मैं प्रसन्नतापूर्वक उसे आपकी सेवामें इस ज्ञान-शिक्षाकी गुरुदक्षिणामें समर्पित करता हूँ और आपसे विनीत भावसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरा आमन्त्रण स्वीकार कर स्वर्गवासियोंको कृतार्थ करनेके लिये आप एक बार स्वर्ग पधारनेकी कृपा करें।'

देवराज इन्द्र प्रसन्नतापूर्वक तपस्वी प्रह्लादको शीलसम्पन्न कर उनसे विदा हो, अपनी अमरावतीपुरीको लौट गये और तपस्वी प्रह्लादने राजधानी हिरण्यपुरकी ओर प्रस्थान किया।

बत्तीसवाँ अध्याय

दैत्यर्षि प्रह्लादका अन्तिम जीवन

विरोचनको राज्य-समर्पण, पौत्रको तत्त्वोपदेश तथा उसको बन्धनसे छुड़ाना, चरित्रका माहात्म्य

दैत्यर्षि प्रह्लादकी रुचि प्राय: राज-काजमें नहीं रह गयी थी, वे उदासीन-भावसे इसी प्रतीक्षामें राज-काज करते थे कि अपने किस उत्तराधिकारीको राजभार सौंपें जो प्रजारञ्जनमें निपुण हो। प्रह्लादके हृदयमें यह भी एक खटकनेकी बात थी कि वे अपने चचा हिरण्याक्षके पुत्रोंको भी राज्यका अधिकारी समझते थे और अपने पुत्र गवेष्ठि तथा विरोचनको भी शासनसूत्रके चलानेके योग्य समझते थे; किन्तु वे इस चिन्तामें रहते थे कि उनके बारम्बार उपदेश देने एवं समुचित शिक्षा पानेपर भी भाइयों, लड़कों तथा भतीजोंमेंसे कोई ऐसा न था जो दैत्यर्षि प्रह्लादके स्वभावानुसार द्विज-देवताओंका भक्त एवं भगवान् विष्णुका उपासक हो। जितने भाई-भतीजे थे, जितने पुत्र थे, सब-के-सब अपनी जातिके स्वभावानुरूप थे और उन सबके आन्तरिक भाव पूरे-पूरे आसुरी थे तथा वे अपने भावानुसार भगवान् शङ्करके उपासक थे।

विप्र-वेष-धारी इन्द्रके द्वारा शीलापहरणसे-राज्यच्युत होनेके समयसे—दैत्यर्षि प्रह्लादकी त्यागवृत्ति और भी बढ़ गयी थी और वह त्यागवृत्ति शीलके और समस्त साम्राज्यके पुन: प्राप्त होनेसे भी कम नहीं हुई। अतएव तपोवनसे लौटकर दैत्यर्षि प्रह्लादने फिरसे राजभार अपने ऊपर रखते हुए भी उसपर ममत्व नहीं रखा। फिर भी भगवद्भजनमें बाधक जानकर वे राज्यभारसे सर्वथा दूर ही रहना चाहते थे, अतएव उन्होंने अपने चचेरे भाई अन्धककी अनुमतिसे सारे साम्राज्यको अपने भाइयों तथा पुत्रोंमें विभाजित कर दिया तथा उन सबपर एकाधिपत्य रखा राजकुमार विरोचनका। अर्थात् साम्राज्यका उत्तराधिकार विरोचनको सौंपा और

इस प्रकार राज-पाट सबको सौंपकर परम भागवत दैत्यर्षि प्रह्लादने तपोभूमिमें जाकर भक्तियोग करनेका निश्चय किया। उनके इस निश्चयसे उनकी छायास्वरूपा पतिव्रत पत्नी सुवर्णा बहुत घबड़ायी और उसने भी उनके साथ तपोभूमिमें जानेकी इच्छा प्रकट की, किन्तु त्यागी प्रह्लादने ऐसा करना उचित नहीं समझा। उन्होंने समझा-बुझाकर सुवर्णाको पुत्रोंकी देख-भाल करनेके लिये हिरण्यपुरमें ही रहनेके लिये राजी कर लिया।

दैत्यर्षि प्रह्लाद अकेले ही तपोभूमि नैमिषारण्यको चले गये और वहीं वे अपना अन्तिम जीवन भगवत्स्मरणमें बिताने लगे। जो महापुरुष बालकालमें योगी था—त्यागकी मूर्ति था और संसारके इतिहासमें बाल-जीवनका अद्वितीय आदर्श था, युवाकालमें साम्राज्यके पदपर रहकर भी जो शान्त और दान्त था, एक स्त्रीव्रती और एकनारीब्रह्मचारी था तथा आतङ्क एवं अत्याचारसे नहीं; अपने शील-सौन्दर्यसे तीनों लोकका प्रभु था, जिसने कारागारमें नहीं, प्रेमागारमें सभी दिक्पालों और देवराज इन्द्रको भी अपने वशीभूत कर रखा था और जो तीनों लोकका स्वामी और सर्वाधिपत्यका पात्र था, वही प्रह्लाद इन सब बातोंके होनेपर भी पद्मपत्रवत् राजलक्ष्मीसे निर्लेप, भगवद्भक्तिमें मग्न था और राजाधिराज कहलाने तथा तपस्वीके वेषमें तपोभूमिके निवास करनेको समान समझता था। वही महापुरुष यदि भगवान्‌के उपदेशानुसार वृद्धावस्थामें त्यागी बन तपोभूमिमें जा बसे तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। जो मनुष्य गर्भाधानके समयसे ही '**ॐ नमो नारायणाय**' इस परम पावन मूलमन्त्रसे महर्षि नारदद्वारा अभिमन्त्रित और उन्हींकी भगवद्भक्तिकी शिक्षासे दीक्षित था, जिसकी कठिन परीक्षा बालकालहीमें शस्त्रोंके आघात, पर्वतोंसे गिराये जाने, समुद्रमें डुबाये जाने, अग्निमें जलाये जाने, विषके पिलाये जाने और साँपोंके द्वारा कटवाये जानेसे ली जा चुकी थी और एक बार नहीं, बारम्बार—समुद्रतटपर, राजसभामें नारायणके युद्धमें और न जाने कितनी बार भगवान्‌के साक्षात् दर्शन और वरदान मिल चुके थे, उस परम पावन प्रह्लादका वृद्धावस्थामें योगिराज बन, तपोभूमिमें निवास करना स्वाभाविक ही था। अचरजकी बात थी तो केवल यही कि परम दयालु करुणा-वरुणालयने अपने ऐसे परम भागवतको

इतने अधिक दिनोंतक इस मर्त्यलोकमें किसी-न-किसी रूप और किसी-न-किसी अवस्थामें अपने अक्षुण्ण कैङ्कर्यसे दूर रखा।

दैत्यर्षि प्रह्लाद भक्तियोगमें लीन तपोभूमिमें रहते थे और न जाने कितने त्यागी महात्मा और विद्वान् ब्राह्मण उनके समीप जाते एवं भगवद्भक्तिकी अनन्यताके आनन्दका अनुभव करते थे। उधर त्यागमूर्ति प्रह्लाद, तपोभूमिमें भक्तियोगकी आराधना कर रहे थे और इधर दैत्यराज विरोचनके शासनका समय बीत गया एवं उसके सुपुत्र परम प्रतापी राजा बलिका शासनकाल आ गया। राजा बलिने अपनी धार्मिकता और प्रतापसे अपने साम्राज्यको इतना प्रभावशाली बनाया कि चारों ओर उनकी प्रशंसा-ही-प्रशंसा सुनायी पड़ने लगी। इसी बीचमें देवराज इन्द्रके भी बुरे दिन आये और उनको महर्षि दुर्वासाका शाप हो गया। शापके प्रभाव और अपने प्रबल पराक्रमसे राजा बलिने इन्द्रासनपर भी अपना अधिकार जमा लिया और यहाँका शासन मन्त्रियोंको सौंप, अपना निवास, स्वर्गकी अमरावतीपुरीमें रखा। स्वर्गके सिंहासनपर राजा बलि राज करने लगे और देवराज इन्द्र तथा उनके अधिकारी अन्यान्य देवगण मारे-मारे फिरने लगे। शापका समय अभी समाप्त नहीं हुआ था, अतएव दैवीशक्तिकी रक्षा करनेवाले दयालु भगवान् विष्णु भी चुपचाप यह तमाशा देखते थे।

स्वर्गके सिंहासनपर विराजमान परम प्रतापी राजाधिराज राजा बलि अपने पुराने मन्त्रियोंसे विशेषकर महर्षि शुक्राचार्यसे अपने पितामह दैत्यर्षि प्रह्लादकी अनुपम ज्ञान-गरिमाकी प्रशंसा सुना करते थे और उनकी अलौकिक भगवद्भक्ति तथा उनके त्यागकी महिमा सुन-सुनकर वे उनके चरणोंके दर्शनोंके लिये उत्कण्ठित हो उठते थे। एक दिन राजा बलिने महर्षि शुक्राचार्यजीसे प्रार्थना की कि यदि आप हमारे पितामहजीके दर्शन हमें एक बार करा दें तो बड़ी कृपा हो। दयालु शुक्राचार्यजीने राजा बलिकी प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया और प्रसङ्गवश तपोभूमिमें जाकर उन्होंने प्रह्लादजीसे उनके पौत्रकी सारी कथा और उनकी प्रार्थना कह सुनायी। प्रह्लादजी संसारसे नाता तोड़ चुके थे, उनकी दृष्टिमें या तो उनका कोई पुत्र-पौत्र था ही नहीं या सभी पुत्र-पौत्र उन्हींके थे, किन्तु आचार्यचरणोंका वे बड़ा आदर करते थे और वे अपने शरीरके रहते

उनकी आज्ञा टालना उचित नहीं समझते थे। अतएव त्यागी और विरागी होनेपर भी प्रह्लादजीने उनकी आज्ञा मान ली। शुक्राचार्यजीके आज्ञानुसार वे एक दिन स्वर्गकी अमरावतीमें जा पहुँचे।

पूज्यचरण तपस्वी-वेष-धारी पितामह प्रह्लादको देखकर राजा बलिने सिंहासनसे उठकर उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और आग्रहपूर्वक उनको अपने सिंहासनपर बैठाया। राजा बलिने हाथ जोड़कर कहा कि 'हे पूज्यचरण पितामहजी! आज मेरे सौभाग्यकी सीमा नहीं, आज मैं आपके चरणोंके दर्शनसे कृतकृत्य हो गया हूँ। आर्यचरण! आपहीकी कृपा और प्रतापसे आज मैं तीनों लोकको जीत सका हूँ और '**पौत्रोऽनन्ताय कल्पते**' को चरितार्थ कर रहा हूँ। इन्द्रने छल-बलसे आपसे शील-भिक्षा माँग आपको राज्यच्युत किया था, यह बात मेरे हृदयमें शूल-सी साल रही थी किन्तु मैंने तीनों लोकके आधिपत्यको राजधर्मके अनुसार अपने बाहुबल तथा आपके आशीर्वादसे प्राप्त किया है। अब मेरा हृदय शान्त है। फिर भी मेरी यही हार्दिक इच्छा है कि आप इसी सिंहासनपर बैठकर शासन करें और मैं आपके चरणोंकी सेवाकर अपने जीवनको सफल बनाऊँ। देवराज इन्द्र भी आपको फिर इसी सिंहासनपर आसीन देखें। यही मेरी आन्तरिक कामना है।'

राजा बलिकी प्रेमभरी बातें सुनकर योगिराज प्रह्लादने हँसकर कहा कि 'वत्स वैरोचन! तुमने जो कुछ कहा वह शिष्टाचारकी दृष्टिसे भले ही ठीक हो, किन्तु मेरे लिये ठीक नहीं। मैंने बहुत दिनोंतक राज्य किया है। मेरी वासना अब राज्य करनेकी नहीं है। मुझे देवराज इन्द्रके कपट-व्यवहारका कुछ भी ध्यान नहीं है और उन्होंने स्वयं अपने किये हुए व्यवहारके लिये क्षमा माँग ली है। मेरे सात्त्विक जीवनका लक्ष्य कभी ऐसा नहीं था कि किसीको शत्रु मानकर उससे बदला लेनेकी इच्छा करूँ। फिर अब तो मेरी दृष्टिमें तुम और सुरराज दोनों ही समान हो। दोनोंहीपर मेरा समान प्रेम और मानव ममत्व है अतएव तुम राज्य करो, किन्तु चतुर्वर्गके पालनके साथ राज्य करो और राजमदसे सदा विरक्त रहो। भगवान् तुम्हारा मङ्गल करेंगे।'

इसी बीचमें महर्षि शुक्राचार्य भी जा पहुँचे और उनके अनुरोधसे योगिराज प्रह्लादने अपने पौत्र राजा बलिको राजधर्मका समुचित उपदेश दिया। प्रह्लादजीने जो कुछ कहा उसका सारांश यही था कि 'धर्मानुकूल धनोपार्जन करना ही

राजाका कर्तव्य है। राजा, राजपरिवार, राजवंशज, विपत्तिग्रस्त, मित्र, बूढ़े, गुणी और ब्राह्मणोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर प्रतिदिन उनका आदर-सत्कार और भरण-पोषण करे तथा यथोचित रक्षण करे। लोक और परलोक दोनोंमें यही कार्य सबसे अधिक कल्याणकारक है। राजाको चाहिये कि धर्मानुसार चारों वर्ण और चारों आश्रमका यथोचित पालन करे, वर्णविप्लव एवं आश्रमविप्लव न होने दे। राजाका सबसे परमधर्म है प्रजारञ्जन, अतएव प्रजामें सन्तोष बना रहे, राजभक्ति बनी रहे तथा राजा-प्रजाका साधु सम्बन्ध बना रहे, इसके लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये।' इस उपदेशामृतको पानकर राजा बलि परमानन्दित हो गये। राजा बलिसे विदा हो योगिराज प्रह्लाद पुनः अपनी तपोभूमिको गये और वहीं भगवच्चरणारविन्दके अनुचिन्तनमें समाधि लगाकर बैठ गये। उनके चले जानेपर स्वर्गमें चारों ओर उनकी प्रशंसा होने लगी।

धीरे-धीरे वह समय भी आ गया जब कि देवराज इन्द्रके शापका समय व्यतीत हो गया। देवराजका प्रताप बढ़ने लगा और दैत्योंका बल घटने लगा। राजा बलिको अपशकुन होने लगे। यह सब दशा देखकर राजा बलि बड़े चिन्तित हुए। इसी चिन्तासे ग्रस्त राजा बलि एक दिन अपने पितामहकी सेवामें तपोभूमिमें जा पहुँचे। प्रह्लादजी समाधि लगाये हुए बैठे थे। राजा बलिने जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और प्रह्लादजीके कुशल-प्रश्न पूछनेपर हाथ जोड़कर घबड़ाये हुए चित्तसे कहा—'पूज्य आर्यचरण! मुझे आजकल बहुत बुरे-बुरे स्वप्न हो रहे हैं और देशमें चारों ओर भाँति-भाँतिके दिव्य आन्तरिक्ष तथा भौतिक अपशकुन और उत्पात हो रहे हैं। इतना ही नहीं, हर तरहसे देवताओंका प्रभुत्व बढ़ रहा है। दैत्योंका बल-पराक्रम धीरे-धीरे घट रहा है। इन सबका कारण मेरी समझमें नहीं आता। अतएव मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है। मैं आपकी सेवामें आया हूँ। अवश्य ही आप अपने योगबलसे इनके कारणोंको जानते होंगे और मुझे बतलानेकी कृपा करेंगे।'

योगिराज प्रह्लादने अपने योगबलसे वर्तमान और भविष्यका सारा हाल जानकर राजा बलिसे कहा—'हे वैरोचन बलि! इस समय देवताओंकी उन्नति और दैत्योंकी अवनतिके कारण तुम ही हो। तुमने तीनों लोकको जीत, समस्त देवताओंको अपने-अपने पदोंसे च्युत कर स्वयं उनके अधिकारोंको ग्रहण कर लिया है। इसी कारण देवतालोग दुःखी होकर भगवान्‌की शरणमें गये थे।

अशरणशरण भगवान्‌ने उनकी विपदा सुन, उनकी रक्षाके लिये अदितिके गर्भसे अवतार लेना निश्चय किया है। वे 'वामन' रूपमें अवतार ले देवताओंके अधिकारोंकी रक्षा करेंगे, जिससे दैत्योंको अपनी करनीका फल मिलेगा। इसी भावीके प्रकाशनार्थ ही तुम्हें बुरे स्वप्न और तुम्हारे साम्राज्यमें अपशकुन एवं उत्पात होने लगे हैं। अभी समय है तुम सावधान हो, दैत्योंकी रक्षाका उपाय कर सकते हो।'

दैत्यराज बलि योगिराज प्रह्लादकी हितपूर्ण सत्य बातोंको सुन बहुत ही बड़बड़ाया। भावीवश उसकी बुद्धि नष्ट हो रही थी। उसने क्रोधके आवेशमें कहा—'हे आर्यचरण! आप कैसी बातें कर रहे हैं? यदि देवताओंकी रक्षा करनेमें विष्णु समर्थ होते, तो अबतक वे क्यों चुप रहते? न जाने कितनी बार हमारे असुर वीरोंने देवताओंको सताया है और उनसे अपने जातिगत वैरका बदला लिया है। परन्तु न कहीं विष्णु आये और न ब्रह्मा। अब इस समय विष्णु आवेंगे तो आवें। उनको भी अपने देव-पक्षपातका फल मिल जायगा। मैं इसके लिये जरा भी चिन्तित नहीं।' राजा बलिकी बातें योगिराज प्रह्लादके हृदयमें वज्रके समान लगीं, उनके सात्त्विक हृदयमें भी (नाटकवत्) क्रोध आ गया और फिर भी उन्होंने शान्तभावसे कहा—'रे मूढ़ वैरोचन! तू उस करुणावरुणालयकी निन्दा कर अपनी जिह्वाको कलुषित क्यों कर रहा है? मैं जानता हूँ कि भावी प्रबल है। वह टलनेवाली नहीं। अतएव तेरी बुद्धि नष्ट हो गयी है। अस्तु, जैसा करेगा वैसा तुझको फल मिलेगा; किन्तु मेरे सामने भगवान्‌की निन्दाकर मेरे हृदयको कष्ट न दे, जा तू शीघ्र चला जा, यहाँ तेरा कुछ काम नहीं।' योगिराजके शापतुल्य वचनोंको सुनकर बलिको बड़ा सन्ताप हुआ, किन्तु उसके लाख गिड़गिड़ानेपर भी योगिराज प्रह्लादने उसकी ओर आँख उठाकर नहीं देखा और मानो उन्होंने महात्मा तुलसीदासजीके वचनोंको अपने आचरणोंसे दिखलाया कि—

'जिनके प्रिय न राम बैदेही।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।'

बारम्बारकी प्रार्थनापर भी जब योगिराज प्रह्लादने उनकी ओर आँख उठाकर नहीं

देखा, तब राजा बलि असफल-मनोरथ हो अपनी राजधानीको वापस गये। उनके वापस जानेपर प्रह्लादजी अपने पापोंके प्रायश्चित्त-स्वरूप हरि-कीर्तन करने लगे। प्रह्लादजीने विचार किया कि—

'न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।'

अर्थात् 'जो बड़ोंकी निन्दा करता है केवल वही नहीं प्रत्युत जो उससे निन्दा सुनता है वह भी पापका भागी होता है।' प्रह्लादजीके हृदयमें बड़ी ग्लानि हुई और राजा बलिके प्रति जो उनके पहले सुन्दर भाव थे वे जाते रहे। जिस महापुरुषने बालपनमें अपने प्रतापी पिताके मुखसे भी भगवन्निन्दा सुनना और चुप रहना उचित नहीं समझा था, वह अपने पौत्रके मुखसे, सो भी अपने अन्तिम समय, त्यागकी दशामें भगवान्‌की निन्दा सुनना कब स्वीकार करता?

अन्तमें वही हुआ जिसकी आशंका राजा बलिके हृदयमें थी और जो योगिराज प्रह्लादने कहा था देवताओंकी रक्षाके लिये नहीं, दैवी सम्पदाकी रक्षाके लिये और राजा बलिके राज्यापहरणके लिये नहीं, प्रत्युत आसुरीभाव और शक्तिको मिटाकर सृष्टिकी प्राकृतिकताको कायम रखनेके लिये भगवान्‌ने अदितिके गर्भसे 'वामन' अवतार ले राजा बलिके सारे ऐश्वर्य और प्रभुत्वको क्षणभरमें दानके रूपमें ले लिया और राजा बलि न केवल राजासे रङ्क बन गये, किन्तु राजाधिराजसे भगवान् वामनके बन्दी बन गये। जब राजा बलिको भगवान् वामनने बन्दी किया तब उनको फिर अपने पितामह राजा प्रह्लाद, नहीं भक्ताग्रगण्य योगिराज प्रह्लादका स्मरण आया और उन्होंने '**त्राहि माम्**' कहकर उनको पुकारा। योगिराज प्रह्लाद तो दिव्य दृष्टिवाले थे, उन्होंने देखा कि अब राजा बलिको अपने पापोंका फल मिल गया और उसका हृदय अनुतापरूपी प्रायश्चित्तद्वारा शुद्ध हो गया है। उसके अभिमानका मद लोप हो गया है। तब वे फिर पौत्रकी रक्षाके लिये, नहीं, एक आर्तकी रक्षाके लिये और भगवान् वामनकी अपूर्व मूर्तिके दर्शनके लिये वहीं जा पहुँचे जहाँ भगवान् वामनने अपने दाता राजा बलिको बन्दी बना रखा था।

योगिराज परम भागवत प्रह्लादके अनुरोधसे राजा बलि बन्धनसे मुक्त किये गये। यह कोई अचरजकी बात नहीं। जिन प्रह्लादने अपने बालपनमें ही अपने पिता-जैसे निर्दय दैत्यराजके हाथोंसे न जाने कितने बन्दियोंको छुड़ाया था,

वही प्रह्लाद दयानिधान भगवान्‌से यदि उनके दाताको बन्धनसे छुड़ाते हैं तो एक साधारण बात है। हाँ, राजा बलिको पातालका राज्य और भावी मन्वन्तरमें इन्द्र-पद दिलानेका श्रेय एक अचरजकी बात कही जा सकती है और वह इसलिये कि जिस पदके दुरुपयोग करनेके कारण भगवान्‌को वामन-रूप धारण कर भिखारी बनना पड़ा और एक दानी राजाका राज्य छीनना पड़ा था, उसीको फिर वही पद देनेका वादा और वह भी थोड़े कालके लिये नहीं एकहत्तर चतुर्युगीके एक पूरे मन्वन्तरके लिये, आश्चर्य कारक है, महा आश्चर्य कारक है। इतना ही नहीं, प्रह्लादजीकी कृपासे राजा बलिको जो एक तीसरी अलभ्य वस्तु मिली वह सृष्टिके आरम्भसे आजतकके इतिहासमें एक अपूर्व बात थी और वह यह कि पातालमें नित्य—प्रात:काल भगवान् अपने उसी वामनरूपसे राजा बलिको उनके द्वारहीपर जाकर दर्शन दिया करेंगे। यह तीसरी बात सबसे बड़ी और सबसे अधिक अचरज की है, किन्तु जिन भगवान्‌की लीला ही आश्चर्यमयी है और जिनकी निर्हैतुकी कृपा प्रसिद्ध है और जिनकी भक्तवत्सलता एवं भक्तिमहिमासे न जाने कितने पौराणिक उपाख्यान भरे पड़े हैं उनके लिये कोई अचरजकी बात नहीं। कविकी यह वाणी सत्य ही है कि—

जय जय जय जय जय रघुनन्दन जिनकी अद्भुत माया।
देखत बने भनै को अस कवि शेष पार नहिं पाया॥

राजा बलिका अभिमान जब शान्त हुआ तब उनको भगवान्‌के दर्शन हुए और रुष्ट हुए उनके पितामह फिर सन्तुष्ट हुए। संसारमें प्रह्लादहीकी कृपासे राजा बलिका यश चारों ओर फैल गया और दैत्यराज राजा बलि जो किसी समय भगवान् विष्णुको देवताओंका पक्षपाती, अपनेसे निर्बल तथा परब्रह्म परमात्मा नहीं, एक व्यक्तिविशेष समझते थे, वे ही राजा बलि भगवान्‌के अनन्य भक्त और प्रात:स्मरणीय हो गये।

योगिराज प्रह्लाद पुन: अपने तपोवनको चले गये और हरिका ध्यान करने लगे, किन्तु उनके हृदयमें यह भाव उत्पन्न हुआ कि जबतक यह शरीर बना रहेगा तबतक दैत्य-कुलका नाता छूट नहीं सकता और दैत्यकुलमें हमारे ही पुत्र, पौत्रों एवं प्रपौत्रोंमें न जाने कैसे-कैसे आसुरी भावके प्राणी उत्पन्न हैं और भविष्यमें होते रहेंगे। वे उत्पातसे विरत न होंगे और उत्पाती प्राणियोंपर विपत्तिका आना स्वाभाविक है।

जब वे विपत्तिमें पड़ेंगे तब हमारा स्मरण अवश्य ही करेंगे और इस प्रकार हमको संसारत्यागी होकर भी बारम्बार दैत्यकुलानुसंगी होना पड़ेगा एवं अपने आराध्य देव भगवान्‌को बारम्बार कष्ट देना पड़ेगा, अतएव अब इस शरीरका सम्बन्ध छोड़ना ही अच्छा है। इसी विचारसे परमभागवत योगिराज प्रह्लादने अपनी जीवनलीला समाप्त की और भक्तियोगके द्वारा वे अपने आराध्य देव भगवान् विष्णुके वर्णनातीत शान्तिमय वैकुण्ठधामको पधारे एवं अपनी परमपावनी कथाको चिरकालके लिये पतितपावनी गङ्गाके समान मानव-समाजके तरण-तारणके लिये छोड़ गये।

प्रह्लादं सकलापत्सु यथा रक्षितवान् हरिः।
तथा रक्षति यस्तस्य शृणोति चरितं सदा॥

(पाद्म)

अर्थात् 'जिस प्रकार समस्त विपत्तियोंके समय करुणानिधान भगवान् हरिने हमारे चरित्रनायक भागवतरत्न प्रह्लादकी रक्षा की है, उसी प्रकार वे उनकी भी सर्वदा विपत्तियोंसे रक्षा करते हैं जो इस चरित्रको सुनते हैं।' शुभम्।

इति भागवतरत्न प्रह्लादचरितं सम्पूर्णम्